उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-112
jhMj

छायावादोत्तर काव्य

संकलन और संपादन
डॉ. राकेश वत्स

सहयोग
संजीव कुमार

मानविकी विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
प्रो. गोपाल राय
प्रो. नामवर सिंह
प्रो. नित्यानंद तिवारी
प्रो. निर्मला जैन
प्रो. प्रेम शंकर
प्रो. मुजीब रिज़वी
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्रो. लल्लन राय
प्रो. शिवकुमार मिश्र
स्व. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह

संकाय सदस्य

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन (कार्यक्रम संयोजक)
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फ़ारूक़ी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

नवम्बर 2001 (मुद्रण)
©इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2001
ISBN-81-266-0340-2
सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. वी.रा. जगन्नाथन, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित ।
आवरण : श्री सांख्या सामंता
मुद्रण सहायता : श्री कुलवन्त सिंह, अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित । उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024
मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0लि0 42/7 जवाहर लाल नेहरु रोड प्रयागराज

1)	'जन कवि' होने का अर्थ	: डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी	(11-23)
2)	अज्ञेय और मुक्तिबोध : 'असाध्य वीणा' - 'अंधेरे में'	: डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी	(24-30)
3)	अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा	: निर्मल वर्मा	(31-41)
4)	शमशेर : मेरी दृष्टि में	: गजानन माधव मुक्तिबोध	(42-51)
5)	शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट	: विजयदेवनारायण साही	(52-70)
6)	मुक्तिबोध की कविता की बनावट	: कुँवर नारायण	(71-80)
7)	'अंधेरे में' : परम अभिव्यक्ति की खोज	: डॉ० नामवर सिंह	(81-90)
8)	सृजनशीलता का संकट : रघुवीर सहाय की कविता	: डॉ. नित्यानंद तिवारी	(91-112)
9)	'मगध' और श्रीकान्त वर्मा	: डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	(113-127)
10)	अदम्य सर्जनात्मक ऊर्जा	: नेमिचन्द्र जैन	(128-140)

11) नागार्जुन (141-160)
कालिदास
बादल को घिरते देखा है
सिंदूर तिलकित भाल
अकाल और उसके बाद
खुरदरे पैर
फाड़ दिया मेरे आस्तिक ने
शासन की बंदूक
चंदू, मैंने सपना देखा
मनुष्य हूँ
12) सच्चिदानंद हीरानंद वात्सयायन अज्ञेय (160-191)
कलगी बाजरे की
यह दीप अकेला
सागर मुद्रा-6
हरी घास पर क्षण भर
असाध्य वीणा
हिरोशिमा
मैंने देखा, एक बूँद
सोन मछली
कितनी नावों में कितनी बार
कतकी पूनो
बावरा अहेरी
13) शमशेर बहादुर सिंह (192-213)
अमन का राग
उषा
आओ
एक पीली शाम
एक नीला दरिया बरस रहा
14) गजानन माधव मुक्तिबोध (214-266)
पता नहीं
अँधेरे में

15) रघुवीर सहाय (267-297)
दे दिया जाता हूँ
दुनिया
आत्महत्या के विरुद्ध
लुभाना
अंधी पिस्तौल
पैदल आदमी
सड़क पर रपट
मुझे कुछ और करना था
रामदास
हँसो हँसो जल्दी हँसो
भय
आज का पाठ है
कविता बन जाती है
अभी जीना है
16) श्रीकांत वर्मा (298-328)
भटका मेघ-2
बूढ़ा पुल
मायादर्पण
समाधि लेख
बुखार में कविता
जलसाघर
मगध के लोग
तीसरा रास्ता
17) धूमिल (329-388)
मुनासिब कार्रवाई
नक्सलबाड़ी
मोचीराम
राजकमल चौधरी
कविता
अकाल-दर्शन
पटकथा
रोटी और संसद

भूमिका

एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-2 'आधुनिक हिन्दी काव्य' में आप अब तक 'आधुनिक काव्य-विविधा' तथा विभिन्न निर्धारित कवियों पर छब्बीस इकाइयों का जो कि छह खण्डों में आपको उपलब्ध कराई गई हैं, अध्ययन कर चुके हैं। पाठ्यक्रम में निर्धारित कवियों पर पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित सामग्री में से कुछ चुनिंदा आलेखों को लेकर यह पुस्तक तैयार की गई है। इस प्रकार अध्ययन के लिए अब आपको काफी सामग्री प्राप्त हो चुकी है। लेकिन स्नातकोत्तर स्तर के अध्ययन के लिए आप जितना ज्यादा पढ़ेंगे अध्ययन, उतना ही बेहतर होगा। इसलिए आपको प्राप्त खंडों के अंत में संबंधित विषय की ऐसी पुस्तकों की सूची दी गई है, जिन्हें यदि सुविधा मिले, तो प्राप्त कर आप पढ़ सकते हैं। 'आधुनिक हिन्दी काव्य' को समझने में यह पुस्तक उपयोगी होगी, ऐसी हमारी उम्मीद है।

इस पुस्तक में सबसे पहला लेख 'भारतीय नवजागरण और भारतेंदु' शीर्षक से प्रसिद्ध आलोचक डॉ० शंभुनाथ का है। पाठ्यक्रम में पहला खंड इस पुस्तक में 'नवजागरण काव्य' पर ही है जिसमें आपने भारतेंदु तथा मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का अध्ययन किया है। लेखक ने इस लेख में भारतेंदु के साहित्य को आधार बनाकर भारतीय नवजागरण के बंगाल में उदय, तदुपरांत सम्पूर्ण भारत में उसके विकास को रेखांकित करने का प्रयास किया है। साथ ही लेखक ने इन सवालों को भी अपने अध्ययन का केंद्र बिंदु बनाया है कि 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की चेतना ने भारतेंदु को, उनके साहित्य को तथा प्रकारान्तर से नवजागरण के आयामों को विकसित करने में क्या भूमिका अदा की। लेखक यह भी मानता है कि भारतीय नवजागरण की विभिन्न क्षेत्रीय विशिष्टताओं की विभिन्न अन्तर्धाराओं की अन्तर्क्रिया से ही एक समग्र राष्ट्रीय धारा का विकास हुआ। इस लेख से भारतेंदु के संदर्भ में भारतीय नवजागरण की विशेषताओं को समझने में आपको मदद मिलेगी। दूसरा लेख राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के साहित्यिक योगदान की उपयोगिता तथा प्रासंगिकता को लेकर है – 'उचित उपदेश का मर्म' लेखक हैं – रचनाकार आलोचक रमेश चंद्र शाह। मैथिलीशरण के काव्य के बारे में अक्सर कहा जाता है कि वह उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक पद्य है, इकहरा है, काव्य व्यंजना से अधूरा है आदि-आदि। लेखक ने इस लेख में इन आरोपों का जवाब भी दिया है 'यह कहना तो आसान है कि 'हमारे यहाँ यह नहीं है, वह नहीं है याकि 'फलाँ-फलाँ चीज़ काव्य नहीं है, उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक पद्य है।' किंतु वे यह भूल जाते हैं कि उनकी अभिलाषाओं का महान् काव्य सिर्फ़ व्यक्तिगत प्रतिभा का पक्ष नहीं हुआ करता; उसके लिए महान् समाज और महानकाल का भी संयोग ज़रूरी होता है।'

अर्थात् लेखक या रचनाकार के हाथ अपने समय एवं युग से सभी बंधे होते हैं। लेखक यह भी कहना चाहता है कि हमें हमेशा विदेशी मानदण्डों के आधार पर ही कृति का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। इस लेख से आपको मैथिलीशरण गुप्त की न केवल महत्ता एवं प्रासंगिकता का पता चलेगा बल्कि किन विवादों के घेरे में उनका काव्य रहा-उसके बारे में भी विभिन्न मत जान पाएँगे।

तीसरा लेख 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग पर है। यह लेख हमने मुक्तिबोध रचनावली से लिया है। लेखक का शीर्षक है, 'कामायनी एवं पुनर्विचार'। इस लेख में मुक्तिबोध ने 'श्रद्धा' सर्ग की व्याख्या की है और बताया है कि प्रसाद जी की विश्वदृष्टि जीवनदृष्टि किस प्रकार श्रद्धा के चरित्र में प्रकट हुई है। साथ ही मुक्तिबोध ने विस्तार से यह भी बताने का प्रयास किया है कि कामायनी का अपने समाज, अपने युग से कैसा रिश्ता रहा है। और स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जन्म लेते नव राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और सामंतवाद के अंतर्विरोध किस रूप में कामायनी में अभिव्यक्त हुए हैं।

मुक्तिबोध ने अपने समय के अन्य रचनाकारों पर भी विचार किया है। पंत पर भी उन्होंने एक सारगर्भित लेख लिखा है 'सुमित्रानंदन पंत : एक विश्लेषण' जिसे हमने यहाँ संकलित किया है। इस लेख में मुक्तिबोध ने पंत के काव्य व्यक्तित्व की प्रसाद के काव्य व्यक्तित्व से तुलना करके यह जानने का प्रयास किया है कि पंत क्यों मर्मभेदी कविताएँ नहीं लिखते अथवा क्यों उनका मन प्रकृति–चित्रों के अलावा, मन: स्थितियों और मनोदशाओं के गीतों की ओर रहा है। सुमित्रानंदन पंत के काव्य व्यक्तित्व को समझने में निश्चय ही यह लेख आपकी मदद करेगा।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविता 'राम की शक्तिपूजा' एक महत्वपूर्ण कविता है। जिसे कई नज़रियों से व्याख्यायित करने का विद्वानों ने प्रयास किया है। इस पर दो लेख हमने यहाँ दिये हैं। पहला लेख प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रमेश कुन्तल मेघ का है 'राम की शक्ति पूजा: मिथकमंत्र और नाटक का जादू' और दूसरा लेख निराला के अनन्य आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा का 'तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा।' पहले लेख में डॉ. मेघ ने बताया है कि मिथकीय संरचना और नाटकीयता के माध्यम से किस प्रकार यह कविता एक संश्लिष्ट कविता बन गई है, जिसका एक विलक्षण रूप है तथा जिसमें नायक राम और कवि निराला का अंतरावलम्बन हुआ है और जिसमें मिथकों के व्याख्यात्मक प्रतीक आधुनिक संदर्भों में खुलते हैं। तुलसीदास कविता निराला की एक अन्य कविता है जो आपके

पाठ्यक्रम में निर्धारित नहीं है। किंतु उसके बारे में यहाँ पढ़ना समझना निराला के काव्य व्यक्तित्व को समझने में लाभप्रद होगा। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस लेख में इन दोनों कविताओं की व्याख्या भी की है और इन्हें एक दूसरे के आमने-सामने रखकर भी देख है। तुलसीदास कविता जहाँ मध्यकालीन समाज, तुलसीदास के मन के अन्तर्द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति करती है, 'राम की शक्तिपूजा' वही एक आधुनिक कविता है जिसके नायक एक स्तर पर राम हैं तो दूसरे स्तर पर स्वयं कवि निराला।

डॉ. रमेश कुंतल मेघ का एक और लेख हमने यहाँ दिया है-महादेवी वर्मा पर 'नग्न कुमारितावाले झीने आवरण : महादेवी की नारी-रहस्यवत्ता'। महादेवी को करूणा, वेदना की कवियित्री माना जाता है। इस लेख में डॉ. मेघ ने विभिन्न ज्ञानानुशासनों के सहारे कवियित्री के मनोलोक की यात्रा की है और जानने का प्रयास किया है कि उनकी करूणा, वेदना के स्रोत क्या हैं? और उनके काव्य के इन मुख्य सरोकारों के कारण क्या हैं। जानने की इस प्रक्रिया में कुंतल मेघ ने महादेवी वर्मा के चित्रों को भी आधार बनाया है।

अगले दो लेख रामधारी सिंह दिनकर की 'उर्वशी' पर हैं। पहला लेख मुक्तिबोध का है 'उर्वशी : दर्शन और काव्य' तथा दूसरा लेख डॉ. नामवर सिंह का है 'मूल्यों का टकराव : 'उर्वशी' विवाद'। 1962 में 'कल्पना' 138 में 'उर्वशी' पर श्री भगवतशरण उपाध्याय ने एक समीक्षा लेख लिखा था। बाद में उस पर पाठकों के कुछ पत्र प्रकाशित हुए। और अन्यत्र पत्र-पत्रिकाओं में 'उर्वशी' पर और भी समीक्षाएँ प्रकाशित हुई। मुक्तिबोध का यह लेख वास्तव में भगवतशरण उपाध्याय जी के लेख पर प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया लेख है। तथा डॉ. नामवर सिंह का लेख 'उर्वशी' पर जितनी भी समीक्षाएँ लिखी गईं, जो भी वाद-विवाद, बहस मुहाबिसा हुआ–उसका लेखा जोखा भी है, और समापन टिप्पणी भी। पहले लेख से आपको यह भी मालूम होगा कि वस्तुगत समीक्षा और आलोचना क्या होती है, क्या होनी चाहिए। और यह भी कि निजी पसंद नापसंद और काव्येतर प्रतिमान किस प्रकार वस्तुगत समीक्षा को धुंधला कर देते हैं।

अगला लेख डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी का है 'नागार्जुन' पर। इस लेख में लेखक ने नागार्जुन की कविता का विश्लेषण करते हुए यह बताना चाहा है कि 'नागार्जुन' 'कविता की बनी बनाई दुनिया' के भीतर रह कर कविता नहीं रचते, इसलिए कवि मुद्रा भी नहीं अपनाते और स्मृत दुनिया को अभिव्यक्त नहीं करते। बल्कि वह जो जीते हैं जैसा जीते हैं वैसा

ही कविता में ले आते हैं। इसलिए वह अगर खुद को जन कवि कहते हैं तो इसलिए चूँकि जनता उनके लिए अनपढ़, जाहिल, गरीबों की भीड़ नहीं है बल्कि वह एक शक्ति है, आंदोलनकारी शक्ति ज़िसके वह स्वयं एक भाग हैं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध की दो प्रतिनिधि कविताएँ हैं– 'असाध्य वीणा' और 'अंधेरे में' ! ये दोनों कविताएँ आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं। दोनों कविताएँ अपने-अपने रचनाकारों की बेहतरीन कविताएँ मानी जाती हैं। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपने समय के दो बड़े किंतु भिन्न रचनाकारों की इन कविताओं की तुलना के माध्यम से दोनों की रचनात्मक शक्ति को पहचाननें का प्रयास किया है। इस लेख से आपको दोनों कविताओं और कवि व्यक्तित्वों को समझने में मदद मिलेगी।

अगला लेख अज्ञेय पर है-'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा'। यह लेख प्रसिद्ध लेखक श्री निर्मल वर्मा ने लिखा है। यह लेख अज्ञेय की तीन गद्य पुस्तकों भवन्ती, अन्तरा और शाश्वती में अभिव्यक्त अज्ञेय के विचार - चिंतन पर आधारित है। यहाँ निर्मल वर्मा ने अज्ञेय के चिंतक व्यक्तित्व का विश्लेषण करके यह देखने का प्रयास किया है कि अज्ञेय की चिंतन-प्रक्रिया कैसे चलती है और साहित्य सृजन से बाहर स्वयं 'रचनात्मक-सृजन' किन रूपों में उनके सरोकारों का हिस्सा बनता है।

शमशेर पर यहाँ दो लेख हमने दिए हैं। एक मुक्तिबोध का है–'शमशेर मेरी दृष्टि में' तथा दूसरा विजयदेव डॉ. नारायण साही का–'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'। पाठक एंवं आलोचक दोनों के लिए शमशेर एक चुनौतीपूर्ण कवि हैं क्योंकि वे लीक से हट कर अपनी रचनात्मकता को परिभाषित करते हैं। मुक्तिबोध ने शमशेर के प्रति अपनी बुनियादी प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त किया है। वे मानते हैं कि शमशेर अपने शिल्प और काव्य-व्यक्तित्व के कारण उन्हें आकर्षित करते हैं। और उन्हें वे शिल्प की दृष्टि से हिन्दी के एक अद्वितीय कवि मानते हैं। इस लेख में शमशेर के माध्यम से मुक्तिबोध ने शिल्प और काव्य-व्यक्तित्व का भी विश्लेषण किया है और शमशेर के कवि की प्रमुख विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। दूसरे लेख में विजयदेव नारायण साही ने शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट को समझने का प्रयास किया है। ये दोनों लेख शमशेर को कवि के रूप में समझने में निश्चय ही सहायक होंगे।

अगले दो लेख मुक्तिबोध पर हैं। पहला लेख कवि आलोचक कुँवर नारायण का है-

'मुक्तिबोध की कविता की बनावट' और दूसरा लेख डॉ. नामवर सिंह का 'अंधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज' ! मुक्तिबोध ने कविता लिखने के साथ-साथ लिखने की प्रक्रिया पर भी चिंतन-मनन किया है। इससे उनकी कविताओं को समझने में भी सहायता मिलती है। पहले लेख में कुँवरनारायण ने मुक्तिबोध की कविता की संरचना और बनावट को समझने का प्रयास किया है। "यहाँ मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट को लेकर कोई अन्तिम निष्कर्ष निकालने की कोशिश नहीं की गयी है क्योंकि मुक्तिबोध स्वयं इस बारे में किसी अंतिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके थे।" दूसरा लेख मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अंधेरे में' को समझने के प्रारंभिक प्रयासों में से एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस कविता की बाद में ढेरों व्याख्याएँ की गई हैं। ये दोनों लख मुक्तिबोध को एक कवि के रूप में जानने में निश्चय ही सहायक होंगे।

अगला लेख रघुवीर सहाय पर है डॉ. नित्यानंद तिवारी का 'सृजनशीलता का संकट : रघुवीर सहाय की कविता'। रघुवीर सहाय की कविता सामाजिक यथार्थ को बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से पकड़ती है। रघुवीर सहाय की कविता कैसे बनती है, उनकी कविता के मुख्य सरोकार क्या हैं और रचनाशीलता के संकट से रघुवीर सहाय कैसे जूझते हैं –इसकी पड़ताल इस लेख में की गई है।

श्रीकांत वर्मा पर भी एक लेख है श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का– 'मगध और श्रीकांत वर्मा'। इस लेख में लेखक ने श्रीकांत वर्मा के काव्य के काव्य की मनोभूमि का विश्लेषण किया है। श्रीकांत वर्मा ने सत्ता और साहित्य दोनों को करीब से जिया और भोगा है जिसकी अभिव्यक्ति उनके काव्य में भी हुई है।

इस संकलन का अंतिम लेख धूमिल पर श्री नेमिचन्द जैन का है – 'अदम्य सर्जनात्मक ऊर्जा'। यह लेख जब लिखा गया तब तक धूमिल का देहावसान हो चुका था और उनका एक ही काव्य संग्रह 'संसद से सड़क तक' प्रकाशित हुआ था। और कुछ कविताएँ यत्र-तत्र प्रकाशित हुई थीं। लेखक ने इस लेख में धूमिल की रचनात्मक शक्ति और संभावनाओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

आधुनिक हिंदी काव्य के बारे में अपनी समझ विकसित करने में ये लेख निश्चय ही उपयोगी होंगे।

राकेश वत्स

1- 'जन-कवि' होने का अर्थ

डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी

नागार्जुन कविता की बनी-बनायी दुनिया से बाहर खड़े होकर रचते हैं। ज़्यादातर कवि कविता की दुनिया में रहकर रचते हैं या रचना शुरू करते ही कविता की दुनिया में चले जाते हैं। ऐसे लोग प्राय: 'दिखलायी दे रही दुनिया' को नहीं 'स्मृत दुनिया' को प्रस्तुत करते हैं। नागार्जुन में कवि-मुद्रा मिलती ही नहीं, वे अपने को जन-कवि कहते ज़रूर हैं। ऐसा लगता है कि अन्य प्रकार के कवियों से अपने को भिन्न करने के लिए नागार्जुन अपने को जन-कवि कहते हैं। इस जन-कवि की घोषणा में एक विशेष तेवर है – एक आन्दोलन, एक ऐतिहासिक विचारधारा से जुड़े रहने का स्वाभिमान है। बहुत कुछ उस प्रकार का जैसे भक्त कवियों को भक्ति का बल होता था। यह 'जन' जैसे उनके कुल-शील का परिचायक हो। नागार्जुन विनम्र होते हैं और अक्खड़पन दिखाते हैं। वे व्यंग्य करते हैं, 'टिलटिली' दिखाते हैं। नागार्जुन हिन्दी के उन अति विरल कवियों में से हैं जिनमें 'आत्मदया' की मन:स्थिति नहीं मिलेगी। मुझे कबीर ही अन्य कवि दिखलायी पड़े जिनमें आत्मदया नहीं। जहाँ अन्य लोग अभिभूत होते हैं, मुँह बाये चकित होते हैं या आक्रोश में आते हैं, नागार्जुन हँसते हैं। चिढ़ाते हैं। बंगाली मिठाइयों की दूकान का नाम है 'मधुक्षरा'। उनके पास पैसे नहीं कि अन्दर जाकर देखें और मिठाई खायें। वह कल्पना करते हैं, मधुक्षरा – क्या इनसे शहद चूता है। ठीक है – पैसा न, सही लेकिन जब होगा तब खाकर देखेंगे, जाँच लेंगे कि इनमें क्या है, "कोई बात नहीं ! कोई बात नहीं ! कभी-न-कभी टेस्ट लेंगे मधुक्षरा का।"

व्यंग्य विषमना या विरूपता से उत्पन्न होता है। विषमता सुषमा या औचित्य की विरोधी है। जो होना चाहिए वह न होने पर या जो नहीं होना चाहिए उसके होने पर विरूपता होती है। विरूपता एक प्रकार की विकलांगता है। कुछ लोग मोटी तोंद पर, छोटी नाक पर ही हँसना जानते हैं। हिन्दी के कवि-सम्मेलनों और अनेक सचित्र पत्रिकाओं में हास्यरस के नाम पर ऐसी भोंडी रुचि की कविताएँ सुनने-पढ़ने को मिलती हैं। शारीरिक विरूपता की तरह सामाजिक विरूपता होती है। शोषक और शोषित का वर्ग-विभाजन मानव-समाज की सबसे बड़ी विषमता और विरूपता है। शारीरिक विरूपता प्रकृति - निर्मित है, उसके लिए मनुष्य खुद जिम्मेदार नहीं, इसलिए कुरूप व्यक्ति अन्तत: हास्यास्पद नहीं, करुणा का पात्र है। फिर कुरूप व्यक्ति आन्तरिक गुणों के कारण आकर्षक भी हो सकता है। जायसी कौन थे ! कहते थे कि जो मुझे सिर्फ देखता है वह हँसता है, जो (कविता) सुनता है वह रोता है।

सामाजिक विरूपता मनुष्य निर्मित है। उसके लिए प्रकृति जिम्मेदार नहीं। मानव-इतिहास की विडम्बना है कि अन्यायी प्राय: शक्तिशाली होते हैं। ऐसा सुयोग कम होता है कि शक्तिशाली न्यायी अथवा मानवीय हो। निराला के राम की पीड़ा का कारण ही है–'अन्याय जिधर है, उधर शक्ति'। अब शक्तिशाली अन्यायी पर हँसने की मन:स्थिति कैसे पैदा होती है। कबीरदास, सांसारिक तौर पर सफल लोगों के इतराने पर उन्हें आगाह करते थे–'आये हैं सो जाहिंगे राजा रंक फकीर।' वे काल-बोध का उपयोग अन्यायियों और सांसारिक सफलता पर इतरानेवालों को डराने-धमकाने के लिए करते थे। सब चले जायेंगे। रह जायगा सिर्फ राम। इसलिए समझदारी राम की भक्ति करने में है। यह कबीर आदि भक्त कवियों का भाव-बोध था। इस पर स्थित वे अपने विरोधियों पर हँसते थे, उन्हें अज्ञानी, भटका, मायाग्रस्त समझते थे।

नागार्जुन के पास काल-बोध की नहीं, इतिहास-बोध की शक्ति है। सत्य क्या है क्या नहीं, यह विवादास्पद है। किन्तु यह शोषक व्यवस्था असत्य है। इस असत्य शोषक व्यवस्था पर आक्रमण शुरू हो गये हैं। शोषक व्यक्तियों की स्थिति पहले से बहुत कमज़ोर है। आज शोषकों की सुरक्षापूर्वक आलोचना की जा सकती है, उनका भाँडाफोड़ किया जा सकता है। वे खुद जानते हैं कि बेईमान हैं और देर तक टिकनेवाले नहीं हैं। यह इतिहास-बोध दो काम करता है–शोषकों का कच्चां-चिट्ठा सामने रखता है, उन्हें अजेय नहीं बनने देता। उनके नाश के लिए, । भगवान को बैकुण्ड छोड़कर धरती पर आने की ज़रूरत नहीं और 2. कवि को 'जन' का पक्षधर बनाकर उनमें आत्मगौरव का भाव भरता है। 'युगधारा'की पहली कविता है- 'जन-वन्दना'। हे कोटिशीर्ष, हे कोटि बाहु, हे कोटि भरण !' यह भगवान के विराट रूप के ही वजन पर जनमानस का विराट रूप है। कविता में 'जन' ने कभी वाराह, कभी महारुद्र का रूप धारण कर लिया है। नागार्जुन जन-कवि हैं। जन सबसे बड़ी शक्ति है, उसकी निष्ठा जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकती है, निर्भय बना सकती है। शोषक अमानवीय दानव हैं। शक्तिशाली लगते- भर हैं, वस्तुत: हैं नहीं। वे मूर्ख, अज्ञानी, हास्यास्पद, क्रूर हैं। नागार्जुन के व्यंग्य का भी आधार जननिष्ठा है। उनका भाव-बोध भक्तों से मिलता-जुलता है। भाव-बोध में बोध का अन्तर ज्यादा है, भाव का कम।

भक्ति से 'मिलता-जुलता' कहने से भ्रम पैदा हो सकता है। किसी बड़े उद्देश्य के लिए कोई त्याग तभी कर सकता है जब वह महाराग में बद्ध हो। भक्ति महाराग है। स्वाधीनता-आन्दोलन के दिनों में हमारे देश के हजारों-लाखों व्यक्ति इस महाराग से अनुप्राणित थे। भगतसिंह, आजाद आदि ने आखिर किसी बड़े सुख का अनुभव करने के

बाद शरीर का मोह छोड़ा होगा। वियतनाम के लोगों ने यों ही केवल कर्त्तव्य-वश इतना बड़ा बलिदान नहीं किया होगा। कुप्स्काया कहती थीं कि 'लेनिन मज़दूरों को प्यार करते थे। इस प्यार के बिना क्रान्ति नहीं हो सकती।'

नागार्जुन की कविता इस महाराग से अनुप्राणित है। भक्ति के पास वह बोध नहीं था कि भक्ति के बिना भी सभी मनुष्य समान हैं। कोई अवर्ण भक्त न भी हो तो भी वह द्विज से हीन नहीं है। नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' पर अभी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। यह भारतीय साहित्य की प्रथम रचना है, जिसमें एक सामान्य हरिजन बच्चे को अवतार का दर्ज़ा दिया गया है। कृष्ण-जन्म के मिथक का इस्तेमाल इसमें इतिहास-बोध के आधार पर किया गया है। जैसे बाल-कृष्ण को कंस से बचाने के लिए जन्मस्थान से हटा दिया गया था, वैसे ही 'कलुआ' को। कंस कौन है?

आज भगाओ, आज भगाओ, तुम लोगों को मोह न घेरे होशियार, इस शिशु के पीछे लगा रहे हैं गीदड़ फेरे। बड़े-बड़े इन भूमिधरों कों यदि इसका कुछ पता चल गया दीन-हीन छोटे लोंगो को समझो फिर दुर्भाग्य छल गया।

अवतार-कथाओं में नारद, शंकर आदि ज्योतिषी बनकर आते हैं। वे दर्शन करते हैं और बालक के वास्तविक रूप को बताकर उसका उज्जवल भविष्य बताते हैं। यहाँ यह भूमिका रैदासी कुटिया के अधेड़ सन्त गरीबदास ने निभायी है। सन्त ग़रीबदास और कोई नहीं, वस्तुत: नागार्जुन ही हैं। आप जानते होंगे कि रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अपने इष्ट से मिलने के लिए तुलसी और सूर ने भी कुछ इसी तरह के काव्य-छल से काम लिया है। मानव-सभ्यता के भावी उद्धारकर्ता का रूप कैसा होगा। क्या वह 'आजानु भुज शर चाप धर संग्राम-जित खर दूषणम्' होगा या 'गौर वर्ण, दीप्त दृग, सौम्य मुख', 'रक्तालोक स्नात पुरूष' होगा। नहीं, वह 'कलुआ' होगा -

खान खोदनेवाले सौ-सौ मजदूरों के बीच पलेगा।
युग की आँचों में फौलादी साँचों जैसा वही ढलेगा।

नागार्जुन हरिजनों के मिथक, उद्धारक या पक्षधर मात्र नहीं हैं। वे 'हरिजनों' को प्यार करते हैं। निम्नवर्ग के अवर्ण उनके उसी महाराग के आलम्बन हैं, जो अपने समय में भक्ति का और स्वाधीनता-आन्दोलन में देश-प्रेम का आधार था। हरिजनों को ज़िन्दा जला देने की घटना ऐसी थी कि हरिजन माताओं के भ्रूण गर्भ-कुक्षियों के अन्दर दौड़ने लगे। उन्होंने गर्भ में, सूक्ष्म शरीर में इतनी पीड़ा भोगी कि हथेली पर भाग्य की रेखाओं के रूप में हथियार के चिन्ह हैं —

आड़ी-तिरछी रेखाओं में हथियारों के ही निशान हैं,
खुखरी है, बम है, असि भी है गंडासा-भाला प्रधान है।

यह हरिजन अवतार का शिशु नागार्जुन की सृष्टि है और इसकी पीड़ा नागार्जुन के मानस ने झेली है। यह भी संयोग है कि हिन्दी में हरिजन-अवतार की सृष्टि मैथिल ब्राह्मण कवि नागार्जुन वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' ने की।

एक कविता नहीं, नागार्जुन ने अनेक कविताओं में नौजवान क्रान्तिकारियों के प्रति अपनी वेदना व्यक्त की है। हिन्दी के शायद ही किसी अन्य कवि ने नयी पीढ़ी को—विशेषकर अंशिक्षित, अवर्ण बालकों, नौजवानों को इतनी आत्मीयता दी हो। नागार्जुन की एक कविता है—'आओ मैं तुम्हें अपना चुम्बन दूँगा।' कविता में आन्दोलनकारी विद्यार्थियों समेत नयी पीढ़ी के विद्रोहियों का स्वागत-अभिनन्दन किया गया है। एक कविता है—'धज्जी-धज्जी उड़ा दी छोकरों ने इमर्जेन्सी की।' नागार्जुन कवि-रूप में नयी पीढ़ी के लिए सबसे सन्दर्भवान् हैं। वे अपनी कविताओं में कई बार किसी नवयुवक के साथ अन्तरंग आलाप में दिखलायी पड़ते हैं, मानो अपनी मानसिक प्रक्रिया अपने उत्तराधिकारियों को समझा रहें हों, उनसे बहस कर रहें हों। एक कविता है-'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने'। उसमें इनकी मानसिक स्थिति के साक्षी रत्नेश्वर हैं। नागार्जुन ने 'शिशु भास्कर' देखा। रत्नेश्वर नौजवान पोस्टग्रेजुएट हैं। जेल में कोई आसन त्यागी विधायक रहे होंगे। वे आजीवन बन्दी आदिवासी साँवले-सलोने युवक को अपने खानदानी नौकर की तरह डाँटने लगे। नागार्जुन ने कविता लिखी—यह आपका 'वेतनभोगी टहलुआ' नहीं है। नक्सलवादी नवयुवकों पर जो अत्याचार होता है, उस पर अपनी पीढ़ी के कवियों में सबसे ज्यादा कविताएँ नागार्जुन ने लिखी हैं। उनके वात्सल्य का क्षेत्र व्यापक और विविध है। इसमें दन्तुरित मुस्कान, गुलाबी चूड़ियाँ से लेकर 'भोजपुर' तक का भाव-बोध व्याप्त है। उनकी नयी पीढ़ी सम्बन्धी कविताएँ एकत्र की जानी चाहिए। उसी में एक कविता धनिक-पुत्र पर भी है, नागार्जुन ने 'गोहुँअन का पोहा' कहा है जो बचपन से ही सिगरेट टानना सीख गया है। 'चन्दू मैंने सपना देखा' इसी भाव-क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कविता है। इस वात्सल्य में नयी पीढ़ी के प्रति स्नेह ही नहीं, और भी बातें हैं। उमर सभी की बढ़ती है, बुड्ढे सभी जीवित रहनेवाले होते हैं, किन्तु अपने बुढ़ापे को स्वीकार कम ही लोग कर पाते हैं। जो लोग अपने बुढ़ापे को स्वीकार कर पाते हैं वे गतकालिक नहीं होते, वे नयी पीढ़ी के लिए सन्दर्भवान बने रहते हैं। नहीं तो बुड्ढों का ज़्यादा समय अपना बुढ़ापा छिपाने में ही गुज़र जाता है। उनकी उक्तियों में भी खिजाब, काजल-मिस्सी की बू आती है। नागार्जुन इधर की कविताओं में अपने को कई बार बुड्ढा कहते हैं। 'नेवला' में बार-बार आने वाला 'बुड्ढा बन्दर'

नागार्जुन ही हैं -

सो शैतान (नेवला) ने
अपने पैने दाँत गड़ा दिये थे इस बूढ़े बन्दर की
नाक की नोक पर।

जो रचना में निर्वैयक्तिकता की बात करते हैं, वे नागार्जुन से आत्मनिर्ममता और अपने से भी तटस्थ होना सीखें।

व्यंग्य सबके बस की बात नहीं है। व्यंग्य गम्भीर विधा है। व्यंग्य बीरबलों का काम नहीं। नागार्जुन बौद्ध-साहित्य एवं दर्शन के पण्डित हैं। कालिदास का उन पर गहरा प्रभाव है। वे जीवन और मृत्यु की समस्या से जूझते होंगे। उनकी अनेक कविताओं में 'विनय-पत्रिका' जैसा गम्भीर आत्म-मन्थन मिलता है। दीर्घ जीवन किसे प्यारा नहीं। लेकिन जब जीवन के साथ मिले, तब वांछनीय है। 64 वर्ष की आयु में नागार्जुन ने लिखा-

गिरता-पड़ता, लड़खड़ाता लार की बूँदों के तार टपकाता
लकवाग्रस्त, पराश्रित अपंग
पसन्द आयेगा तुम्हें ऐसा सुदीर्घ जीवन
पुरखों के सुयश का बखान करता
बचपन और तरुणाई की अपनी उछल कूद की डींगे मारता
प्रवचन की ओट में अपनी अकर्मण्यता को ढँकता
पसन्द आयेगा तुम्हें ऐसा सुदीर्घ जीवन
लिंग-लौल्य, रसना-रास, वासनाओं का चैतसिक चुम्बन
लालसाओं का ललित लास्य
बाहर-बाहर प्रतिष्ठा का आटोप आडम्बर।

'बहुत प्रीति पुजाइबे की पूजिबे की चोरि' और 'ज्यों चितई पर नारि सुने पातक प्रपंच घर घर के' लिखते तुलसीदास की मन:स्थिति कुछ-कुछ इसी प्रकार की रही होगी। तुलसी को इससे बचने का रास्ता भक्ति में दिखलायी पड़ता था। नागार्जुन बुड्ढे हैं, लेकिन बुढ़ापे के विकारों को पहचानने में सतर्क हैं। वे ऐसा दीर्घ जीवन अस्वीकार करते हैं। ऐसा दीर्घ जीवन स्वीकार करनेवालों पर हँसते हैं। कैम्पस के तरुणों, विद्रोहियों, आदिवासी साँवले युवकों में घुले-मिले हैं। नागार्जुन इतिहास-गति के सहचर हैं।

नागार्जुन ने ईश्वर की समस्या पर विचार करते हुए जो कविता लिखी है वह मुक्तिबोध की इसी विषय पर लिखी गयी कविता से मिलती है। भगवान कल्पनापुत्र हैं। नागार्जुन सबसे नजदीक हैं बौद्धि-दर्शन के। बौद्ध-दर्शन में 'असत्' ही 'सत्' है। अन्य दर्शन जिस सत्य की खोज करके अपनी सार्थकता प्रमाणित करते हैं, विभज्यवाद उसकी सत्ता ही नहीं स्वीकार करता। लेकिन बौद्ध-दर्शन की वास्तविक शक्ति इस 'बोध' में नहीं, उसकी शक्ति महान् करुणा में है। कवि नागार्जुन में यह करुणा मार्क्सवादी आक्रोश एवं समाजवादी निष्ठा के साथ है। उनका मन द्वन्द्वात्मक जगत में रमता है। उसके सुख-दुख:, शोक, हर्ष आदि उनके सरोकार हैं। उनके यहाँ बौद्ध-निर्ममता से एक महान ममता पैदा होती है। उनके व्यंग्य में करुणा है – वही सामाजिक विषमता की भूमि पर जाकर व्यंग्य का रूप धारण कर लेती है। कोई भी मनोविकार, इस करुणा पर आधारित होकर सर्जनात्मक उत्कर्ष प्राप्त करता है। इसके बिना जब व्यंग्य पैदा करने की कोशिश की जाती है तो वह स्वयं हास्यास्पद हो जाता है।

नागार्जुन के रचनाकार व्यक्तित्व में व्यंग्य, करुणा, देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, राजनीति, माया-प्रेम–सब परस्पर सम्बद्ध हैं। वे सब एक-दूसरे में घुले-मिले हैं, उनका प्राय: कार्य-कारण सम्बन्ध है। उनका व्यंग्य करुणा पर आधारित है, तो करुणा जीवन की स्वीकृति पर। नागार्जुन प्रबल इन्द्रिय-बोध के कवि हैं। रूप, वर्ण, गन्ध, स्वाद, स्पर्श का ऐसा 'तद्गतेनमनसा' भोग सब लोग नहीं कर सकते। 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' कविता में आस्तिकता-नास्तिकता का उतना चक्कर नहीं है। 'निशा शेष ओस की बूँदियों से लदी अगहनी धान की दुद्धी मंजरियाँ प्रभाती-किरणें उगते सूरज के अरुण अरुणपूर्ण बिम्ब' के प्रभाव का चित्र है, जिसने कवि की चेतना को अभिभूत कर दिया है। आस्तिक की सर्वोत्तम कल्पना ईश्वर है। यह दृश्य नागार्जुन की सर्वोत्तम कल्पना का साकार रूप – जैसा है। इसलिए वे आस्तिक हो उठे हैं। जोश मलीहाबादी का एक शेर है-

हम ऐसे अहलेनजर को सुबूते हक़ के लिए
अगर रसूल न होते तो सुबह काफ़ी थी।

प्रात:काल का दृश्य परमसत्ता के अस्तित्व को प्रमाणित करने में समर्थ है। हज़रत मुहम्मद का काम प्रात:कालीन दृश्य भी कर सकता था। मूलत: यह भौतिकवादी सौन्दर्यबोध है जो ईश्वर को सौन्दर्य का प्रतीक बनाकर अपना लौकिक अनुभव सम्प्रेषित करना चाहता है। नागार्जुन इन्द्रिय-भोग या इन्द्रिय-आस्वाद का अनुभव कुण्ठाहीनता से व्यक्त करते हैं। पानी, अन्न, हवा, धूप, गन्ध सन्तुष्ट करते हैं। लेकिन प्यासे को पानी, भूखे को अन्न, जो सन्तोष या तृप्ति देते हैं, उस तृप्ति का अनुभव नागार्जुन की कविता में मिलता है।

व इनका स्वाद लेते समय कृत्रिम आवरण उतार देते हैं, यह तृप्ति ठेठ किसानी है जिसकी प्रवृत्ति और उसकी सम्पदा से उसकी आत्मीयता होती है। 'बहुत दिनों के बाद' में दीर्घकाल के रूप, रस, गन्ध, श्रवण आदि के प्रिय विषयों के अभाव की हूक और फिर उन्हें छककर भोगने की अकुण्ठ तृप्ति का आनन्द है। इसे ब्रह्मानन्द ही समझिए। इनके अभाव की हूक का अनुभव करने की क्षमता बनाये रखनी पड़ती है।

जो चीज़ हमें अच्छी लगती है, हम उसका उपभोग सभी प्रकार से करना चाहते हैं। उसे देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना आदि – सभी ज्ञानेन्द्रियों से उसका आस्वादन करना ाहते हैं। मिथिला की प्रकृति और जन-जीवन को नागार्जुन ने ऐसे अनुभव किया–

रूप - अबकी मैंने जी-भर देखी
पकी, सुनहली फसलों की मुस्कान
श्रवण - अबकी मैं जी-भर सुन पाया
धान कूटती किशोरियों की कोकिल-कण्ठी तान
घ्राण - अबकी मैंने जी-भर सूँघे मौलसिरी के ढेर-ढेर से
ताजे टटके फूल
स्पर्श - अबकी मैं जी-भर छू पाया अपनी गँवई पगडण्डी
की चन्दन-वर्णी धूल
स्वाद - अबकी मैने जी-भर तालमखाना खाया
गन्ने चूसे जी-भर
ऐन्द्रिय-भोग - अबकी मैंने जी-भर भोगे - गन्ध रूप रस
शब्द स्पर्श सब
साथ-साथ इस भू पर बहुत दिनों के बाद।

प्रकृति से प्रेम सुसंस्कृत व्यक्ति ही कर सकता है। नागार्जुन के लिए प्रकृति शिशु-रूप में तृप्ति का माध्यम है। वे प्रकृति का सौन्दर्य आँकने में विशिष्ट हैं। नागार्जुन ने जीवन जगत के जो चित्र खीचें हैं, वे उनके देखे हुए हैं। उन चित्रों में कुछ ऐसा प्राय: होता है जिसे नागार्जुन पहली बार देखते और दिखाते हैं। जब वे कहते हैं, 'बादल को घिरते देखा है' तो उसका मतलब है कि बादल का घिरना लोग किताबों में पढकर भी चित्रित करते हैं। मैंने बादल को घिरते सचमुच देखा है। तुम चाहे जितना पढ़ो, देखने का अनुभव कुछ और ही होता है। यह जो कुछ अलग है वही विशिष्ट है, वही सर्जना की शर्त है। उसी से व्यक्ति का अपना सौन्दर्यानुभव पूर्वानुभव में कुछ जोड़ता है। किताबों में कुबेर

है, अलका है, कालिदास का अनुभव यों किताबों में है। मैंने वह सब नहीं, मन की आँखों से, कल्पना-चित्रों में नहीं, अपने चर्म-चक्षुओं से देखा है। कालिदास ने जो किताबों में लिखा है, उसे पढ़ा ही नहीं, आँखों से देखा है –

कहाँ गया धनपति कुबेर, वह, कहाँ गयी उसकी वह
अलका ?
नहीं ठिकाना कालिदास के व्योम-प्रवाही गंगाजल का
जाने दो, वह कवि-कल्पित था मैंने तो भीषण जाड़ों में
नभचुम्बी कैलाश-शीर्ष पर महामेघ को झंझानिल से
गरज-गरज भिड़ते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

यह कबीर की आँखिन देखीवाली बात है। कालिदास बहुत बड़े कवि थे। कितने बड़े–इसे नागार्जुन से अधिक जाननेवाले लोग नहीं होंगे। किन्तु कविता अपने अनुभव से लिखी जाती है। इसी विश्वास पर वे कालिदास से जवाब-तलब करते हैं– 'कालिदास सच-सच बतलाना'। मानो नागार्जुन कालिदास का छल उघाड़कर उनकी आत्म-व्यथा का उन्हीं से स्वीकार करा रहे हों। निश्चय की अपनी व्यथा के बूते पर कालिदास के व्यथा-सहचर बन रहे हैं। नागार्जुन की पंक्ति है-

मन यही करता है कि मैं भी प्रियतमे उसका
करूँ आह्वान–कालिदास समान !

आधुनिक हिन्दी-कविता में रीतिवाद और रीतिमुक्ति की बात बहुत की गयी है। नवीन शब्द-योजना, नया सादृश्य विधान, यह सब नयेपन के लिए आवश्यक माना गया है। नयापन कहाँ है? पहले के कवि जिन स्थितियों में कविता नहीं कर पाते थे, उन्हें भी काव्य-परिधि में समाविष्ट कर लेना, अर्थात् वहाँ भी मार्मिकता पैदा करवा देने में नयापन है। 'जहां न जाय रवि, वहां जाय कवि' का आशय यही है। लेकिन जिस किसी स्थिति को काव्य-क्षेत्र में घसीटने से नयेपन का आग्रह तो प्रकट हो सकता है, मार्मिकता भी पैदा हो, ज़रूरी नहीं। इस प्रसंग में एक और बात पर ध्यान जाता है। रूढ़ि या रीति असर्जनात्मक हों, लेकिन रीति प्राय: उन्हीं उक्तियों की बनती है, जिनकी मार्मिकता व्यापक स्तर पर स्वीकृत होती है। अज्ञेय ने प्रेमिका के लिए प्रयुक्त पिछले सारे उपमानों को मैला घोषित कर दिया। एक उपमान उन्होंने भी प्रस्तुत किया। बाजरे की कलगी का उपमान बिल्कुल अछूता था। अभी तक वह अछूत बना है।

नागार्जुन नयेपन के आग्रही नहीं। उनका सादृश्य-विधान चौंकानेवाला नहीं। उनकी शक्ति कथ्य और उसकी प्रस्तुति में है। नागार्जुन अभिधा के ठेठ कवि हैं। अभिधा का सम्बन्ध वस्तु की शक्ति से है। शब्द-शक्ति को वस्तु-शक्ति से जोड़ना चाहिए। इस पर विचार करने की जरूरत है।

नयी कविता ने छन्द का बन्धन त्यागकर गद्यात्मकता किसलिए अपनायी? कथ्य को और अधिक उजागर करने के लिए। छन्द का स्थान लय ने ले लिया। सहज वार्तालाप के अनुतान में बहुत ध्वन्यात्मक नाटकीयता होती है। यह ध्वन्यात्मक नाटकीयता, यानी सहज वार्तालाप का अनुतान छन्द की कमी को पूरा कर सकता है। इस तर्क से नयी कविता की वाचन-विधि में बहुत विकास होना चाहिए था। उसे सहज वार्तालाप की बहुविध भंगिमाओं से युक्त होना चाहिए था। जनवादिता वाचन में भी आती थी। आप नागार्जुन का काव्य-वाचन सुनिए। उनकी कविताएँ प्राय: छन्दोबद्ध हैं। लेकिन लगता है, जैसे वह काव्य-पाठ नहीं कर रहे हैं, बोल रहे हैं। यह कथ्य की वाचन प्रस्तुति हुई। प्रस्तुति में अर्थबोध की शृखंला या सरणि विचारणीय है। एक बात के बाद दूसरी क्या बात आती है। पहली बात और दूसरी बात को साथ-साथ रखने का औचित्य क्या है। रचनाकार एक ईंट पर दूसरी ईंट किस तरह सटाता है !

नागार्जुन दूर की कौड़ी नहीं लाते। बादल को घिरते तो प्राय: सभी देखते हैं, लेकिन उनकी उक्तियाँ अछूती और ताज़ी होती हैं। बस यह है कि रचनाकार और पाठक-श्रोता-दोनों रीति के शिकार हो सकते हैं। एक पंक्ति के बाद पाठक प्राय: कुछ किताबी पंक्तियाँ सुनने की आशा या आशंका सँजोये रहता है कि नागार्जुन कुछ ऐसा सुना देते हैं जिसकी वह प्रतीक्षा नहीं कर रहा था। लेकिन बात बिलकुल ठीक जँचती है। नागार्जुन की शक्ति उक्ति और उक्ति के संबंध चयन की विशिष्टता में है। स्थितियों के वास्तविक सम्बन्धों को देख पाने के लिए किताबीपन को चेतना से खारिज कर देना होता है। नागार्जुन की सबसे बड़ी शक्ति किताबीपन के कचड़े से रचनाधार्मिता को अनाविल रखने में है। इस अनाविलता को आप सहज कह सकते हैं। रचनात्मक रचनाधर्मिता भी कवि की सहज-साधना होती है।

सहज वह, जिसकी ग्राह्यता और मार्मिकता अन्योन्याश्रित हों। एक ऐसी उक्ति, जिसकी ग्राह्यता प्रस्तुत करते ही पहचान बना ले लेकिन जिसे अब तक लोग कह न पायें हों, सर्जक द्वारा पहली बार कही और दिखायी जा रही हो। वह महसूस करने में सहज हो लेकिन बोध या विचार के धरातल पर पहले की उक्तियों से अधिक अर्थगर्भित हो, जिसकी अर्थ-भूमि अधिक जटिल एवं व्यापक हो, याकि जो अपेक्षाकृत अधिक अर्थभूमि घेरती हो

ग्राह्यता और मार्मिकता इस व्यापकतर अर्थभूमि के कारण पैदा होती है। अर्थभूमि के विस्तार के बिना सार्थक सहजता नहीं आती। यह अर्थभूमि का विस्तार ही सर्जनात्मक या नवीनता है। सहज उक्ति विकलांग नहीं होती, वह ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वग्राही या सकल उक्ति होती है।

'कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास'।

इस पंक्ति में चूल्हे-चक्की का मानवीयकरण है। चूल्हे में आग न जले और चक्की न चले–तो एक अजीब सन्त्रासक सूनापन बरसता है। अवधी में जब कहते हैं-'आज उनके चूल्हा नाहिं जरा' तो इसका अर्थ होता है कि आज उनके यहाँ कोई मौत हो गयी है या उसी तरह का प्रभाव डालनेवाला कोई सदमा हो गया है। 'चक्की के उदास' होने का मतलब–चक्की औरतें चलाती हैं, वे गाती हैं, चुहल करती हैं, दुख-सुख की बातें करती हैं – कुछ नहीं हुआ। इस कुछ न होने में लोगों के भूखे रह जाने और भूखे रह जाने का क्या मतलब होता है, को भी शामिल कर लीजिए।

'कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उनके पास'।

कानी कुतिया सजीव है, लेकिन अपदार्थता और उपेक्षणीयता में चूल्हा-चक्की जैसी ही जड़ है। वह चल-फिर सकती है। चूल्हा नहीं जला। चक्की नहीं चली, खाना नहीं बना। उसे 'कौरा' नहीं मिला। वह गाँव-भर में घूम आयी, खाना नहीं मिला। चूल्हा चक्की के पास वह भी भूखी सो रही। प्रकृत्या उसको पता था कि खाना मिलने का सम्बन्ध चूल्हा-चक्की से है। चूल्हा जलता था तो उसे वहाँ से भगा दिया जाता था लेकिन 'कौरा' मिल जाता था। चूल्हा जलने के इन्तज़ार में वह चूल्हे के पास सो गयी है। छिपकलियाँ गश्त लगा रही हैं, प्रकाश न होने से कीड़े नहीं और उन्हें भी खाना नहीं। यही हाल चूहों का है। घर में दाना नहीं। कहने को एक ही चीज़ नहीं है, लेकिन उसका असर बेज़ुबानों पर भी कैसा पड़ रहा है। सारे विवरण और वातावरण के केन्द्र में चूल्हा-चक्की है।

बहुत दिनों के बाद जब दाने आये तो अँगना के ऊपर धुँआ उठा। चूल्हा जला। चूल्हें में आग जली तो प्रकाश आँखों में भी आया। आँखें चमक उठीं। कौवे ने पाँखें खुजलायीं। उसने देखा तो उसमें शक्ति आयी। पहले आँखें सिमटी रही होंगी। स्थिति में परिवर्तन हुआ तो उसमें भी शक्ति आयी, जिसका अनुभाव पाँखों का खुजलाना है।

पूरी कविता में आदमी की भूख की पीड़ा का कहीं उल्लेख नहीं है। वह केवल व्यंजित है। जब कानी कुतिया, छिपकलियाँ,चूहों की यह हालत हो रही थी तब आदमियों की क्या हालत रही होगी। उसके तो बच्चे, माँ-बाप, भाई-बहन, भिन्न होते हैं। जो अकथनीय है, उसे अकथित रखकर ही इतने भरपूर तौर पर व्यंजित करने की क्षमता इस कविता में है। भूख का रूप सामने आ जाता है। वह एक दृश्य की भाँति साक्षात् हो उठती है। कविता में पीड़ा दृश्य बन गयी है। इस दृश्यता के बिना सहजता नहीं आती। सहजता में अन्तस्सम्बन्धता होती है। इस अन्तस्सम्बधता का ताना-बाना बोध और करुणा से तैयार होता है। दाना, चूल्हा-चक्की,छिपकली-चूहों की गश्त में सम्बन्ध है। इनके चित्रण में रचनात्मक संगति है। इसकी अन्तस्सम्बन्धता को समझे बिना इसकी सहजता और रचनात्मक अनिवार्यता को नहीं समझा जा सकता। इसी तरह-

खड़ी हो गयी चाँपकर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट-सी शासन की बन्दूक

में बन्दूक चलानेवाला (चलवानेवाला) कहीं नहीं है। वह कथित नहीं, दृश्य है। शोषक की हृदयहीनता और उसकी पैशाचिक क्रूरता। कंकालों में हूक कैसी हृदयद्रावक होगी। उनकी हूक को भी चाँपकर शासन की बन्दूक विपुल विराट-सी नभ में खड़ी है। कंकालों की राशि कितनी ऊँची है। आकाश तक कंकाल-राशि है। आकाश में विराट विपुल दिखलायी पड़ रही है। लोग आकाश में चाँद देखते हैं। अपनी प्रियतमा का या इष्ट का मुख देखते हैं। इन्द्रधनुष देखते हैं। वहाँ समग्र आकाशव्यापी बन्दूक खड़ी है। आकाश में बन्दूक खड़ी करना कविता-संसार के आकाश को एक नया रूप देना है। यह केवल नवीन शब्द-योजना का चमत्कार नहीं। धरती पर अत्याचार की क्रूरता के अनुभव को असीमता प्रदान करना है, वर्ना कहाँ कंकालों की हूक, कहाँ आकाश और कहाँ बन्दूक। संस्कारशील पाठक इसमें हूक-ध्वनि का बन्दूक द्वारा दबाया जाना पढ़कर इस पर ध्यान देंगे कि शब्द जो आकाश का गुण है, उसे भी बन्दूक दबा रही है। इस कविता का अन्तिम दोहा है-

जली ठूँठ पर बैठकर गयी कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बन्दूक।

आकाश जैसी असीम और विराट बन्दूक की करनी 'जली ठूँठ' है। 'जली ठूँठ पर' कोकिला को शायद ही किसी और ने बिठलाने की सोची हो, लेकिन 'आम्र उपवन' में ही कूजने-वाली कोकिला गतकालिक सौन्दर्य-बोध का प्रतीक है। जो दग्ध हैं वे भी हरे होंगे। कोकिला बोलकर भविष्य की प्रवक्ता बन गयी है। अन्याय चाहे जितना दारुण हो, वस्तुत:

अशक्त है। मानव-इतिहास की गति अन्यायी बन्दूक से बाधित होने-वाली नहीं। मानवीय शक्तियाँ अभी समर्थ नहीं, अत: वे कोयल के बोलने में आशा का सन्देश सुन लेती हैं। जैसे कौए का पाँखें खुजलाना, वैसे काकिला का कूजना।

किसी स्थिति के विभिन्न आयामों में से विशिष्ट आयामों को चुनकर स्थिति को धारदार बना देने की कला में नागार्जुन लासानी हैं। उनकी क्षमता अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) में नहीं, संयोजन में है। ऐसे विभावन-व्यापार की योजना जो कवि के कथ्य को अपने आप उद्‌घाटित कर दे। और कवि का कथ्य क्या है ! कवि का कथ्य वही है, जो स्थितियों का कथन है। कवि केवल उन्हें जस का तस प्रस्तुत कर रहा है। लेकिन उसे जो दिखायी दे रहा है उसे प्रस्तुत करने में संयोजन करना पड़ता है–

स्वेत स्याम रतनार अँखियाँ निहार के
सिंडीकेटी प्रभुओं की पगधूर झार के
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आये दिन बहार के !

इसमें नागार्जुन ने अपनी ओर से क्या कहा है? कौन-सी बात ऐसी है जो हम नहीं जानते-पहचानते थे। कमाल ऐसे शब्द-प्रयोग का है जो शब्द-संसार में देखे-सुने की पहचान करा दे। मुख खिलता था, दाँत अनार के होते थे। लेकिन 'खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के'। सारा काम 'खिले हैं' क्रिया ने कर दिया है।

नागार्जुन का शिल्प प्राय: पारम्परिक है। वे प्रयोगधर्मी इस बात में हैं कि जिन स्थितियों और शब्द-प्रयोगों को अपनी अति साधारणता के कारण अकाव्यात्मक माना जाता है, उन्हीं से नागार्जुन अपनी रचनाओं को असाधारण धार देते हैं।

'नेवला' के बक्सरवाले मंजर बाबू के मेजबान की आशंका कितनी वास्तविक है–

देखिए साहब, हमारे बच्चे अभी छोटे हैं
होगा मोतिया आपका लाड़ला
लेकिन खतरनाक जानवर है न !
यह हमारे बच्चों की जूजी काट न खाये
नहीं साहब, इसे हटाइए यहाँ से।
मोतिया नेवले का नाम है।

नागार्जुन कविता में आवृत्तियाँ बहुत अधिक करते हैं। ऐसी आवृत्तियाँ लोक-साहित्य में ही होती हैं। ये आवृत्तियाँ निहायत एकरस और नीरस हो जायें अगर रचनाकार उनमें स्थिति का विकास करनेवाला उपयुक्त और रंजक कथ्य जोड़ न सके। परिवेश को चिन्तक की मुद्रा में पेश करनेवाले कवि बहुत हैं। नागार्जुन की टिप्पणी तीसरे दर्जे में सफर कर रहे अशिक्षित ग्रामीणों के तेवर में होती है। जो दिखायी पड़ रहा है और हमें जैसा दिखायी पड़ रहा है, उसे अपनी भाषा के मुहावरे में बोलना। इसीलिए नागार्जुन की कविताओं में वक्तृता का अनवरुद्ध प्रवाह नहीं, वार्तालाप का आरोह-अवरोह, फैलाव-संकोचन मिलता है।

2- अज्ञेय और मुक्तिबोध : 'असाध्य वीणा' - 'अंधेरे में'

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर बहुत बार अज्ञेय और मुक्तिबोध को एक-दूसरे के प्रतिरोधी चरित्र के रूप में दिखाने की कोशिश की जाती है। तब कई दशकों पहले प्रसाद-प्रेमचंद की जोड़ी की स्थिति याद आती है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन वाले भाषण, ('काव्य में अभिव्यंजनावाद') के अन्त में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने समकालीन लेखकों की सापेक्ष समीक्षा करते हैं। उसके साथ दी गयी वक्ता-लेखक की बहुत-सी महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ विद्वानों की आँख से सहज ओझल हो जाती हैं। समकालीन साहित्य की गतिविधि पर विचार करते हुए जो ऐसे अभिभाषणों का सामान्यत: एक मुख्य अंश होता है, आचार्य शुक्ल कहते हैं (सन्दर्भ नाटक का है) "यह देखकर मुझे अत्यन्त आनन्द होता है कि प्रसाद जी के नाटकों में इस प्रकार के विकास के पूरे लक्षण मिलते हैं, मेरे देखने में अच्छे सामाजिक नाटकों का अभाव अभी बना हुआ है। इसके लिए प्रसाद जी से न कहूँगा। जिस ऐतिहासिक क्षेत्र को उन्होंने लिया है उसीके भीतर उन्हें अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास करना चाहिए।"

आगे उपन्यासों के विकास का परिचय देते हैं। आचार्य की टिप्पणी है:

*मेरे देखने में उत्कृष्ट कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव ज्यों का त्यों बना है। **यदि जयशंकर प्रसाद जी इस ओर भी ध्यान दें** तो इस अभाव की शर्तें बहुत अच्छी तरह हो सकती हैं। मैं तो अपनी ओर से यही कहूँगा कि सामाजिक उपन्यास का क्षेत्र तो वे **प्रेमचन्द जी ऐसे लोगों** के लिए छोड़ दें जो ऐतिहासिक नाटकों की रचना को 'गड़े हुए मुर्दे उखाड़ना' कहते हैं। और स्वयं इतिहास के प्राचीन क्षेत्र में स्वछन्द क्रीड़ा करने वाली अपनी प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर प्रवृत्त करें। (दोनों उद्धरणों में बल मेरा है।)*

यह सम्भव है कि आचार्य के अनुरोध का पालन करने के लिए उपन्यासकार ने **इरावती** की रचना आरम्भ की हो जो बाद में अधूरी रह गयी।

यहाँ रामचन्द्र शुक्ल अपने युग की दोनों मूर्द्धन्य प्रतिभाओं के वैशिष्ट्य की पहचान करते हैं। समय है 1935 ई.। **कामायनी, गोदान** दोनों अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं। एक सजक समीक्षक के रूप में आचार्य शुक्ल अपने समकालीन दोनों लेखकों की रचना-सम्भावना की परख कर रहे हैं, आगे का इतिहास जिस परख को पूरी तरह सही प्रमाणित करता है;

परख कर रहे हैं, आगे का इतिहास जिस परख को पूरी तरह सही प्रमाणित करता है; प्रसाद इतिहास और संस्कृति के व्याख्याता; प्रेमचन्द सामाजिक यथार्थ के चितेरे। अपने युग के पाठकों और आलोचकों से यही दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह मैं करूँगा। यह राजनैतिक चुनाव का क्षेत्र नहीं है कि हमारे पास एक मत है और उसे हम सिर्फ एक प्रतिद्वन्द्वी को दे सकते हैं। यह साहित्य का विराट प्रवाह है जहाँ अनेक धाराएँ एक-दूसरे से मिलती हैं, और हम सभी आस्वाद लेते चलते हैं। विविध नदियों में जल एक है, पर अलग-अलग खनिजों के कारण उनके स्वाद और गुण में अन्तर है, होना चाहिए। इस पृष्ठभूमि में अज्ञेय और मुक्तिबोध के वैशिष्ट्य को समझने का यत्न हो सकता है।

'अँधेरे में' और 'असाध्य वीणा' नयी कविता की इन दोनों लम्बी कविताओं में रचना-शक्ति की खोज का आख्यान है। दोनों अपने-अपने रचनाकारों की शीर्ष-रचनाएँ कही जा सकती हैं; समकालीन आलोचना में इसी रूप में उनकी पहचान भी बनी है। इस दृष्टि से दोनों कविताओं को समझने के क्रम में हम उनके रचनाकारों के वैशिष्ट्य और अलगाव दोनों को काफी दूर तक समझ सकते हैं। एक में समूचा बिम्ब-विधान लिया गया है कविता और कवि जीवन से, दूसरे में संगीत से। 'अँधेरे में' के लम्बे खण्डों में कवि की समस्या है समाज के उत्थान-पतन और आन्दोलनों के बीच अपनी रचना के प्रेरक तत्वों का अभिज्ञान और उनकी बनावट की पहचान : रचना कैसे बाहर से अन्दर आती है और फिर कैसे बाहर दूर-दूर तक परिव्याप्त हो जाती है। कविता का अन्तिम अंश हर ईमानदार कवि का अन्तिम वक्तव्य और साक्ष्य हो सकता है

परम अभिव्यक्ति
लगातार घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ
वह है।
इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा
प्रत्येक गतिविधि
प्रत्येक चरित्र,
व हर एक आत्मा का इतिहास
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श

विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति!
खोजता हूँ पठार-पहाड़...समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मा-सम्भवा।

अन्तर, जैसा कहा गया, दोनों कविताओं के बिम्ब-विधान को लेकर उभरता है: 'असाध्य वीणा' में केन्द्रीय बिम्ब संगीत के क्षेत्र का है जहाँ अनुभूति के रचाव पर विशेष बल है, 'अँधेरे में' का केन्द्रीय बिम्ब लेखन-कार्य से जुड़ा है, मौत की सजा का विधान भी उसी पर आधारित है:

किसी काले डैश की घनी काली पट्टी ही
आँखों में बँध गई,
किसी खड़ी पाई की सूली पर मैं टाँग दिया गया,
किसी शून्य बिन्दु के अँधियारे खड्डे में
गिरा दिया गया मैं
अचेतन स्थिति में!

'असाध्य वीणा' में संगीतकार की सृजन-प्रक्रिया अनुभूति के तईं अपने को समर्पित करने में है (सघन निविड़ में वह अपने को/सौंप रहा था उसी किरीट-तरू को) जबकि 'अँधेरे में' के नायक के लेखन कर्म में वैचारिकता के विविध द्वन्द्व हैं। अनुभूति और रूपाकार का अद्वैत हासिल करने में संगीत को आदर्श माना गया है, और यह भी कहा गया है कि हर कला की साधना संगीत की स्थिति प्राप्त कर लेने में है। पश्चिम में यूनानी ट्रैजडी मानवीय सर्जनात्मकता की श्रेष्ठतम उपलब्धि मानी गयी है। इस दृष्टि से शास्त्रीय हिन्दुस्तानी कण्ठ संगीत भारतीय सन्दर्भ में सृजनात्मकता की श्रेष्ठतम उपलब्धि कहा जा सकता है। गिनती के सात सुरों के विस्तार और प्रस्तार में सृष्टि की सम्पूर्ण अनुभूति समायी हुई है; पर वैचारिकता का क्षेत्र लेखन का ही है। 'असाध्य वीणा' और 'अँधेरे में' सर्जनात्मकता के इन स्तरों को बाबू जी रूपायित करते हैं। एक का प्रभाव उसके 'सन्धीत' होने में है, दूसरे का उसके फैलाव में। अपने विधान में ये दोनों कविताएँ परस्पर पूरक ढँग से एक बढ़िया युग्म उपस्थित करती हैं।

मानव-जीवन में अभिशाप और नियति की टकराहट बड़ी रचनाओं का उपजीव्य होता है। उदाहरण के लिए **कामायनी** को लिया जा सकता है जो मुक्तिबोध की रचनात्मकता के लिए उत्तेजन और चुनौती दोनों रही है; उसका अपने ढँग से विश्लेषण करते हुए कवि ने एक सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया **कामायनी: एक पुनर्विचार**-एक पुस्तक पर केन्द्रित जैसी व्यवस्थित समीक्षा हिन्दी में कठिनाई से मिलेगी। कामायनी में काम द्वारा मनु को शाप दिया जाता है और यों मानवता अपने जन्म के पूर्व ही अभिशप्त हो जाती है, एक अभिप्राय जो ईसाई परम्परा के करीब है। बाइबिल में ज्ञान का वर्जित फल चखने के अपराध में आदम और ईव को स्वर्ग के बगीचे से नीचे गिरा दिया जाता है, और इस आदिम अपराध-बोध से मानवता को अन्त तक आक्रान्त रहना है। शाप का अभिशय भारतीय परम्परा में भी है, पुराणों का शायद ही ऐसा कोई ऋषि हो जो शाप न देता हो। पर यहाँ शाप है तो उसकी मुक्ति का उपाय भी है, शायद ही ऐसा कोई शाप हो जिसे देने के बाद ऋषि ने उससे मुक्ति का उपाय भी न बता दिया हो। प्रसाद इन दोनों अभिप्रायों का सामंजस्य करते हैं। इड़ा सर्ग में काम के लम्बे शाप का प्रसंग है, और फिर अन्त में मनु की संकल्प शक्ति का उदय होता है जो शाप को अपने लिए वरदान के रूप में बदलती है। मनु कहते हैं:

लिख दिया आज उसने भविष्य! यातना चलेगी अन्त-हीन/
अब तो अविशिष्ट उपाय भी न।

और नियति-जाल से मुक्ति दान का उपाय सोचते हैं। उनकी नयी सहायक इड़ा उद्‌बोधन करती है:

अपनी उर्बलता बल सम्हाल/गन्तव्य मार्ग पर पैर धरे। मत कर पसार, निज पैरों चल, चलने की जिसको रहे झोंक/उसको कब कोई सके रोक/'' यों मनुष्य अपनी दुर्बलता को ही बल के रूप में विकसित करता है। काम के शाप का सबसे कठोर अंश है कि अभी तक देवसृष्टि तो अजर-अमर थी, परन्तु अब मानवीय सृष्टि मरणशील होगी। यह मृत्यु की चुनौती एक और उसमें प्रेम करने की क्षमता जगाती है, और दूसरी ओर उसमें सर्जनात्मक शक्ति विकसित करती है। बुनियादी तौर पर ये दोनों प्रक्रियाएँ भी एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। मनुष्य मृत्यु पर विजयी होता है अपने प्रेम से, और अपनी रचना में जो स्थूल स्तर पर उसकी सन्तान है, और सूक्ष्म स्तर पर दर्शन, विज्ञान, साहित्य तथा कलाएँ हैं। यों अभिशाप को काम्य नियति के रूप में बदल लिया जाना **कामायनी** की वस्तु का एक प्रधान तत्व है। मनुष्य अपनी मरणशीलता को सर्जनात्मक शक्ति के प्रेरक तत्त्व

रूप में स्वीकार करता है। जो अभिशाप था वह अब नियति है, भाग्य के अर्थ में नहीं, एक अज्ञात विशिष्ट लक्ष्य के रूप में। 'अँधेरे में' के चरित-नायक कवि की कोशिश कविता में आरम्भत: वर्णित 'मौत की सजा' को अन्तत: 'परम अभिव्यक्ति अनिवार्य/आत्मसम्भवा' के रूप में पहिचानना है, अभिशाप को नियति के रूप में बदल लेना है। यहाँ' पहुँचकर रचनात्मक विधि पूरी होती है, और फिर प्रारम्भ भी हो जाती है

इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँक कर देखता हूँ हर एक चेहरा

कामायनी में मनु की तलाश आनन्द सर्ग के अन्त में अपनी स्वाभाविक निष्पत्ति तक पहुँचती है, 'असाध्य वीणा' के केशकम्बली की भी। पर 'अँधेरे में' का अन्त खुला हुआ **है**। जहाँ कविता का अन्त होता है वहाँ कवि की तलाश फिर शुरू हो जाती है–

खोजता हूँ पठार.....पहाड़.....समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम् अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-सम्भवा।

रचना-प्रक्रिया की बड़ी सटीक पहचान 'अँधेरे में' हुई है। पहले भूमि की सतह के नीचे कवि बिखरे हुए रत्नों की राशि देखता है और पहचानता है-"दीप्ति में वलयित रत्न वे नहीं हैं। अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष। मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं।'' यह सामाजिक अवचेतना से कवि की गहरे जुड़ी चेतना है। दूसरी ओर गांधी उसे सन्देश देते हैं, "जनता के गुणों से ही सम्भव भावी का उद्भव...''। यह भविष्यत् की चेतना का आख्यान है। कविता के समापन अंश में रचना-शक्ति का सामान्य जन-जीवन में, 'लोगों की भीड़' में विलय हो जाता है।

एकाएक वह व्यक्ति
आँखों के सामने
गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में
चला जा रहा है।
वही जन जिसे मैंने देखा था गुहा में।

धड़कता है दिल

कि पुकारने को खुलता है मुँह

कि अकस्मात

वह दिखा, वह दिखा

वह फिर खो गया किसी यूथ में

उठी हुई बाँह यह उठी रह गयी।

भीड़ में मिल जाता है, और जहाँ से कवि की खोज शुरू होती है।

*खोजता हूँ पठार.....पहाड़.....*समुन्दर

दोनों कविताओं की वस्तु और विधान ही नहीं उनके शीर्षक भी सर्जन प्रक्रिया के अन्वेषण को संकेतिक करते हैं। 'अँधेरे में' सृजन का आवश्यक परिवेश और सन्दर्भ है। 'असाध्य वीणा' को साधने के क्रम में कलाकार भी अपने को 'सघन निविड़' में उतारता है। अन्दर और बाहर की अन्तर प्रक्रिया इन दोनों लम्बी कविताओं में रचनात्मक का उत्स है। 'असाध्य वीणा' के लम्बे खण्ड में साक्षात्कार-प्रक्रिया के जो विविध रूप अंकित हुए हैं। 'अन्न की सौंधी खुदबुद' से लेकर 'प्रलय का डमरू नाद' तक उन्हें मुक्तिबोध 'हर गली में' 'हर सड़क पर' 'हर एक चेहरा' झाँक-झाँक देखते हैं कि कहीं वह 'परम अभिव्यक्ति अनिवार' मिल जाय। 'असाध्य वीणा' में संगीत के साक्षात्कार सम्बन्धी चित्रों का वैविध्य पहले अंकित कलाकार के अपने जीवनानुभव के वैविध्य से तुलनीय है:

हाँ मुझे स्मरण है:
बदली-कौंध-पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पट-पट
घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना
चौंके खग-शावक की चिहुँक
शिलाओं के दुलराते पन झरनों के
द्रुत लहरीले जल का कल निनाद।
कुँहरे में छनकर आती
पर्वती गाँव के उत्सव ढोलक की थाप।

पर अन्दर और बाहर की टकराहट में गुणात्मक महत्व दोनों कविताओं में अन्दर का ही ठहरता है। मुक्तिबोध कविता की अन्तिम पंक्ति में अपनी 'परम अभिव्यक्ति अनिवार' को समाज की हर टकराहट के बाद और बावजूद 'आत्म-सम्भवा' कहते हैं।। इस अन्तिम

अंश की तुलना 'असाध्य वीणा' के समापन-अंश से करने योग्य है, जहाँ कलाकार अपनी सृजन-प्रक्रिया का रहस्य समझता है :

श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में-
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था-
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था:
वह तो सब कुछ की तथता थी-
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है।

मुक्तिबोध की ''परम अभिव्यक्ति' 'जग में' 'लगातार घूमती' हुई 'आत्म-सम्भवा' है, अज्ञेय के लिए वहीं 'सब कुछ की तथता' 'अविभाज्य' और 'अनाप्त' हो जाती है। जो 'अनाप्त' है वही 'आत्म-सम्भवा' हो सकती है। और यों दोनों कविताओं में वर्णित सृजन-प्रक्रिया सम्पन्न एक बिन्दु पर होती है। उठान दोनों की अलग-अलग है, पर विस्तार और निष्पत्ति में दोनों एक-दूसरे के बहुत करीब हैं। सृजन-प्रक्रिया को वस्तु-रूप में लेकर चलने वाली ये कविताएँ अनायास दोनों कवियों का सम्मिलित काव्य-शास्त्र बन जाती हैं।

3- अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा

निर्मल वर्मा

अज्ञेय अपनी पीढ़ी के उन कम लेखकों में हैं—शायद अकेले—जिन्होंने साहित्य-सृजन के बाहर स्वयं 'रचनात्मक-सृजन' को अपनी चिन्ता और मनन का विषय बनाया है। इस सन्दर्भ में दूसरे लेखक **जैनेन्द्र कुमार** का नाम भी अनायास याद आता है, जो अपने समय की विडम्बनाओं से उलझते रहे हैं। जैनेन्द्र के चिन्तन का घेरा यदि कुछ अमूर्त है, तो अज्ञेय के घेरे से ज्यादा व्यापक भी, एक हद तक मूलगामी भी। दोनों की चिन्तन-यात्रा में ऐसे पड़ाव भी आते हैं, जहाँ दोनों एक-दूसरे से मिलते भी हैं; समय, समकालीनता और नैतिकता जैसे प्रश्न दोनों को ही परेशान करते हैं। इसके बावजूद दोनों के बीच एक आधारभूत अन्तर है।

अज्ञेय अधिकांश समय (दुर्भाग्यवश हमेशा नहीं) याद रखते हैं कि वह लेखक हैं—दार्शनिक नहीं। समस्याएँ चाहे एक-सी हों, कवि के चिन्तन के औजार, सोचने का ढंग, विचारों को छूने की प्रक्रिया कुछ अलग होती है; यह नहीं कि एक लेखक दार्शनिक नहीं हो सकता, किन्तु उसका 'दर्शन' हमें उसकी दार्शनिक स्थापनाओं में नहीं खोजना चाहिए। लेखक का दर्शन "सोच के विषयों में नहीं, बल्कि स्वयं सोच की प्रक्रिया और उसके व्यवहार में निहित होता है।" **पॉल वैलेरी** का यह कथन हमेशा ही अज्ञेय की सोच पर लागू नहीं होता। वह अक्सर दार्शनिक सूक्तियों में फिसल जाते हैं, किंतु अधिकांश समय वह इस तथ्य के प्रति सचेत रहते हैं कि लेखक का सृजन-संघर्ष विचारों से नहीं, शब्द और भाषा से जुड़ा रहता है। कहते हैं एक बार चित्रकार **देगा** ने कवि **मलार्मे** से कहा, "अजीब है तुम लेखकों का धन्धा ! मेरे पास इतने ढेर से विचार हैं, लेकिन मैं लिख नहीं सकता।" मलार्मे ने उत्तर दिया, 'प्यारे देगा, कविता विचारों से नहीं, शब्दों से बनती है।'

कविता के इस सत्य के प्रति अज्ञेय जितना सचेत और जागरूक रहे हैं, शायद उनकी पीढ़ी के अन्य लेखक नहीं, और यह बात इसलिए भी उल्लेखनीय लगती है, कि स्वयं विचारों से उनका गहरा सम्बन्ध रहा है। यही कारण है, उनकी कविताएँ बौद्धिक न होकर भी 'वैचारिक आलोक' में लिपटी रहती हैं। एक समय में एलियट ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था—और यदि मैं गलती नहीं करता—तो उन्होंने उनके एक-दो लम्बे निबन्धों का मुक्त अनुवाद भी किया था। **एम.एन.राय** का राजनैतिक चिन्तन उनकी आरम्भिक प्रेरणाओं में प्रमुख रहा है। गांधीजी ने शायद उन्हें कभी उद्वेलित नहीं किया; वह असली अर्थों में 'नेहरू युग' के प्रतिनिधि लेखक माने जा सकते हैं—रेडिकल, लेकिन मार्क्सवादी नहीं; लोकतन्त्र

की मान्यताओं में विश्वास करनेवाले, जिसके भीतर उन्होंने 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना; अपनी मानसिक संरचना में अज्ञेय बहुत हद तक बंगाल रेनेसेन्स के बुद्धिजीवियों के उत्तराधिकारी रहे हैं। पश्चिमी भावबोध के प्रति एक खुला मोह और आकर्षण, किन्तु अपनी जातीय परम्परा और भाषा के प्रति गहन स्तर पर, संवेदनशील; अपने सरोकारों और मान्यताओं में ज्यादा अन्वेषणशील नहीं; शायद ही उन्होंने कभी सतर्क रूप से पश्चिमी प्रभावों के सन्दर्भ में अपने जातीय अनुभव का पुनर्परीक्षण किया हो—फिर भी अपनी प्रतिक्रियाओं में प्रखर, जीवन्त और स्पंदनशील। नेहरू-युग की भव्य उदारता और घोर आश्चर्यजनक अमौलिकता, एक आत्मतुष्ट, संदिग्ध किस्म का सन्तुलन—संवेदनशील किन्तु सीमित 'हार्मनी' के आदर्श से मुग्ध—इसलिए हिन्दुस्तानी अनुभव के उन सब विकारों, विसंगतियों विडम्बनाओं से विमुख—जो उनके सामंजस्य, सौन्दर्य-बोध को भंग करता हो; आत्मलिप्त और बाहरी उदारता के बावजूद भीतर से कहीं बहुत भीरु, संकीर्ण, उदासीन; नेहरू-युग का उदात्त सौन्दर्य और जड़गत सीमाएँ—दोनों ही अज्ञेय के कर्म और चिन्तन में देखी जा सकती हैं।

इन तीन पुस्तकों* में अज्ञेय ने विगत जीवन के फैले चिन्तन-संसार से कुछ अंश, विचारखण्ड, सूक्तियाँ , यात्राओं के इम्प्रेशन्स जमा किये हैं। उन्होंने इस चिन्तन-यात्रा की अवधि, समय, क्रॉनोलॉजी का कोई हवाला नहीं दिया, जो मुझे कुछ अजीब सी बात लगती है। हमें कुछ पता नहीं चलता, कौन-सी पुस्तक, उपन्यास या कविताएँ लिखते हुए या किन राजनैतिक, सामाजिक घटनाओं के सन्दर्भ में उनके ये विचार या प्रतिक्रियाएँ एक 'शाश्वत अर्थ' के अलावा एक निजी, तात्कालिक दबाव प्रस्तुत करती हैं। इसीलिए इन पुस्तकों में सिर्फ एक फैला हुआ चिन्तन-प्रदेश मिलता है, यात्रा का उतार-चढ़ाव नहीं, मील के पत्थर नहीं, जिन पर एक क्षण बैठकर हम लेखक के पाँव-चिन्ह आँक सकें, कहाँ वह ठिठका था, कौन-सी राह चुनी थी, किस पगडण्डी पर कुछ दूर चलकर वापस मुड़ गया था; हमें यह भी पता नहीं चलता, किस ठोकर की आह और दर्द इन पन्नों पर अंकित है। लगता है, जो कुछ है, वह हमेशा से था; जो नहीं है, वह कभी नहीं था। इन पुस्तकों में 'समय का अभाव' अज्ञेय के विचारों को शाश्वतता देता है—अच्छे अर्थों में नहीं—एक लम्बी यात्रा से अर्जित किये शंकालु, अनिश्चित, विकल सत्य नहीं—बल्कि ऐसे साफ़-सुथरे अनुभव-सत्य जो मानो लेखक के पास पहले से ही उपलब्ध थे। विचार-सूत्र और सूक्तियाँ अपना महत्त्व रखती हैं, किन्तु वे 'निर्मित माल' हैं, उनके पीछे अनुभवों की कच्ची धातु और अन्वेषी भटकन से हम प्राय: अपरिचित रह जाते हैं।

---

* भवन्ती, अन्तरा, शाश्वती

यह बात इसलिए भी अखरती है क्योंकि स्वयं अज्ञेय ने इन पुस्तकों को अपनी सृजन-यात्रा का 'लॉग बुक' माना है जिसके आधार पर "यात्रा के पदचिन्ह, अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों तथा धाराओं, जोखिम, भटकन, प्रत्युत्पन्न सूझ का ब्यौरा मिलता है।" क्या ऐसा है? अज्ञेय की एक लम्बी, विविध, संघर्षपूर्ण ज़िन्दगी रही है—पार्टीशन से पहले का लाहौर, जो एक समय कलात्मक गतिविधियों का केन्द्र था, आतंकवादी आन्दोलन, कारावास, युद्ध के दौरान बर्मा के मोर्चे पर सैनिक अनुभव, बीहड़ यात्राएँ—शायद ही किसी हिंदी-लेखक का अनुभव-संसार—'लॉग बुक' की सामग्री—इतनी विराट और समृद्ध रही हो, जितनी इन पुस्तकों के लेखक की—किन्तु स्वयं इन पुस्तकों में इनकी कोई झलक, कोई ब्यौरा, 'अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों' का तनिक भी लेखा-जोखा नहीं मिल पाता। तीनों पुस्तकों में स्थानों, घटनाओं और व्यक्तियों का असाधारण शून्य और अभाव है। लेखक हमें जिस 'सागर पथ' को देखने का निमन्त्रण देता है, वहाँ समुद्र की लहरें, ज्वारभाटा, आँधी-तूफ़ान का परिदृश्य नहीं मिलता—सिर्फ़ अज्ञेय की 'अन्त:प्रक्रियाएँ' देखने को मिलती हैं—अपने में अन्त:दृष्टिपूर्ण, मर्मज्ञ, मूल्यवान—लेकिन उनका 'लॉग बुक' के मैले, फटे पानी के धब्बों से भरे पन्नों से दूर का रिश्ता नहीं—जिन्हें उठती हुई लहरों और हिलती हुई लालटेन के बीच दर्ज किया जाता है।

इससे इन पुस्तकों का महत्व कम नहीं हो जाता—सिर्फ़ लेखक के निजी दावों से जो आशा बँधती है, वह पूरी नहीं होती। एक अफसोस-सा होता है कि हम एक ऐसे दुर्लभ मौके से चूक गये, जहाँ हम एक लेखक की दुनिया को अन्तरंग भाव से देख पाते, जिसके बीच स्वयं लेखक की प्रतिक्रियाएँ एक जीवन्त सन्दर्भ ग्रहण कर पातीं। ज़रूरी नहीं, लेखक अपनी डायरी या जर्नल लिखे—स्वयं अज्ञेय इन्हें डायरी नहीं मानना चाहेंगें—किन्तु यदि इन्हें महज़ विचार-सूत्रों के संकलन से कुछ अधिक होना था, तो ज़रूरी था, वांछनीय भी, कि हम लेखक के बौद्धिक आग्रहों के पीछे उन व्यक्तिगत अनुभवों की पीठिका भी जान पाते, जिनके रहते ही कोई विचार सूत्र, और अन्तर्दृष्टि, अमूर्त चौखटे से उठकर एक निजी, विशिष्ट किस्म की गरमाई और स्पन्दशीलता ग्रहण कर पाती है।

यह नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। जब कभी अज्ञेय अपनी बुद्धि से उतरकर आँख पर आते हैं, तो एक अद्भुत, मांसल सेन्सुअल लगाव का लैण्डस्केप आलोकित हो उठता है। शायद ही किसी आधुनिक लेखक ने 'चर-अचर' की दुनिया को इतने उत्सुक भाव से देखा हो, जितना अज्ञेय ने। कैमरे की आँख की तरह उनकी दृष्टि हर लय, थिरकन और ठहराव को पूरी डिटेल के साथ रजिस्टर कर सकती है: "पत्थर के झरते पत्ते से अधिक सुन्दर किसी चीज़ की कल्पना नहीं कर पा रहा हूँ । वह धीरे-धीरे, लय के साथ डोलते

हुए झरना– मानो धरती के गुरूत्वाकर्षण से मुक्त होकर, भारमुक्त होकर तिरना....कोई भी लययुक्त गति–फुलचुही का पंख फड़फड़ाते हुए क्षणभर को अधर में अटक जाना; अच्छी तैराकी, घुड़दौड़ की सरपट, अबाबील की लहराती या बाज-सी सीधी उड़ान; हिरण की छलाँग जो अपने शिखर पर एक साथ ही निश्चेष्ट और निरायास अग्रसर हो जाती है.....''

यह महज़ एक लिरिकल उच्छ्वास नहीं है; यह एक ऐसी मर्मज्ञ आधुनिक दृष्टि है जिसके पीछे 'खोने की पीड़ा' भी छिपी है, यह तीखा बोध, कि जिस युग और दुनिया में हम रह रहे हैं, उसमें लय का यह नैसर्गिक स्पन्दन, इस स्पन्दन को देखनेवाली दृष्टि धीरे-धीरे धुँधलाती जा रही है। यहीं खास इस बिन्दु पर 'आधुनिक मशीनी संस्कृति' के प्रति एक बुद्धिजीवी की वितृष्णा और पीड़ा सार्थकता प्राप्त करती है। अज्ञेय का प्रकृति-बोध इस दृष्टि से छायावादी बोध से बहुत अलग है–वह पहाड़ों को देखकर मुग्ध होते हैं, तो नीचे जंगलों में पेड़ों के कटने का आर्तनाद भी सुनते हैं; बल्कि यूं कहें, यह 'कटने' का बोध उन्हें प्रकृति के लगाव में 'एंगुइश', एक गहरी दरार अंकित कर जाता है। उनकी कविताएँ अपने प्रतिद्वन्द्वी रूपकों के बीच एक तरह से, क्रॉस रेफरेंस' बन जाती हैं–सचेत अन्तर्मुखी आधुनिकता और प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच। मेरे विचार में समकालीन भारतीय लेखन की 'आधुनिकता' की यह सबसे प्रामाणिक कसौटी है कि परम्परा से विगलित हो जाने के बावजूद–स्वयं आधुनिक उपकरणों पर वह कितनी गहरी चोट कर सकता है स्वयं चोट खाकर कैसे अपनी प्रतिक्रिया प्रकट कर सकता है।

अज्ञेय चोट खाकर परम्परा की तरफ नहीं मुड़ते, न किसी भविष्यवादी दर्शन की ओर; वह अपनी तरफ मुड़ते हैं, जहाँ वह स्वतन्त्र रूप से अपनी परम्परा से जुड़ सकते हैं, अपने भविष्य को चुन सकते हैं। आलोचकों ने जिसे अज्ञेय का 'अहं' माना है, वह वास्तव में लेखक का कवच है, सिर्फ अपने को सुरक्षित रखने का यन्त्र नहीं, बल्कि उन मूल्यों को बचाने का साधन भी, जो नष्ट हो रहे हैं, जिन्हें जानबूझकर प्रगति, आधुनिकता और युग-धर्म के नाम पर नष्ट किया जा रहा है।

किन्तु चुनाव का संघर्ष, परम्परा और आधुनिक बोध के बीच एक हिन्दुस्तानी लेखक की सृजन-कामना, अपनी निजी स्वतन्त्रता के बीच भारतीय परिवेश के अन्तर्द्वन्द्वों से जूझने की छटपटाहट–वे सब तत्त्व जो एक भारतीय लेखक को एक विशिष्ट आयाम देते हैं, अज्ञेय में अन्ततः अपने 'मैं' के इर्द-गिर्द चक्कर खाकर खत्म हो जाते हैं। हमें आश्चर्य होता है, कि अपनी परम्परा से सम्पन्न होने पर भी–और उसके बावजूद–अज्ञेय ने कभी

आलोचनात्मक, क्रिटिकल दृष्टि से उस 'आधुनिकता' की जाँच-पडताल नहीं की, जो पिछले तीस वर्षों से एक लेखक के लिए बोझ, दबाव और चुनौती की तरह प्रस्तुत होती रही है, न ही दूसरी तरफ स्वयं आधुनिक दृष्टि से उन्होंने अपनी जातीय परम्परा का मुखर विवेचन और परीक्षण ज़रूरी समझा, जो वह पश्चिमी संस्कृति के अपने ज्ञान और अनुभव के कारण कर सकते थे। वह उन बहुत कम हिन्दी-लेखकों में हैं जो एक साथ अपनी परम्परा के प्रति संवेदनशील और पश्चिमी साहित्य के प्रति सजग रहे हैं। यह बात इसलिए भी अखरती है कि स्वयं अज्ञेय के समकालीन बुद्धिजीवियों ने—मैक्सिको में पाज़, अल्जीरिया में फेनन (यदि हम तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के लेखकों तक अपने को सीमित रखें) ने इन्हीं समस्याओं के सन्दर्भ में अपने 'मैं', अपनी जातीय अस्मिता, स्वयं अपने साहित्य-कर्म को परिभाषित करना चाहा था। हिन्दुस्तान में यह काम सिर्फ़ राजनीति में हुआ—गांधी और उसके बाद लोहिया के कर्म-चिन्तन में—साहित्य इससे बिल्कुल अछूता और सूना पड़ा रहा। इन प्रश्नों के अभाव में ही अज्ञेय और प्रगतिवादियों के बीच बहस—व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समूहवाद के बीच सैद्धान्तिक द्वन्द्व—आज इतना सरलीकृत, अमूर्त और अप्रासंगिक जान पड़ता है। इस बहस में अज्ञेय के विचारों से सहमत होते हुए भी बार-बार एक अजीब असन्तोष का अनुभव होता है, मानो हम दुराग्रहों, सिद्धान्तों और अहं की कुहेलिका में फँसकर भारत के केन्द्रीय सांस्कृतिक संकट की समस्याओं से कतरा रहे हों—समस्याएँ जो न सिर्फ़ 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' में सिकोड़ी जा सकती हैं, न समाजवाद के जादुई मन्त्र और फार्मूले से सुलझाई जा सकती हैं।

और तब मुझे अपने असन्तोष का कारण मालूम होता है—अज्ञेय अधिकांश समय 'मैं' से उठकर 'अन्य' की ओर जाते हैं, अन्य से मुड़कर 'मैं' की ओर। 'मैं' हमेशा सुसंस्कृत, सतर्क और शालीन है, 'अन्य' हमेशा उच्छाड़, ग़लत और हास्यास्पद। इस 'लडाई' में अज्ञेय हमेशा जीत जाते हैं, बिना यह जाने कि जिस 'अन्य' का उन्होंने निर्माण किया है, वह उनके 'मैं' का ही अँधेरा पक्ष है। इस आदर्श 'मैं' और क्षुद्र 'अन्य' के बीच की धरती पर उनकी निगाह कम ही पड़ती है, और जब पड़ती भी है, तो भी वह इस धरती की धूल-गर्द, इतिहास की लौहवत् पदचाप, सृजन-कर्म का आधुनिक संकट, खास हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवी की यातनामय विडम्बनाओं से अपना आँचल बचाये रखते हैं। न तो उनका 'मैं' इतना आत्म-आलोचनात्मक है, अपने को तार-तार कर देनेवाला निर्मम, निष्पक्ष 'मैं' जिसके क्षत-विक्षत कवच के पीछे हम उनकी अन्तरात्मा देख पायें, जिसके हर स्पन्दन में 'बाहर' की धमनी धड़कती है, न उनका 'अन्य' ऐसा है, जो इतिहास के कुरुक्षेत्र में, खास अपने समय के धुआँधार नैतिक-द्वन्द्वों के बीच एक तात्कालिक विश्वसनीयता, एक कसौटी,

एक प्रामाणिक परिप्रेक्ष्य बन सके। वात्स्यायनजी की हर बात महत्वपूर्ण है, चाहे वह भाषा के बारे में हो या आज की राजनीतिक संस्कृति के सम्बन्ध में, किन्तु जिस बौद्धिक कोण से वह बात उठाते हैं, उसमें किसी तरह का मानवीय लगाव, कोई नैतिक परेशानी, कोई तीखा, तात्कालिक 'स्टेक' नहीं मिलता; और तब मुझे लगता है कि जिस तरह पेण्टिंग और कविता में केवल रंग या शब्द अपने में कोई महत्व नहीं रखता, जब तक वह अपनी उचित, सही 'स्पेस' से नहीं बोलता, उसी तरह किसी लेखक की वाणी तब तक सत्य की खनक नहीं प्राप्त करती, जब तक लेखक स्वयं एक ऐसी स्पेस, एक ऐसी जगह नहीं चुनता, जहाँ से उसके शब्द, उसकी दृष्टि, उसके आग्रह, शाश्वत की सांसारिकता और संसार का अकेलापन एक साथ ही अपने युग के चेहरे पर अंकित नहीं कर जाते।

अकेलापन ! सम्भव है, अज्ञेय ने अपने 'मैं' के इस अकेलेपन में ही अपनी 'स्पेस' को खोजना चाहा हो। यह अकेलापन ओढ़ा हुआ नहीं है, दिखावटी नहीं है। इसका एक छोर यदि अज्ञेय की आत्मसुरक्षा से जुड़ा है, तो दूसरा छोर हिन्दी साहित्य के उस भयावह वातावरण से बँधा है—जिसमें अज्ञेय ने अपने सर्वश्रेष्ठ वर्ष गुज़ारे हैं। शायद ही किसी लेखक ने अपने ऊपर इतने मूढ़, वैमनस्यपूर्ण, कर्कश प्रहार झेले हों, जितना अज्ञेय ने। एक समय था, जब उन्हें **फ्रायड और लॉरेंस** का 'नकलची' अनुयायी बताया गया—'मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का शिकार', (खासकर उन मार्क्सवादी आलोचकों ने, जिन्होंने न फ्रॉयड पढ़ा था न लॉरेंस और शायद मार्क्स भी नहीं), फिर 'शीतयुद्ध' के दिनों में वह 'अमेरिकी एजेण्ट' घोषित किये गये, बाद के वर्षों में उन्हें 'गिराने' के लिए समीक्षकों ने बेचारे मुक्तिबोध को अस्त्र बनाया—वही मुक्तिबोध, जो अपने जीवनकाल में इतने अधिक उपेक्षित बने रहे।

जब किसी साहित्य में सार्थक, जीवन्त और संयत समीक्षा-पद्धति मुरझाने लगती है, तो उसके साथ अनिवार्यतः एक परजीवी वर्ग, एक साहित्यिक माफिया पनपने लगता है—एक तरफ विश्वविद्यालयों के साहित्यकार समीक्षक, दूसरी तरफ 'मेरे हमदम, मेरे दोस्त' जैसे अक्खड़ अखाड़ेबाज आन्दोलनकर्त्ता, तीसरी तरफ साप्ताहिक दैनिकों में नौकरी करनेवाले लेखक पत्रकार। इन लोगों का साहित्य और संस्कृति के मूल्यों से सरोकार नहीं, किन्तु पिछले वर्षों में इनके हाथों में एक छद्म किस्म की ताकत जमा होती गयी है। एक तरह से भारतीय राजनीति की निर्मूल और मूल्यहीन सत्तावादिता जीवन के हर क्षेत्र को दूषित कर गयी है; यह आश्चर्य की बात होती, यदि साहित्य इससे अछूता रह जाता। **समकालीन हिन्दी साहित्यकार संस्कृति से अपने को जोड़कर राजनीति में इस अनैतिक, अनाधिकार**

हस्तक्षेप को रोक सकता था। इसके विपरीत हुआ यह कि स्वयं साहित्य संस्कृति से कटकर राजनीति के सत्तामत्त मतवादी दबाव के आगे घुटने टेकने लगा।

ऐसी दम घोंटनेवाली स्थिति में साहित्यकार का अकेलापन पलायन नहीं, स्वयं इस स्थिति का विरोध, एक निजी प्रोटेस्ट, एक चुनौती भरा अस्वीकार हो सकता है, होना चाहिए, ऐसा मैं मानता हूँ । अज्ञेय के अकेलेपन को हम केवल हिन्दी के इस वाचाल, अर्थहीन, मरुस्थली सन्दर्भ में ही आँक सकते हैं। हिन्दी के अधिकांश पत्रकार समीक्षकों की मुखरता के पीछे जो विवेकहीन, अर्थहीन शब्दों का घटाटोप है, उसे स्वयं लेखक कवि के अलगाव में सिमटा हुआ 'शब्द' तोड़ सकता है। साहित्य में सृजनात्मक बोध और कलात्मक संवेदना को बचाना, स्वयं साहित्य को बचाने की एक नैतिक चुनौती बन गया है। अज्ञेय एक लेखक के नाते इस चुनौती को स्वीकार करते हैं। इन पुस्तकों की एक बड़ी सार्थकता शब्द की उस गरिमा में निहित है, जो भीतर के मौन और मनन से फूटकर अपनी विशिष्ट, निजी खोज को रेखांकित करती है। मुश्किल तब आती है, जब अज्ञेय स्वयं अपने इस 'अकेलेपन' के प्रति ज़रूरत से ज्यादा सजग हो जाते हैं, उसे एक विवशता न मानकर आभूषण समझने लगते हैं, मानो वह दुनिया को दिखाकर बार-बार यह कहना चाहते हों, देखो, मैं तुमसे कितना अलग-थलग रह सकता हूँ । इससे संकोच और खीज दोनों ही होती है। यह नहीं, कि अज्ञेय के अकेलेपन की सच्चाई पर सन्देह होता है, वह सिर्फ़ थोड़ा-सा अवमूल्यित हो जाता है। अवमूल्यित सिर्फ इसलिए नहीं होता कि लेखक स्वयं उसे दर्शाता है—बल्कि एक गहरे मूल बुनियादी अर्थ में भी—जब हम पाते हैं कि अज्ञेय ने अपने इस अकेलेपन की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए किसी भी सरकारी पुरस्कार, ओहदे, बड़ी अखबारी नौकरी को अस्वीकार नहीं किया। राजमार्ग ने उन्हें न चुना हो, स्वयं उन्होंने राजमार्ग पर चलने में—जब कभी उन्हें ऐसा अवसर मिला हो—कोई अनिच्छा या नैतिक आपत्ति दिखायी हो, ऐसा उनके जीवन-कर्म में देखने को नहीं मिलता—कहीं ऐसा नहीं दिखता कि अकेलेपन ने उन्हें दुनिया के प्रलोभनों से अलग—स्वयं अपने लेखन में ही सन्तुष्ट होना सिखाया हो। वह दूसरों की यशलिप्सा की खिल्ली उड़ा सकते हैं (देखिए **भारतीजी** के पद्मश्री मिलने पर उनका व्यंग्यात्मक मुक्तक) स्वयं अपनी महत्वाकांक्षाओं के खोखलेपन पर नहीं हँस सकते। **वर्जीनिया वुल्फ** ने एक समय किसी सरकारी सम्मान को अस्वीकार करते हुए अपनी डायरी में लिखा था, "मैं सिर्फ अकेले में रहना चाहती हूँ .....जिस दिन सम्मानों की तरफ भागूँगी, लिखना बन्द कर दूँगी।''

ये शब्द अज्ञेय के लिए—उनके समूचे अकेलेपन के बावजूद—कितने पराये जान पठते हैं : वह मानो स्वयं अपने स्वच्छ एकान्त के आगे—कुछ छोटे से पड़ जाते हैं।।

"मैं अकेलापन चुनता नहीं, स्वीकार करता हूँ", अज्ञेय ने लिखा है : यह स्वतन्त्र स्वीकृति ही उन्हें आत्मकेन्द्रित होने से बचा लेती है। अज्ञेय अहं सम्मोहित भले ही हों, आत्मकेन्द्रित नहीं हैं, जिस अर्थ में प्रगतिवादियों ने उन पर आरोप लगाया है। मुझे यह आरोप हमेशा ग़लत और अर्थहीन जान पड़ता है। अज्ञेय में दूसरों तक पहुँचने की गहरी ललक, सम्प्रेषणीयता में अदम्य विश्वास है, जो उनकी कविताओं में एक अजीब तरह की चमकीली ऋजुता, एक तरह की सहज उच्छलता, गहन विचारों के बावजूद एक आत्मविश्वासी हल्कापन ले आता है। वह दुरूह हो सकते हैं, अस्पष्ट नहीं और दुरूहता भी कभी श्रमसाध्य नहीं होती। **"लेखक होने के नाते दूसरे तक पहुँचना—उसके भीतर पैठकर उसे अपने भीतर पैठने देना—पैंठाना—मैंने अनिवार्य माना है।"** आज के प्रचारवादी युग में जहाँ सम्प्रेषणीयता की कीमत शब्दों को अवमूल्यित करके चुकानी पड़ती है, वहाँ अज्ञेय अपनी भावनाओं को अक्षुण्ण रखते हुए भी—एलीट मनोवृत्ति और 'सामान्य आदमी' के वल्गर सरलीकरण से ऊपर उठकर कलात्मक सम्प्रेषणीयता की चुनौती का सामना कर सके, यह उनकी साहसपूर्ण उपलब्धि है। उनके भीतर एक अद्भुत आत्मसंयम है—जो उनके रोमाण्टिक भावबोध को भी एक सीमा बाद विगलित नहीं होने देता, बिखरने नहीं देता। यह क्लासिक किस्म का सौष्ठव उनके रोमाण्टिक रुझानों को—स्वयं 'रोमाण्टिक' शब्द को एक नया संस्कार देता है। आधुनिकता और यथार्थवादिता की धारा में बहते हुए जहाँ आलोचकों ने 'रोमाण्टिक' शब्द को ही विकृत और कला से बहिष्कृत करना चाहा है, वहाँ अज्ञेय ने उसे रोमानी प्रवृत्ति से अलग करके एक ऐसे अनुभव के साथ जोड़ा है जो छायावादी परम्परा को एक नया सन्दर्भ, और आयाम देता है।

किन्तु अज्ञेय का रोमाण्टिसिज्म शमशेर और मुक्तिबोध से बहुत भिन्न है। उनका 'मैं' शमशेर का कवि नहीं, जो दुनिया में अपने 'होने' की प्रसवपीड़ा भोगता है, खुद उसमें लय होना चाहता है ताकि अपने खुरदरे, बेलौस अस्तित्व के लिए कोई लय, कोई रंग, कोई राग हासिल कर सके। न अज्ञेय की दुनिया मुक्तिबोध की दुनिया की तरह इतनी भयावह, भीमकाय और घुमावदार है, जो स्वयं कवि के 'मैं' पर चोट करती है, नाखूनों से खरोंचती है, लहूलुहान करती है। अज्ञेय निरीह नहीं हैं, वलनर्बेल नहीं हैं, वह अपने को, अपनी कविता को बचाने की कला जानते हैं। उनकी कोई कविता कभी इतनी अटपटी नहीं होती, जितनी मुक्तिबोध की कुछ कविताएँ हो जाती हैं, किन्तु वह अपनी दुनिया को छोड़कर उस 'अँधेरे में' भी नहीं जाते जहाँ कविता एक अद्भुत मिथक शक्ति प्राप्त कर लेती है, जहाँ कविता का जोखिम ही कविता के सत्य को नापने का यन्त्र बन जाता है। अज्ञेय में यदि अपनी दुनिया को झेलने की शक्ति है, तो इसलिए कि वह अपनी दुनिया को रचाने

की कला जानते हैं, एक ऐसा कवच और कुशन, जिस पर प्रहार पड़ते हैं तो खाल थरथराती अवश्य है, अपने को घायल नहीं होने देती। स्वयं अज्ञेय के शब्दों में, "मैं अपनी दुनिया में रहने का आदी हूँ ; और गहरे में कहीं जानता और मानता आया हूँ कि वह दुनिया मैं ही बनाता हूँ, मैने ही बनायी है, मैं ही गिराऊँगा।" और यह लिखने के बाद उन्हें तुरन्त बोध होता है कि उन्होंने स्वयं अपने 'अहं' की सबसे सही परिभाषा दे दी है, इससे उन्हें अपनी दुनिया की परिहार्यता या अपने 'मैं' की सीमाओं पर क्लेश नहीं होता, सिर्फ़ इसलिए होता है कि दूसरे लोग इसे क्या कहेंगें; तुरन्त इन वाक्यों के बाद वह लिखते हैं, "इसीलिए लोग अहंवादी या अयथार्थवादी कहते हैं, तो क्लेश भले ही हो, आश्चर्य नहीं होता।"

यह अज्ञेय के रोमाण्टिसिज्म की घोर सीमा है, जहाँ वह मुड़कर अपनी दुनिया पर आलोचनात्मक दृष्टि नहीं डाल पाते खुद उसमें प्रश्न-चिन्ह नहीं लगाते। कौन-सा ऐसा लेखक है, जो अपनी दुनिया खुद नहीं बनाता और मिटाता? किन्तु बनाने की प्रक्रिया में जो मोह-माया जागती है, मिटने पर उसकी यन्त्रणा कितनी विध्वंसकारी हो सकती है। खुद अपने को इस विध्वंस के बीच देख पाना–हर महत्वपूर्ण लेखक इस यात्रा से गुज़रता है और ठीक इसी बिन्दु पर लेखक का 'आधुनिक बोध' पुराने रोमाण्टिक कवि से अलग हो जाता है, जो अपनी दुनिया को आदर्श और उदात्त बनाकर ही कटु यथार्थ का अतिक्रमण कर सकता था। आधुनिकता की यह मजबूर, अभिशप्त आत्मचेतना ही है जिसके परिणामस्वरूप लेखक केवल अपनी दुनिया को ही नहीं मिटाता, स्वयं अपने 'मैं' को भी मिटाना चाहता है, जो एक सुर्ख, ज्वरग्रस्त आँख-सा उसके और दुनिया के बीच चमकता रहता है और जब वह उसे सम्पूर्णतया मिटा देता है, तभी वह आधुनिक बोध के आत्मघाती पाप और ज्वर से भी छुटकारा पा लेता है। पूरी तरह से 'अन्धा' होने पर ही वह सम्पूर्ण रूप से देख सकता है। क्या अज्ञेय इस आत्मसंहारी अर्थ में 'आधुनिक' हो पाये हैं?

यह नहीं, कि अज्ञेय अहं के आलोक-मण्डित दायरे से बाहर नहीं देखते–समाज की शायद ही कोई जीवन्त समस्या हो–राजनीति का दूषण, भाषा और शब्द की मर्यादा, काल का रहस्य, आधुनिक संस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व–अनेक विषयों पर उन्होंने अपनी पैनी, मर्मभेदी दृष्टि डाली है। इसके बावजूद उनकी इन पुस्तकों को पढ़ते हुए बराबर खीज की किरकिरी चुभती है। क्या है इस खीज का कारण? क्या अज्ञेय, अन्ततः सब कुछ कहने के बाद उस हद पर आकर रूक जाते हैं, जहाँ कलाकार का चिन्तन शुरू होता है–केवल समस्याओं पर विचार-सूक्तियाँ नहीं–बल्कि आत्मावलोकन, जो स्वयं अपनी सृजन-गुत्थियों को सुलझाते हुए 'पुराने समाधानों' को अपने अनुभवों की चुभन और चमक दे जाता है? अज्ञेय

को मालूम है, कि समाज और संस्कृति का संकट स्वयं व्यक्ति के बीच मौजूद है, उन्होंने उन 'समूहवादी' समस्त छलावों और भुलावों को भेदा है, जहाँ व्यक्ति के पतन में स्वयं मनुष्य तिरस्कृत हुआ है; इसलिए शिकायत यह नहीं है कि वह 'व्यक्तिवादी' हैं—बल्कि यह कि वह इस निर्मम हद तक व्यक्तिवादी नहीं हो पाते, जहाँ स्वयं कलाकार का व्यक्तित्व आत्मविश्लेषण की वस्तु बन जाता है, निरीह, कातर, हास्यास्पद, लहूलुहान, चिन्तक का विषय नहीं, बल्कि स्वयं जीने का कच्चा माल, आत्मसुरक्षित सलवटों में सिमटा नहीं, तार-तार उघड़ा हुआ, विडम्बनाओं की धूल-कीचड़ में सना हुआ; गर्वीला, मदमाता दीप नहीं, खुद आग में झुलसा हुआ कलाकार का 'मैं' जो "समय का अतिक्रमण नहीं करता, बल्कि समय का निम्नतम गुलाम है, वह एक बदहवास-सा कुत्ता, जो ज़िन्दगी भर विभिन्न गन्धों की टोह में भटकता रहता है, सौन्दर्यवादी लेकिन सौन्दर्य के तीर द्वारा बँधा हुआ शिकार भी.....एक ऐसा प्राणी जो एक ही समय में दूसरों के विरूद्ध और अपने ख़िलाफ़ हो सकता है। तड़पता हुआ, नाराज, विक्षुब्ध, किन्तु अपने अन्तर्विरोधों के प्रति हर क्षण सचेत। कलाकार से यह माँग करना बहुत क्रूर चीज़ है, वह उतनी ही क्रूर और बुनियादी माँग है जितनी—मृत्यु" (एलियास कैनेटी-'काशंस ऑफ वर्ड्स')।

क्रूर लेकिन मृत्यु की तरह ही अनिवार्य जिसके बिना लेखक सब कुछ हो सकता है—विचारक, चिन्तक, समाज-सुधारक—लेकिन कलाकार नहीं। मुझे यदि असन्तोष होता है तो इसलिए कि अज्ञेय अपने से यह माँग नहीं करते, शायद उसे ज़रूरी भी नहीं समझते, उनकी इन पुस्तकों में 'अर्जित किये हुए सत्य' अवश्य मिलते हैं, स्वयं सत्य को तलाशने की अन्तर्पीड़ा, पिपासा, सन्देह, मन को घुलाती हुई मैल, मैल जो भीतर के सूरज को बार-बार अपने झूठों से छिपा लेती है, इन झूठों का कातर सत्य, उस सत्य को मथनेवाला क्रूर, आत्मवेधी विश्लेषण नहीं मिल पाता। इस विश्लेषण के अभाव में उनकी अपनी पीड़ा भी एक निजी थाती, एक भोग की वस्तु बनकर रह जाती है। जिस यातना और अकेलेपन की चर्चा अज्ञेय इतनी करते हैं, वह आगे बढ़कर हमें साझा करने में उत्प्रेरित नहीं करती, आत्मा की टीस बनकर टिपटिपाती नहीं, झकझोरती नहीं, सिर्फ अज्ञेय की अर्जित, मूल्यवान, प्रेशस अनुभूति बनकर रह जाती है, प्रेशस अनुभवों का संचय, जो सच लगते हैं, सच हैं भी, लेकिन अपनी सचाई हमारे भीतर भोंकते नहीं, हम उनकी बौद्धिक तर्कपूर्ण साफ-सुथरी अवधारणाओं को देखते ज़रूर हैं, सहमत भी होते हैं-प्रसन्न होते हैं कि हिन्दी साहित्य में ऐसे सोच-विचार कम मिल पाते है-लेकिन वहाँ रूकते नहीं, मुँह मोड़ लेते हैं, उनकी तरफ फिर-फिरकर नहीं लौटते। आँखों से ओझल होते ही वे मुरझाने लगते हैं—अपने पीछे ज़रा-सी चुभन, एक दरार, कोई कृतज्ञताबोध नहीं छोड़ जाते।

और यह दुर्भाग्य है—क्योंकि हमारे युग में—खासकर हिन्दी के चिन्तन साहित्य में—अज्ञेय का लेखन महत्वपूर्ण है, नारों और अति सरलीकृत फार्मूलों के घटाटोप वातावरण में वह बहुत कुछ देते हैं, जो एक बार फिर हमारा विश्वास मनुष्य के विवेक और शब्द की गरिमा में प्रतिष्ठित करता है। यदि आज हम उसकी अवहेलना करते हैं, उसे अप्रासंगिक मानकर आगे बढ़ जाते हैं, तो यह न केवल अज्ञेय की सीमाओं पर क्रूर टिप्पणी है, बल्कि उस अभागी मन:स्थिति पर भी, जिसमें आज हम जीते हैं।

4- शमशेर : मेरी दृष्टि में

गजानन माधव मुक्तिबोध

शमशेर का काव्य अनेक दृष्टियों से मुझे आकर्षित करता रहा है—शिल्प के कारण, काव्य-व्यक्तित्व के कारण। प्रश्न यह है कि काव्य-व्यक्तित्व के भीतर की वह कौन-सी सक्रिय आवश्यकता है, जिसने अपनी अभिव्यक्ति के शिल्प का विकास किया? शमशेर के काव्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न और भी सही है। कहना न होगा कि शिल्प की दृष्टि से शमशेर हिन्दी के एक अद्वितीय कवि हैं।

अपने स्वगं के शिल्प का विकास केवल वही कवि कर सकता है, जिसके पास अपने निज का कोई ऐसा मौलिक विशेष हो, जो यह चाहता हो कि उसकी अभिव्यक्ति उसी के मनस्तत्त्वों के आकार की, उन्हीं मनस्तत्त्वों के रंग की, उन्हीं के स्पर्श और गन्ध की ही हो। दूसरे शब्दों में, अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठने वाला मौलिक-विशेष आत्मचेतस् भी होना चाहिए। यदि यह मौलिक-विशेष आत्मचेतस् न हुआ, तो उसका तो यह आग्रह नहीं रहेगा कि उसके मनस्तत्त्वों की अभिव्यक्ति उसी के आकार और काट की हो। ऐसा कवि नये शिल्प का विकास न कर सकेगा।

इसी मौलिक-विशेष के दो आयाम हैं—एक, मनोरचना अर्थात् आत्मा का भूगोल; और दूसरे, मनस्तत्व अर्थात् आत्मा का इतिहास। इस भूगोल और इतिहास से मौलिक-विशेष का निर्माण हुआ है। यह मौलिक-विशेष आत्मचेतस् होकर अपनी सत्ता स्थापित करता है। उसकी आत्म-प्रस्थापना का एक रूप शिल्प का विकास है। दूसरे शब्दों में, शिल्प का विकास कांव्य-व्यक्तित्व से, अटूट रूप से जुड़ा हुआ है, और उस शिल्प में व्यक्तित्व की क्षमता और सीमा, भाव और अभाव, सामर्थ्य और कमजोरी, ज्ञान और भ्रम, सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं।

मनोरचना की शैली-विशेष जिस प्रकार कवि के काव्य-व्यक्तित्व को एक रूप देती है, उसी प्रकार कवि के जीवन और चरित्र का विकास उसके आग्रहशील अनुरोधपूर्ण काव्यमनस् और उसके तत्वों को निर्धारित करता है। इस दिक् और काल, भूगोल और इतिहास के परस्पर प्रतिक्रियान्वित रूप का अध्ययन काफी मनोरंजक और महत्वपूर्ण है। किन्तु इस मार्ग पर चलने से शमशेर के काव्य के विश्लेषण का कर्त्तव्य बहुत लम्बा हो जायेगा, और सम्भवतः, उस कर्त्तव्य को सफलतापूर्वक पूरा कर भी न सकूँगा।

अतएव, शमशेर के सम्बन्ध में मैं अपनी कुछ बुनियादी प्रतिक्रियाओं को ही यहाँ रखना चाहूँगा। शमशेर एक समर्पित कवि हैं। उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग और प्रदीर्घ

काव्यक्षण काव्यसाधना में बिताये हैं—नि:स्वार्थ भाव से, यश:प्रार्थी न होकर। शमशेर की आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली भवन अपने हाथों तैयार किया है। उस भवन में जाने से डर लगता है—उसकी गम्भीर प्रयत्नसाध्य पवित्रता के कारण। भाषा के विकास-स्तर का नीचापन, अपने अनुकूल सिद्ध हो सकनेवाली और सहायता दे सकनेवाली किसी परम्परा का अभाव, रसज्ञ आलोचकों और मर्मज्ञ पाठकों के स्थान पर विरोधी वातावरण, आदि अनेक असुविधाओं और कठोर उपेक्षाओं के बीच, जिस आत्मा ने दुर्निवार रूप से, दुनिया की परवाह न करते हुए, सस्ती ख्याति के चक्कर में न पड़कर, जो अभिव्यक्ति-शिल्प तैयार किया वह हिन्दी साहित्य को एक अनूठी देन है। शमशेर, नि:सन्देह, एक अद्वितीय कवि हैं। उनकी काव्य-आत्मा नितान्त स्वाभाविक है, बिल्कुल खरी है, साथ ही वह रसमय होते हुए उलझी हुई है—उतनी ही उलझी हुई, जितनी कि, और जैसी कि, प्रत्येक वास्तविकता, अपनी मौलिक विशिष्टता में, उलझी हुई होती है।

शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार अपने चित्र में केवल उन अंशों को स्थान देगा जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से, प्रभावपूर्ण संकेत-शक्ति रखते हैं। वह दृश्य-चित्र में उन्हीं अंशों को स्थान देता है, कि जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से उस दृश्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण, अत: प्रगाढ़, प्रभावपूर्ण, अंग हैं। केवल कुछ ही ब्रशेज़ में वह अपना काम करके दृश्य के शेष अंशों को दर्शक की कल्पना के भरोसे छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में, इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार दृश्य के सर्वाधिक संवेदनाघात करनेवाले अंशों को प्रस्तुत करेगा, और यह मानकर चलेगा कि यदि यह संवेदनाघात दर्शक के हृदय में पहुँच गया तो दर्शक अचित्रित शेष अंशों को अपनी सृजनशील कल्पना द्वारा भर लेगा।

शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है। इससे एक बात यह हुई है कि कवि का कार्यक्षेत्र (स्कोप) बढ़ गया है। इम्प्रेशनिस्टिक ढंग का चित्रकार जीवन की उलझी हुई स्थितियों का चित्रण नहीं कर सकता—वह उसके किसी दृश्य-खण्ड को ही प्रस्तुत कर सकता है। उस विचित्र दृश्य-खण्ड में भी, वह दृश्य के सूक्ष्म पक्षों को प्रस्तुत नहीं कर सकता। किन्तु कवि वैसा कर सकता है।

शमशेर ने अपने कवि को यही टेकनीक प्रदान किया है, मनोवृत्ति प्रदान की है, शैली प्रदान की है। और इस प्रकार उसे न्यस्त करते हुए, जीवन का अथाह समुन्दर मापने के लिए उसे छोड़ दिया है। दूसरे शब्दों में पदच्युत चित्रकार के जिस सिंहासन पर कवि विराजमान है, वह सिंहासन अपनी जादुई शक्ति से कवि को बाध्य करता है कि वह इम्प्रेशनिस्टिक टेकनीक और मनोवृत्ति अपनाये, और इस प्रकार इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला

के मूल नियमों को काव्यकला में गुप्त रूप से संस्थापित करे। किन्तु चित्रकार से कवि का कार्यक्षेत्र बड़ा है। केवल इम्प्रेशनिस्टिक कला उसके लिए अधूरी है। फिर भी चूंकि वह पदच्युत चित्रकार के सिंहासन पर बैठा है, इसलिए उसका टैक्स तो देना ही होगा, फ़ीस तो चुकानी ही होगी, उस सिंहासन की परम्परा को आगे बढ़ाना ही होगा। संक्षेप में, इम्प्रेशनिस्टिक कला ने शमशेर से त्याग करवाया है, साथ ही उन्हें बहुत कुछ मौलिक और विशिष्ट गुण भी दिये हैं, जो किसी अन्य कवि में नही पाये जाते।

कभी-कभी पदच्युत चित्रकार के सिंहासन और उस पर विराजमान कवि में झगड़ा हो जाता है। कवि चाहने लगता है कि सिंहासन के चुंगल से छूटकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करे। और तब शमशेर, एकदम कुलाँट खाकर, क्लासिकल पूर्णता की तरफ अग्रसर होते हैं, और बहुत बार वे सफल होते-से नज़र आते हैं। उनकी 'शान्ति' कविता इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण और सफल उदाहरण है। वे अपने से कितना अधिक हट सकते हैं, इसका वह एक प्रभावशाली प्रमाण है। यह बिल्कुल निश्चित है कि शमशेर क्लासिकल पूर्णता के प्रति हमेशा आकर्षित रहेंगें और इस पूर्णता से प्रभावित होते रहेंगें। इसका कारण ही यह है कि वह आकर्षण और प्रभाव भीतर ही एक अपूर्णता की पूर्ति करते हैं।

फिर भी, चित्रकार के सिंहासन ने काफी हद तक कवि के काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण किया है और उसे अभिनव सफलताओं से ज्योतिर्मान बना दिया है। किन्तु साथ ही, उसने शमशेर की सीमाएँ भी निर्धारित कर दी हैं। क्षमता और सीमा का यह मनोहर योग शमशेर को अत्यन्त मौलिक और अद्वितीय कवि के रूप में प्रस्तुत करता है। शमशेर का निरालापन बहुत ही स्वाभाविक और अन्यत्र दुर्लभ है।

सबसे बड़ी बात यह है कि इम्प्रेशनिस्टिक स्वभाव ने शमशेर को 'विशिष्ट' के प्रति प्रेरित किया है। ऐसा चित्रकार वस्तु-दृश्य को प्रस्तुत करता है। किन्तु शमशेर बाह्य-दृश्य के भीतर, भाव-प्रसंग को उपस्थित करते हैं। अन्य कवि केवल भावना व्यक्त करते हैं। यह भावना अनेक भावनाओं की, वस्तुतः, एक श्रेणी अर्थात् एक सामान्यीकृत भावना होती है। इसके विपरीत शमशेर वास्तविक भाव-प्रसंग में उपस्थित संवेदनाओं का चित्रण करते हैं। संवेदनाएँ वास्तविकता का एक भाग हैं—जो एक वास्तविक परिस्थिति के अन्तर्गत वास्तविक भाव-प्रसंग में उद्‌बुद्ध होती हैं। वे संवेदनाएँ वास्तविक अर्थात जीवन-प्रसंग से बद्ध हैं। यह जीवन-प्रसंग वास्तविकता का एक मूर्त्त और शक्तिशाली भाग है।

इसके विपरीत, अन्य कवियों में होता यह है कि मन के कोने में पड़ी हुई प्रसुप्त भावनाएँ जाग्रत होकर एक भाव-तंरग बन जाती हैं। ये भावनाएँ मन के कोने में पड़े हुए संचित

अनुभव से जुड़ी रहती हैं। कविता लिखते समय, उन अनुभवों का सामान्यीकरण होकर, भावनाएँ भी सामान्यीकृत हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नियम नहीं है कि वे भावनाएँ अपने-अपने विशिष्ट वास्तविक प्रसंगों के ताने-बाने में बिंधी हुई ही प्रकट हों, प्रसंगबद्ध रूप में उपस्थित हों। संचित अनुभव के अंगरूप में होने के कारण, वे प्रसंग के बजाय, एक रुख़ (एटीट्यूड) के साथ प्रकट होती हैं। यह रुख़ भावनाओं का सामान्यीकरण कर देता है। वे विशिष्ट प्रसंगबद्ध भावनाएँ नहीं हैं, वरन् सामान्यीकृत भावनाएँ हैं। सामान्यीकरण से मेरा मतलब रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण से नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी भावना अमुक विशेष प्रसंग में उपस्थित वास्तविक भावना है।

परिस्थिति के भीतर प्रसंग उपस्थित होते हैं। परिस्थिति एक विशिष्ट चीज है, सामान्यीकृत नहीं। उसमें अनेक प्रभावों और प्रवृतियों के सूत्र व्यक्ति-चरित्र और परिस्थिति के सूत्र, आपस में उलझे हुए होते हैं। इस परिस्थिति के अंतर्गत जीवन-प्रसंग विशिष्ट होते हैं, सामान्यीकृत नहीं। इन प्रसंगों में जीवन-कथा के अनेक तत्व आपस में उलझे हुए होते हैं। इन प्रसंगों के विभिन्न तत्व एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते रहते हैं। प्रसंग एक वास्तविक जीवित चीज़ है। वे प्रसंग आत्मप्रेरक कवि के लिए भाव-प्रसंग हो उठते हैं। बाह्य जीवन-प्रसंगों की भांति ये भाव-प्रसंग वास्तविक होते हैं। ये भाव-प्रसंग, जीवन-प्रसंग के अन्तर्गत उसका एक अटूट अंग हैं। वे वास्तविकता का अखण्डनीय भाग हैं। वास्तविकता के ताने-बाने में वे बिंधे हुए हैं। वास्तविकता हमेशा, अनिवार्य रूप से अटूट नियम की भांति उलझी हुई होती है। उसमें दिक् और काल, भूगोल और इतिहास, व्यक्ति और समाज, चरित्र और परिस्थिति, आलोचक मन और आलोचित आत्म-व्यक्तित्व, आदि-आदि घनिष्ठ रूप से बिंधे हुए होते हैं।

वास्तविकता एक फ़ार्मूला नहीं है। जीवन-प्रसंग अनेक सूत्रों से, अनेक तत्वों से उलझे हुए होते हैं। उनके अन्तर्गत, भाव-प्रसंग उलझे हुए सूत्रों और परस्पर प्रतिक्रियाशील तत्वों से बने हुए ज्वलन्त अग्निखण्ड हैं। उनमें स्वपक्ष और परपक्ष के परस्पराघात से एक मन:स्थिति और परिस्थिति बन जाती है। ये भाव-प्रसंग शमशेर के काव्य-विषय हैं। ये भाव-प्रसंग विशिष्ट हैं। ये काव्य-विषय विशिष्ट हैं। भाव-प्रसंग की मौलिक विशिष्टता के भीतरी ताने-बाने शमशेर को अकुलाते रहते हैं। शमशेर सामान्यीकृत भावनाओं, और सामान्यीकृत रुखों के कवि नहीं हैं।

शमशेर पर लगाया गया यह दोषारोप कि वे उलझे हुए हैं और उनकी बात समझ में नहीं आती, उस आदत को सूचित करते हैं, जिसे हम सामान्यीकरण की आदत कह सकते हैं। चिन्तन के अनुशासन से विहीन व्यक्ति भी बहुत आत्मविश्वास के साथ सामान्यीकरण

करता रहता है। सामान्यीकरणों की इस आदत को ही हम यान्त्रिक विचार-शैली कहते हैं। यान्त्रिक विचारणा विशिष्ट के आन्तरिक ताने-बाने, उसकी मौलिक विशेषताओं, और उसके समृद्ध रूप-तत्व की उपेक्षा करके चलती है। यान्त्रिक विचारणा से अनेक हानियाँ हुई हैं। साहित्यचिन्तन में यान्त्रिक विचारणा की कमी कभी नहीं रही। विशिष्ट की मौलिकता की क़ीमत पर, अर्थात उसकी मौलिकता की उपेक्षा करते हुए, जो सामान्यीकरण होगा, वह छिछला, सतही और यान्त्रिक होगा।

कविता, विशेषकर आत्मपरक कविता ने हिन्दी साहित्य-चिन्तन-धारा को अत्याधिक प्रभावित किया है। हिन्दी की आत्मपरक कविता, व्यक्तिनिष्ठ भले ही हो, उसमें वास्तविक भाव प्रसंगों की मौलिक विशिष्टता का बहुत कम चित्रण किया गया है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में वास्तविक प्रणय-भावना बहुत थोड़ी जगह और बहुत अल्प मात्रा में है। प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी बहुत खेदजनक है। प्रणय-जीवन के सर्वोत्तम कवि आज भी मीरा और सूर हैं। उनके उद्‌गार हमें भीतर से हिला देते हैं, इसलिए कि वे विशिष्ट भाव-प्रसंगों का सहारा लिये हुए हैं। विशेष भाव-प्रसंगों की रूपरेखाओं की विस्मृति और प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रों की कमी यह सूचित करती है कि विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठता अपने ही उद्देश्य को पराजित कर देती है। वास्तविक भाव-प्रसंगों में क्रमबद्ध और सक्रिय संवेदनाओं के चित्रण के अभाव में, केवल सामान्यीकृत भावना, प्रकृति पर मन के रंगों का आरोप, केवल एक मूड और एक भावनात्मक रुख, और लगभग गणितशास्त्रीय यान्त्रिक शिल्प—यही तथाकथित आधुनिक रोमैण्टिक कविता की उपलब्धि है। वास्तविक प्रणय-जीवन काव्य का 'ह्युमैनाइजिंग इफेक्ट' हमें आधुनिक रोमैण्टिक कविता में अधिक प्राप्त नहीं होता। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है।

ऐसे काव्य-साहित्य ने साहित्य-चिन्तन-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फलतः, 'चिन्तकों' को सामान्यीकृत भावनाएँ चट से समझ में आ जाती हैं—चाहे वे दुरूह छायावादी शैली में ही क्यों न लिखी गयी हों। किन्तु प्रसंग-विशिष्ट संवेदनाएँ, जो एक कथानक और नाटक उपस्थित करती हैं, वे उन्हें समझ में नहीं आतीं। इसलिए कहा जाता है कि शमशेर के काव्य में उलझन है। वह अस्पष्ट और दुरूह है। इसके लिए, कुछ हद तक, स्वयं शमशेर जिम्मेदार हैं और कुछ हद तक बिल्कुल नहीं हैं। बाख़ के संगीत पर उनकी कविता अत्यन्त सुन्दर, बिल्कुल स्पष्ट और दुरूहताहीन है। फिर भी एक पत्रिका में उस पर बहुत बुरा 'अटैक' किया गया और कहा गया कि वह दुरूह है।

शमशेर की संवेदनशील दृष्टि भाव-प्रसंग के 'विशिष्ट' पर टिकती है। यह 'विशिष्ट' वास्तविकता का अटूट अंग है। वास्तविकता के सूत्रों में वह गुम्फित और ग्रथित है। इस

विशिष्ट में एक नाटक है, एक कथानक है, कुछ पात्र हैं, एक पार्श्वभूमि है।

शमशेर इस भाव-प्रसंग की वास्तविकता पर अपने मन का रंग नहीं चढ़ाते। वे मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी हैं। उनकी मनोवैज्ञानिकता भाव-प्रसंग के चुनाव में, तथा अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं और बाह्य के संवेदनाघातों के चित्रण में, है। उनकी यथार्थवादिता भाव-प्रसंग में, मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रसंग-बद्धता के निर्वाह में है। ऐसी स्थिति में, यदि मानव-प्रसंग भीतर से बहुत हिला देनेवाला और महत्वपूर्ण हुआ, तो शमशेर की प्रतिक्रियाएँ भी तीव्र व्याख्यात्मक रूप से प्रकट होती हैं। शमशेर की प्रतिभा वहाँ अत्यन्त मौलिक और उज्जवल रूप में प्रकट होती है। किन्तु यदि वास्तविकता ने भाव-प्रसंग ही कम महत्वपूर्ण पेश किया तो वहाँ शमशेर का काव्य भी फीका हो जायेगा। कवि-स्वभाव की दृष्टि से ही यह निश्चित होगा कि कौन-सा भाव-प्रसंग उनंके लिए विशेष महत्वपूर्ण और कौन-सा कम महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, विषय की प्रेरणाशक्ति पर, काव्य की ऊँचाई-निचाई निर्भर करती है। कई कवियों के सम्बन्ध में यह बात सही है। अतएव, शमशेर की मामूली कविताओं को लेकर, उनके विरुद्ध आघात करने से कुछ नहीं होगा। हर कवि साधारण और साथ ही असाधारण कविताएँ लिखता है।

शमशेर मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कवि होते हुए भी आत्मपरक हैं। उनकी आत्मपरकता उन्हें भाव-प्रसंग के भीतर उपस्थित अपनी संवेदनाओं के चित्रण के लिए बाध्य करती है। उनकी संवेदना वास्तविक है। वह प्रसंगबद्ध है। प्रसंग उस संवेदना के रूप को निर्धारित करता है। शमशेर संवेदनाओं के प्रसंग-विशिष्ट गुणों का बहुत सफलतापूर्वक चित्रण करते हैं। इस चित्रण के बिना इस भाव-प्रसंग का ताना-बाना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सामान्यीकृत भावनाएँ प्रकट करना बहुत आसान है, किन्तु भाव-प्रसंग में साक्षात संवेदनाओं के वास्तविक चित्रण के लिए अनेक नये प्रयोग अत्यन्त आवश्यक हो उठते हैं।

इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार तथा अन्य चित्रकारों की भाँति, शमशेर संवेदनाओं के गुण आत्मचेतस रूप से जानते हैं। वे न केवल रूप, स्पर्श, रस, गन्ध की संवेदनाएँ पहचानते हैं—यह मामूली बात है—वरन् वे संवेदनाओं के रूप-स्पर्श, रस-गन्ध का चित्रण करते हैं। वास्तविक संवेदनाओं का चित्रण हिन्दी में बहुत ही कम हुआ है। एक भाव-प्रसंग में विभिन्न संवेदनाओं के प्रभावकारी गुणों के चित्र प्रस्तुत करना शमशेर ही का काम है। वे एक संवेदना की कोमलता को दूसरी संवेदना की कोमलता से पृथक् कर दोनों की विभिन्न कोमलताओं के चित्र प्रस्तुत करते हैं। शमशेर का संवेदन-ज्ञान और संवेदन-चित्रण अद्वितीय है।

शमशेर संवेदन-चित्रण मुख्यत: दो प्रकार से करते हैं। संवेदन की तीव्रता बताने के लिए वे बहुत बार नाटकीय विधान प्रस्तुत करते हैं। संवेदन के विभिन्न गुण-चित्र प्रस्तुत करने के लिए वे मन:प्रतिमाओं का, इमेजेज का, सहारा लेते हैं। ये इमेजेज उनके अवचेतन-अर्धचेतन से उत्पन्न होती हैं। उन इमेज़ेज़ में उनके अवचेतन का गहरा रंग होता है। इसके अलावा, शमशेर का शब्द-संकलन अत्यन्त सचेत और संवेदनानुगामी होता है।

लोगों को शमशेर का काव्य शिल्पग्रस्त प्रतीत होता है तो इसका एक कारण शमशेर के कथ्य की नवीनता है। अभी तक पाठकों और आलोचकों की आत्मचेतना इतनी विकसित नहीं हुई है कि वे अपने जीवन में प्राप्त विभिन्न भावना-प्रसंगों के अंतर्गत स्वयं द्वारा भोगी गयी संवेदनाओं के विभिन्न उलझे हुए रूप, गुण और प्रभाव पहचान पायें। एक चित्रकार होने के नाते, शमशेर की संवेदना शक्ति और संवेदना-ज्ञान अत्यन्त विकसित है। उन्हें बारीक-से बारीक संवेदनाओं के सूक्ष्म प्रभावों की पहचान है। प्रसंग-विशिष्टता के कारण संवेदनाओं की भिन्नता और विशिष्टता का चित्रण कर वे यह सोच लेते हैं कि संवेदनाओं की इस विशिष्टता के चित्रण से प्रभावित होकर, पाठक तथा आलोचक उन संवेदनाओं के प्रेरक भाव-प्रसंगों का पूर्ण चित्र मन-ही-मन तैयार कर लेंगे। किन्तु पाठक और आलोचक अभी तक सक्षम और समर्थ नहीं हैं कि संवेदनाओं की विशिष्टता से प्रसंगों की विशिष्टता का आसानी से अनुमान कर सकें। हमारे पाठकों और आलोचकों की आत्म-चेतना अभी काफ़ी कुहरिल है। उनकी आत्म-चेतना के भौगोलिक प्रदेश पर कुहरा होने से, उन्हें अपने मन के ही पहाड़ और घाटियाँ, जंगल और मैदान, धुन्ध के रूप में ही दिखायी देते है। कलाकारों का यह कर्तव्य है कि वे उस आत्म-चेतना को अधिक भिन्नीकृत स्पष्ट और मूर्त्त बनायें। पाठकों और आलोचकों की वैसी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही है।

इस आत्म-चेतना को विकास के प्रश्न की दृष्टि से देखा जाये तो यह कहना होगा कि शमशेर आत्मपरक साहित्य की यूरोपीय परम्परा से काफ़ी प्रभावित हैं। इस प्रकार, वस्तुत: वे नयी कविता के साहित्य की श्रीवृद्धि में बड़ा योग दे रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कला या उसके मनस्तत्त्व, प्रतिमाएँ और मुहावरें, कथन की शैली अथवा चित्रण की भंगिमा, यूरोप से उधार ली गयी है। इसका अर्थ यह है कि उनकी आत्मा पर, उनकी भावात्मक संस्कृति पर, यूरोपीय आत्मपरक उपलब्धियों का रचनात्मक और प्रशंसनीय प्रभाव पड़ा है। और अगर, शमशेर के काव्यशिल्प से किसी को आपत्ति हो सकती है, या होगी, तो उसका कारण यूरोपीय प्रभाव में नहीं खोजना चाहिए, वरन् शमशेर की मनोरचना के भीतर चित्रकार के सिंहासन पर आसीन कवि [की] सीमाओं में ही खोजना होगा।

शमशेर के आभ्यन्तर सिंहासन से पदच्युत चित्रकार, इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार है। वह एक विशेष प्रकार का, विशेष स्वभाववाला, विशेष सीमाओंवाला चित्रकार है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के अनुसार, शमशेर पार्श्वभूमि को महत्त्व नहीं देते। वे केवल उन्हीं संवेदनाघातों का चित्रण करते हैं, जो अत्यन्त प्रभावकारी तो हैं ही, साथ ही जो कवि की समझ से विशेष संकेत-महत्त्व रखते हैं।

किन्तु, इम्प्रेशनिस्टिक कला की कुछ अपनी ऐसी विशिष्ट सीमाएँ हैं, जो समुद्र-मन्थन के सारे अनुभूत सत्यों को एक साथ प्रकट नहीं होने देतीं। कवि का कार्य-क्षेत्र चित्रकार से अधिक विस्तृत है। इसलिए शमशेर चित्रकार के सिंहासन पर बैठकर, उस सिंहासन की जादुई शक्ति से संचालित होकर, अर्थात चित्रकला से प्राप्त संस्कारों के वशीभूत हो, कवि कर्म करते हुए, उन विशेष क्षेत्रों में विचरण करने जाते हैं, जहाँ उनकी चित्रकलात्मक संवेदना और दृष्टि अधिक कारगर साबित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, शब्द-ध्वनि रंग-शक्ति नहीं है। केवल एक शब्द की एक ध्वनि तुरन्त ही मनस्पटल पर रंगों, आकारों और रूपों में प्रकट नहीं हो सकती। शब्द, वस्तुत: अमूर्त्त होते हैं। वे प्रकृति की सूचनाओं की प्रथम संकेत-व्यवस्था के भाग न होकर, द्वितीय-संकेत-व्यवस्था के भाग हैं। बाह्य (जो भी हो, चाहे दर्शक मन का मनस्तत्त्व ही सही) और प्रकृति से प्राप्त संवेदनाएँ और उनकी विभिन्न गुत्थियाँ और प्रकार, प्रथम संकेत व्यवस्था हैं। इस प्रथम संकेत-व्यवस्था को सम्पूर्ण सामाजिक रूप में अर्थात साधारणीकृत रूप में, सूचित करनेवाली व्यवस्था द्वितीय संकेत-व्यवस्था है। भाषा द्वितीय संकेत-व्यवस्था है। वह मूलभूत सूचनाओं की सूचना है। यह सूचना प्रथम की तुलना में काफ़ी अमूर्त्त है, ऐब्स्ट्रैक्ट है। इसलिए, जब तक विशेष और विस्तृत तथा जटिल उपाय अमल में न लाये जायें, तब तक द्वितीय संकेत-व्यवस्था द्वारा दी गयी सूचनाएँ प्रथम संकेत-व्यवस्था का उद्दीपन और उत्तेजन नहीं कर सकतीं। अतएव, चित्रकला में, रंग-संकेत जितने कारगर हों उतने केवल शब्द-संकेत काम न कर सकेंगे, जब तक कि विशेष उपाय अमल में न लाये जायें। फलत:, केवल रंगों अथवा केवल ध्वनियों द्वारा सूचित और संकेतिक अर्थों को उत्तेजित करने के लिए, जटिल उपाय अमल में लाना आवश्यक हो जाता है। केवल एक-एक शब्द को एक-एक वाक्य का अर्थ देकर संक्षेपीकरण करते रहने से बहुत बार बात नहीं बन पाती। मेरा ख्याल है कि शमशेर शब्द-संकेत को रंग-संकेत का स्थानापन्न मान बैठते हैं। कवि को चित्रकार का स्थानापन्न बना देने से, और उस स्थानापन्न कवि के सम्मुख कार्यक्षेत्र विस्तृत कर देने से, शमशेर की रचनात्मक प्रतिभा ने बहुत बार घोटाला कर दिया है—ऐसा मेरा ख्याल है। शायद यह अनुमान ग़लत हो। ग़लत हो तो अच्छा ही है। इस सम्बन्ध में मैं भी अपना समाधान करने का इच्छुक हूँ।

दूसरे, शमशेर के शिल्प के सम्बन्ध में यह बात भी मुझे कहनी है कि प्रसंगबद्ध भावना की प्रसंग-विशिष्टता सुरक्षित रखकर, प्रसंग को पार्श्वभूमि में हटाते हुए उसको बिल्कुल ही उड़ा देने से, काव्य के रसास्वादन में कुछ तो बाधा होती ही है। जीवन विभिन प्रसंग उपस्थित करता है। केवल संवेदना-चित्रों के सहारे पाठक को प्रसंग-कल्पना करनी पड़ती है। वह बहुत बार, सुनिश्चित मूर्त्त संकेत चित्रों के अभाव में, प्रसंग-कल्पना ठीक-ठीक ढंग से नहीं कर पाता। यदि पार्श्वभूमि कुछ अधिक रेखांकित [न] हो तो पाठक को कवि की संवेदना, जो बिलकुल विशिष्ट है सामान्यीकृत नहीं, सहज रूप से हृदयगम्य नहीं होती है। यदि प्रसंग अत्यधिक विशिष्ट है तो पार्श्वचित्र और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। पार्श्वभूमि के सहारे, पाठक प्रसंग-कल्पना बहुत आसानी से कर सकता है। किन्तु शायद शमशेर बेपर्दगी बरतना नहीं चाहते।

शमशेर, मुख्यत: प्रणय-जीवन के प्रसंगबद्ध रसवादी कवि हैं। शायद इसीलिए, वे आधुनिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप बेपर्दगी नहीं कर सकते। सम्भवत: संक्षेपीकरण की उनकी प्रवृति विशेष तत्वों के बारे में अधिक सक्रिय है। यह संक्षेपीकरण सामाजिक, राजनैतिक तथा प्रणय-जीवन से हटे हुए अन्य विषयों के क्षेत्र में अधिक सक्रिय नहीं रहता। वहाँ वे क्लासिकल पूर्णता की ओर अधिक झुकते हैं। ऐसे क्षेत्रों में, यदि उन्होंने संक्षेपीकरण किया भी, तो भी वह युक्तियुक्त होता है।

इसका अर्थ केवल यह है कि शमशेर के सृजन-प्रक्रियात्मक सेंसर्स काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। जो बातें वे नहीं कहते, वे सन्दर्भ की दृष्टि से प्रधान हैं। उनकी प्रधानता गोपन रखने के लिए संक्षेपीकरण की व्यवस्था है।

किन्तु इन कमियों की पूर्ति शमशेर बहुत कुशलता से करते हैं। संवेदनाओं की तीव्रता बताने का उनका नाटकीय विधान और इमेजेज (प्रतिमाएँ) तथा अत्यन्त सचेत, शब्द-संकलन प्रभावशाली रूप से सफल होता है !

असल में, शमशेर की आत्मा एक रोमैण्टिक क्लासिकल प्रकार की है। किन्तु इम्प्रेशनिस्टिक होने के कारण, उनका ज़ोर संवेदन-विशिष्टता और संवेदनाघात [पर]—और केवल इसी पर—होने से, वे नयी कविता के एक अद्वितीय कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। महत्व की बात यह है कि यह इम्प्रेशनिज्म केवल कुछ ही विषयों—प्रणय-जीवन सम्बन्धी बातों—के सम्बन्ध में अधिक तीव्रता से सक्रिय रहता है।

प्रश्न यह है कि शमशेर की प्रधान उपलब्धियाँ कौन—सी हैं? मेरे मत से, प्रणय-जीवन के जितने विविध और कोमल चित्र वे प्रस्तुत करते हैं, उतने चित्र, शायद, और किसी नये

कवि में दिखायी नहीं देते। उनकी भावना अत्यन्त स्पर्श-कोमल है। प्रणय-जीवन में भाव-प्रसंगों के आभ्यन्तर की विविध सूक्ष्म संवेदनाओं के जो गुण-चित्र वे प्रस्तुत करते हैं वे न केवल अनूठे हैं, वरन् अपने वास्तविक खरेपन के कारण प्रभावशाली हो उठे हैं। सूक्ष्म संवेदनाओं के गुण-चित्र उपस्थित करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। किन्तु शमशेर उसे अपनी सहानुभूति से सम्पन्न कर जाते हैं। विशिष्ट भाव-प्रसंगों की मौलिक विशिष्टता के अन्तर्गत, इन सूक्ष्म, कोमल किन्तु महत्त्वपूर्ण संवेदनाओं के ये वास्तव-चित्र कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगे। बाख़ के संगीत की स्वर-लहरियों के ये वास्तव-चित्र कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगे। बाख़ के संगीत की स्वर-लहरियों द्वारा उत्तेजित संवेदनाओं का चित्रण जो शमशेर ने किया है, वह उनके अनुपम काव्य-सामर्थ्य तथा वास्तवोन्मुख भावना का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। शमशेर ने संवेदनाओं के गुण-चित्र उपस्थित करने के क्षेत्र में जो महान् सफलताएँ प्राप्त की हैं, कि वे उस क्षेत्र में अन्यत्र दुर्लभ हैं।

मैं यहाँ शमशेर की उन कविताओं को नहीं भूल सकता जिन्हें हम, व्यापक अर्थ में सामाजिक, और संकुचित अर्थ में राजनैतिक, कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक वस्तुवादी कवि जब सामाजिक भावनाओं तथा विश्व-मैत्री की संवेदनाओं से आच्छन्न होकर मानचित्र प्रस्तुत करता है, तब वह उसी प्रकार अनूठा और अद्वितीय हो उठता है, जैसे कि किसी क्षेत्र में भिन्न तथा अन्य कवि कदापि नहीं। 'शान्ति' पर लिखी शमशेर की कविता क्लासिकल ऊँचाइयों की उपलब्धि कर चुकी है। इससे यह सिद्ध होता है [कि] शमशेर की वास्तवोन्मुख दृष्टि और वास्तवप्राप्त संवेदनाएँ और भी अधिक साहित्यिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकती हैं। सच तो यह है कि शमशेर के पास जादुई कीमियागिरी नहीं है, वास्तव का संवेदनात्मक ग्रहण है। इन वास्तव संवेदनाओं के सूक्ष्म की पकड़ इतनी ज़बर्दस्त है कि उनकी शक्ति को देखते हुए यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि शमशेर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय प्रगतिशील चेतना के और भी उत्तमोत्तम भाव-प्रसंग प्रस्तुत करेंगें। शमशेर का काव्य एकदम खरा है, अपने विशेष गुणों के कारण मौलिक है, अपने शिल्प के कारण अद्वितीय है, और ये ही बातें उन्हें श्रेष्ठ कवि सिद्ध करती हैं।

(कृति, अक्तूबर 1958, में प्रथम बार प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित)।

5- शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट

विजयदेवनारायण साही

शमशेर की कविता के बारे में बातें करनें में मैं एक कठिनाई महसूस करता हूँ। मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि चर्चा को किस पहलू से उठाया जाये। मैं महसूस करता हूँ कि शायद बहुत से आरम्भिक सवाल भी शमशेर की कविता को लेकर होंगें। एक स्तर पर शायद लोग यह भी प्रश्न उठाने की ज़रूरत समझें कि जो कुछ शमशेर ने अब तक लिखा है या प्रकाशित कराया है वह कविता है भी या नहीं? फिर, शमशेर की कविताओं की दुरूहता का प्रश्न है। शमशेर के बारे में बात करनेवाले व्यक्ति से शायद यह उम्मीद की जा सकती है कि वह बहुत-कुछ व्याख्याता का काम करे। इससे भी आगे, शिल्प और प्रयोग का एक पहलू है और इससे मिला-जुला इन कविताओं के 'नयेपन' का भी सवाल है। शमशेर ने कविता के छन्द, लय, शब्दावली सबमें बहुत-से नये प्रयोग किये हैं। उन्होंने ऐसे नये प्रतीकों और बिम्बों का सृजन किया है जो कविता के अभ्यस्त पाठकों और श्रोताओं को अकसर चुनौती की तरह लग सकते हैं।

लेकिन इन आरम्भिक सवालों को मैं उत्तरित मानकर चलने की इजाजत चाहूँगा। इन सवालों के विभिन्न पहलुओं में उलझने में खतरा यह है कि बात शमशेर की कविता पर न होकर शमशेर की कविताओं – जैसी कविता पर हो जायेगी और इस तरह शायद कवि शमशेर के साथ हम न्याय नहीं कर सकेंगें। क्योंकि नयी कविता की सामान्य विवेचना के लिए शमशेर को उदाहरण की तरह इस्तेमाल करना एक बात है और कवि शमशेर का जो अपना निजी, स्वत: सम्पूर्ण काव्यजगत् है उसमें प्रवेश करना दूसरी बात है। दोनों तरह की चर्चाएँ महत्वपूर्ण और आवश्यक हैं, लेकिन उनके अभिप्राय अलग-अलग हैं। पहले प्रकार की चर्चा तो काफ़ी हो चुकी है इसलिए भी दूसरे ढंग से विचार करने की उपयोगिता कुछ अधिक दिखती है। इसके अलावा, यदि हम सीधे शमशेर की मनोभूमि में प्रवेश करने की कोशिश करेंगे तो शायद आरम्भिक शंकाओं का उत्तर भी एक हद तक मिल जायेगा।

नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अन्तर्भुक्त रही है कि न सिर्फ़ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है, या नये प्रतीकों या बिम्बों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। लेकिन बहस में इस पर बल कम दिया गया है। चेतना के जो तत्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी

लगते थे, काव्यानुभूति के केन्द्र में आ गये। और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया। इसलिए मैं शमशेर के काव्य में अनुभूति की इस बनावट की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

कवि मालार्मे ने कहा है–

"अपाहिजत्व की देवी ओ आधुनिक कल्पने! मैं तुझे अपने जीवन की ये थोड़ी-सी पंक्तियाँ समर्पित करता हूँ जो कृपा के उन क्षणों में लिखी गयी हैं, जब तूने मेरे भीतर सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितान्त न-कुछ के प्रति बंजर प्रेम का स्फुरण नहीं किया।''

शायद ही आज का कोई कवि हो जिसे अपने ढंग से इस मालार्मीय विडम्बना का सामना कभी-न-कभी न करना पड़ा हो। आखिर यह सृजन-कर्म किसलिए? इस सारे कल्पना-विलास का क्या मतलब है? मालार्मे की ही तरह आज का हर कवि एक-न-एक बार अपने ऊपर पलायनवादी होने का आरोप लगाता है। और अगर वह खुद नहीं लगाता तो और लोग उस पर लगाते हैं। क्योंकि अपनी प्रकृति से ही कविता यह प्रश्न उठाती है: जहाँ हम हैं वहाँ से कहाँ चलें? किस ओर? काव्यानुभूति अपने-आप में एक तरह का अतिक्रमण है। लेकिन किसका अतिक्रमण और किस दिशा में? एक समय उत्तर बहुत आसान था। यह अतिक्रमण तमस् से ज्योति की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर था।

हमारे चारों ओर रोज़मर्रा का एक जीवन है। इसी का अतिक्रमण करने की कोशिश कविता करती है। अगर चारों ओर का प्राकृत जीवन सत्य है तो फिर क्या सचमुच हम सत्य का ही अतिक्रमण नहीं करते? किस ओर? सत् से असत् की ओर? यही काव्यानुभूति की मालार्मीय विडम्बना है। जितने गहरे मालार्मे को यह विश्वास जकड़ता जाता था कि चारों ओर के भौतिक, जड़ जीवन के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है, उतना ही काव्यानुभूति के लिए आवश्यक अतिक्रमण उसे असम्भव दिखता था। सृजन-प्रक्रिया स्वयं में ही एक विशाल व्यर्थता का प्रतीक लगती थी। मालार्मे के पास इस अपाहिज विडम्बना का एक ही हल था: लिखा ही न जाये। 'सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितान्त न-कुछ का बंजर प्रेम'–कविता के जन्म में ही निषेध का तीर बिंधा हुआ है।

मालार्मे की तरह कवि-जीवन में शमशेर किन-किन संघर्षों से गुज़रे हैं, इसकी पूरी जानकारी हमारे पास नहीं है। शायद कभी हो। लेकिन कुछ संकेत उन्होंने दिये हैं। निषेध के तीर

ने कितनी काव्यानुभूतियों को जन्म लेने के समय ही बींध दिया? यह आकस्मिक नहीं है कि इतने लम्बे जीवन में उनके दो ही संग्रह प्रकाशित हुए और उनका नाम रखा गया 'कुछ कविताएँ' (1959), फिर 'कुछ और कविताएँ' (1961)। मालार्मीय विडम्बना एक संकोच के रूप में काव्यानुभूति को बिद्ध करती है। शून्य से, नितान्त न-कुछ से, कविता का जन्म होता है – इस गति में शायद रूकावट नहीं है, लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है। शमशेर की कविता में एक प्रवृत्ति है उसी शून्य, उसी न-कुछ में वापस चले जाने की। गति और प्रतिगति – अभिव्यक्ति और संकोच के इस तनाव में एक तरह की स्थिरता, सन्तुलन पैदा होता है। यह स्थिरता, यह अटकाव, यह स्थिति अनस्तित्व और अस्तित्व के बीच एक अन्तराल है – विशुद्ध सम्भावना का क्षण है। यह वह मनोभूमि है जहाँ कविता अपने अर्थ से आलोकित होती है।

शमशेर की 'एक पीली शाम' शीर्षक कविता काफी विश्रुत है। उसकी अन्तिम पंक्तियाँ हैं –

"अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में।''

अतल में गिरने के पहले संकोच का, अटकाव का एक झिलमिलाता अन्तराल है जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है। जन्म लेना अलग होना है। अनस्तित्व गर्भ से अतल की ओर जाना है; नितान्त पराया हो जाना है। लेकिन इस बिल्कुल निजी और बिल्कुल पराये के बीच एक और क्षण है – जहाँ आँसू निजी है भी और नहीं भी है; पराया है भी और नहीं भी है। न तो वह बिलकुल आत्मपरक है, और न बिलकुल वस्तुपरक। वह अभिव्यक्ति भी है और संकोच भी है।

अपने दूसरे संग्रह 'कुछ और कविताएँ ' की भूमिका में शमशेर कहते हैं: 'मेरी अक्सर कविताओं के, जो सन् 1940-41 के आस-पास की थीं, प्रकाशन का समय दस-बारह साल बाद आया, या शायद तब भी नहीं आया।.....मैं जितना महत्व ऐसी अभिव्यक्ति को देता हूँ – कवि के जीने मात्र के लिए मैं उसे जितना महत्वपूर्ण समझता हूँ – उतना उसके प्रकाशन को नहीं। कला के 'प्रकाशन' को वास्तव में मैं कोई महत्व नहीं देता। कला कैलेण्डर की चीज़ नहीं है। वह कलाकार की अपनी बहुत निजी चीज़ है।...वह 'अपने-आप' प्रकाशित होगी। और कवि के लिए वह सदैव कहीं-न-कहीं प्रकाशित है।'

आगे इसी भूमिका में वे कविताओं के प्रकाशन के बारे में बारम्बार एक झिझक का इज़हार करते हैं। इस संकोच की जड़ें गहरी हैं और काव्यानुभूति के अस्तित्व को ही स्पर्श करती

हैं। यह संकोच न सिर्फ़ रची हुई सृष्टि को ऊपर आने से रोकता है, बल्कि उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता पर प्रश्न-चिन्ह लगाता है। इसका प्रभाव यहाँ तक हो सकता है कि लिखी हुई कविताएँ प्रकाश में न आयें और 'कहीं-न-कहीं' के संदिग्ध अन्तराल में अटकी रह जायें, सिर्फ़ एक 'टिक' के अभाव में। यह लगभग ऐसा है जैसे मालार्मे ने हल यह निकाला हो कि कविता लिख तो ली जाये लेकिन उसे प्रकाशित न कराया जाये।

शमशेर का वक्तव्य है कि कविता में हम अपनी भावनाओं की सच्चाई खोजते हैं। आशा करता हूँ कि ऊपर दिये गये संकेतों से इस वक्तव्य की मार्मिकता स्पष्ट हो जायेगी। अर्थात् हम आत्मपरकता की वस्तुपरकता की तलाश करते हैं। तलाश की यह मुद्रा वस्तुपरकता या सच्चाई की अनुपस्थिति अर्थात् काव्यानुभूति की अपर्याप्तता को मानकर चलती है।

हम एक ऐसी सृष्टि की कल्पना करें जिसमें जन्म देनेवाले ब्रह्मा तो हैं, लेकिन उस सृष्टि को धारण करनेवाले, उसे निरन्तर अस्तित्व प्रदान करनेवाले, सही लगानेवाले विष्णु का अभाव है। सच्चाई की तलाश इसी विष्णुतत्व की तलाश है। देवताओं के इन प्रतीकों का प्रयोग मैं जानबूझकर कर रहा हूँ। क्योंकि एक तरह की वैष्णव भावना, अर्पित निरीहता शमशेर की कविता में बराबर मौजूद है। वही है जो उनके काव्य-जगत को धारण करती है। मालार्मे के काव्य-जगत् में तो रचनेवाले ब्रह्मा का ही अभाव है। लेकिन शमशेर की समस्या विष्णुतत्व को स्थापित करने की है।

चीज़ें जन्म लेती हैं, लेकिन वे अपनी गति से निरन्तर अस्तित्व में स्थापित नहीं होतीं। इस निरन्तर अस्तित्व के लिए एक बाहरी प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है। उसी तरह जैसे विष्णुतत्व जीव को अपनी अंजुली में धारण करके सार्थकता देता है। यह शमशेर की काव्यानुभूति का आरम्भ स्थल है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहें तो यह रहस्यवाद नहीं है, पुष्टिमार्ग की तलाश है।

इस चर्चा को यहीं छोड़कर अब मैं एक दूसरे तत्व की ओर इशारा करूँगा। आज से लगभग पन्द्रह वर्ष पहले, 'दूसरा सप्तक' में अपनी संग्रहीत कविताओं पर वक्तव्य में शमशेर ने अपनी कविता की परिभाषा यों दी थी :"सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन्न होता रहता है। अब यह हम पर है, कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनन्त और अपार लीला को कितना अपने अन्दर घुला सकते हैं।"

इस सूत्र की लगभग हूबहू वैष्णव शब्दावली अवश्य ही आपका ध्यान आकर्षित करेगी। बहरहाल, मैं, 'अवतार', 'लीला' और 'अपने अन्दर घुलना' इन शब्दों पर जोर न देकर

'सुन्दरता' की चर्चा करना चाहूँगा, क्योंकि तात्त्विक रूप में शमशेर की काव्यानुभूति सौन्दर्य की ही अनुभूति है। जिन लोगों का ख़याल है कि छायावाद के बाद हिन्दी कविता ने सौन्दर्य का दामन छोड़ दिया है, उन्होंने शायद शमशेर की कविताओं का आस्वादन करने का कष्ट कभी नहीं किया। मैं एक क़दम और आगे बढ़कर कहना चाहूँगा कि आज तक हिन्दी में विशुद्ध सौंदर्य का कवि यदि कोई हुआ है तो वह शमशेर है। और इस 'आज तक' में मैं हिन्दी के सब कवियों को शामिल करके कह रहा हूँ।

अपने उसी वक्तव्य में आगे चलकर शमशेर कहते हैं।: "तस्वीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता – इन सबमें बहुत-कुछ एक ही बात अपने-अपने ढंग से खोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर कुछ छिपाकर कही जाती है।"

इतने बड़े पैमाने पर यह बात सच है या नहीं, इस झगड़े में न पड़कर हम इस कथन को शमशेर की कविताओं के लिए अवश्य प्रयुक्त कर सकते हैं। – एक ही बात है जो अपने ढंग से खोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर और कुछ छिपाकर इन तमाम कविताओं में कही गयी है। चाहे हाशिये पर 'चीन' का नाम लिखा हो, या 'अल्जीरियाई वीरों' का या 'सौन्दर्य' का या 'सींग और नाखून' का। और वह एक बात वही है जिसे शमशेर ने पहले कहा है: "सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन्न होता रहता है।"

सुन्दरता के अवतार की निरन्तर प्रक्रिया में सब-कुछ समाया हुआ दिखता है। इस अनुभव की व्यापकता को उनकी दो बहुत भिन्न कविताओं को साथ रखने पर देखा जा सकता है। एक का शीर्षक 'चीन' है, जो उनके संग्रह' कुछ कविताएँ' में प्रकाशित है। दूसरी कविता का शीर्षक 'सौन्दर्य' है और वह 'नयी कविता' के सातवें अंक में प्रकाशित हुई है।

बेशक दूसरी कविता में झिलमिलापन और भावों की उमड़न पहली कविता के मुक़ाबले अधिक है, लेकिन सिर्फ़ कविताएँ सुनकर यह कल्पना करना लगभग असम्भव है कि पहली कविता का शीर्षक 'चीन' है और वह 'चीनी जनता का लोकसत्तात्मक गणतन्त्र राज्य' के चीनी अक्षरों को चित्र-पहेली की तरह इस्तेमाल करके रची गयी है, और दूसरी कविता का शीर्षक 'सौन्दर्य' है। सच तो यह है कि शमशेर की सारी कविताएँ यदि शीर्षकहीन छपें, या उन सबका एक ही शीर्षक हो, 'सौन्दर्य, शुद्ध सौन्दर्य' तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। शमशेर ने किसी विषय पर कविताएँ नहीं लिखी हैं। उन्होंने कविताएँ, सिर्फ कविताएँ लिखी हैं, या यों कहें कि एक ही कविता बार-बार लिखी है। शमशेर इस पल-छिन्न अवतार लेते हुए सौन्दर्य के गवाह हैं—ऐसे गवाह जिसने इस अवतार के हर रंग और हर विस्तार को

उसके 'अनन्त लीला' रूप में स्पृहा के माध्यम से ठीक-ठीक स्वायत्त करने की शपथ ली हो। यह स्पृहामय साक्षी भाव शमशेर की काव्यानुभूति का दूसरा तत्व है।

इन दोनों तत्वों को समन्वित करने के पहले एक और तत्व को भी हम देख लें। वह है हमारे ऐतिहासिक परिवेश का। पिछले बीस-पचीस बरसों की हिन्दी कविता में जो एक व्यक्त या अव्यक्त संघर्ष काव्य के आदर्शों को लेकर रहा है, स्थूलत: प्रगतिवाद बनाम प्रयोगवाद का, क्या उसका हल शमशेर ने निकाल लिया है? सतही तौर पर कहा जा सकता है कि शायद ऐसा है। लेकिन कुछ ऐसा भी है जो इसको अच्छे-खासे कमाल का रूप भी देता है। वक्तव्य उन्होंने सारे प्रगतिवाद के पक्ष में दिये, कविताएँ उन्होंने बराबर वे लिखीं जो प्रगतिवाद की कसौटी पर खरी न उतरतीं। मार्के की बात यह है कि इनमें-से कोई भी पहलू दिखावा नहीं है। ये दोनों ही मुद्राएँ उनके निजीपन की वास्तविक आवश्यकता से ही उपजती हैं। उनकी कविताएँ तो उनके लिए नितान्त निजी हैं ही, प्रगतिवाद से उनका उलझाव भी कम निजी नहीं है। शमशेर से ज़्यादा इससे और कौन अवगत है कि इन दोनों के बीच में एक खाई है जिसे वे भर नहीं पाते? जितनी बार वे प्रगतिवाद के आदर्श की चर्चा करते हैं उतनी ही बार वे 'ऊँच रुचि और मति' तक पहुँच पाने की अपनी असमर्थता का भी बलपूर्वक उद्घोष करते हैं।

मनोविश्लेषण को ही काव्य-विश्लेषण का पर्याय माननेवाले इस स्थिति को विभाजित व्यक्तित्व का सटीक उदाहरण समझकर सन्तुष्ट हो जायेंगे। लेकिन मनोविश्लेषण आदमी के व्यक्तित्व के बारे में जो कुछ भी बतलाता हो, कविता के बारे में कुछ नहीं बतलाता। क्योंकि कविता का आधार वह 'निजीपन' है, मनोविश्लेषण का 'अहं' जिसके आगे सतही मालूम पड़ता है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विवाद जब आज पुराने पड़ चुके हैं तब शमशेर की इस दुविधाग्रस्त स्थिति के अवशेष उनके दोनों संग्रहों में एक रोचक ढंग से दिखलाई पड़ते हैं। हमने आपके सम्मुख चीन पर लिखी उनकी पुरानी कविता का उल्लेख किया। अगर कविता के साथ छपी टिप्पणी और हाशिये के चीनी अक्षरों का जिक्र न किया जाये तो कविता में अपने आप में प्रगतिवाद का कोई अवशेष नहीं रह जाता। इसी तरह 'माई', 'का० भारद्वाज', 'ऐ शाम है', 'हमारे दिल सुलगते हैं' आदि कविताओं का प्रगतिवाद भी इन कविताओं में उतना नहीं है जितना इन कविताओं के साथ जुड़ी हुई टिप्पणियों में। यह निष्कर्ष निकालने का लोभ होता है कि शमशेर का प्रगतिवाद उनकी कविता के हाशिये तक सीमित रह गया। क्या इस निष्कर्ष से शमशेर की काव्यानुभूति के केन्द्र तक पहुँचने में सहायता मिलती है?

शायद ! क्योंकि प्रगतिवाद शमशेर के लिए मात्र वह नहीं है जो वह है, बल्कि वह है जो उनकी निजी ज़रूरत को पूरा करता है; उनकी काव्यानुभूति की बनावट का अंग बनकर प्रस्तुत होता है। इसी अर्थ में वह उनके लिए अभिनय नहीं है, वास्तविकता है।

ऊपर हमने अभिव्यक्ति को 'कवि के जीने मात्र' के लिए ज़रूरी होने का ज़िक्र किया है। स्थूल रूप में कविता किसी के जीने मात्र के लिए जैविक आवश्यकता की तरह महत्वपूर्ण नहीं होती। शमशेर के लिए यह स्तर मनोवैज्ञानिक जीवन का भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि कवि कविता न लिखे तो पागल हो जाये। कविता और जीवन की अभिन्नता अनुभूति के स्तर पर है। काव्यानुभूति और जीवनानुभूति एक ही वस्तु है।

इस सन्दर्भ में ही प्रगतिवाद के बारे में शमशेर का वक्तव्य हम समझ सकते हैं।: "जहाँ तक वह मेरी निजी उपलब्धि है वहीं तक मैं उन्हें, दूसरों के लिए भी मूल्यवान समझता हूँ।'' इसमें 'जहाँ तक' और 'वहीं तक' पर बल खुद शमशेर का दिया हुआ है। शमशेर का मार्क्सवाद आरम्भ से ही इस 'जहाँ तक-वहीं तक' की बारीक शमशेरीय छन्नी से छाना हुआ मार्क्सवाद है।

दूसरे सप्तक के वक्तव्य में शमशेर 'समाज-सत्य' को आग्रहपूर्वक 'मार्क्सवाद' का पर्याय घोषित करना ज़रूरी समझते हैं। 1961 तक जो चीज़ मार्क्सवाद थी, वह 'समाज-सत्य का मर्म' हो गयी। बेशक इन दस वर्षों में परिवर्तन हुआ है, कम से कम आग्रह का। कम से कम शमशेर के लिए एक लाभ इसमें अवश्य दिखता है—कि 'अपनी भावनाओं में', 'अपनी प्रेरणाओं में', 'अपने संस्कारों में'—'समाज़-सत्य के मर्म' को ढालना और उसमें 'अपने को पाना' उतना कठिन नहीं है, जितना वह जिसे वे मार्क्सवाद के नाम से अभिहित करते हैं।

केन्द्रीय शब्द 'निजी उपलब्धि' है। सत्य की निजी उपलब्धि की यह प्रक्रिया क्या है? समाज-सत्य वह है जो हमारे निजत्व के बाहर है। मूलत: यह वह 'अतल' है जिसमें 'अटका हुआ आँसू' गिरता है। इस बाहर के सत्य को अपने भीतर खींच लाने की प्रक्रिया ही 'निजी उपलब्धि' है। बाहर का सत्य इस भीतर खींचने की प्रक्रिया का प्रतिरोध करता है। इसीलिए वह अनुभूति में 'जहाँ तक' 'वहीं तक' की कशमकशवाली शब्दावली में अभिव्यंजित होता है। मैने आरम्भ में उस गति की चर्चा की थी जो आत्मपरकता की वस्तुपरकता की तलाश करती है। निजी उपलब्धि की यह दूसरी गति उसका विलोम है—वस्तुपरकता की आत्मपरकता की तलाश है। यह अतल का वह प्रक्षेप है जो आँख की

कोर पर अटके हुए आँसू को शून्य गर्भ से पृथक्त्व का जीवित क्षण प्रदान करता है। बाह्य यथार्थ, सामाजिक सत्य, वस्तुजगत, भिन्न रुचि अथवा अतल वह है जो आन्तरिकता पर, कविता पर, जीवनानुभूति पर 'टिक' लगाता है, उसकी पुष्टि करता दिखता है।

इस तरह समाज-सत्य अर्थात् काव्येतर अनुभूति को निजी उपलब्धि बनाना उसे काव्यानुभूति के उपयोग में लाना है। लेकिन शमशेर के लिए काव्यानुभूति के केन्द्र में, उसके साथ सायुज्य में उसकी सत्ता नहीं है। प्रगतिवाद से उलझाव के दौर में भी वह एक तरह से हाशिये पर स्थित है। वह काव्यानुभूति की 'पहुँच के बाहर' एक क्षितिज, एक अतल, एक काव्येतर अनुभूति की तरह अस्तित्व ग्रहण करता है। काव्यानुभूति के साथ इस ख़ास रिश्ते में जुड़ना ही उसका एक साथ ही निजी उपलब्धि भी होना है, और 'पहुँच के बाहर' भी होना है। जहाँ तक उसकी यह अवस्था शमशेर के काव्य में है वहीं तक वह औरों के लिए भी उपयोगी है। आजकल की शब्दावली में कहें तो काव्यानुभूति और प्रगतिवाद एक तरह के सह-अस्तित्व में आमने-सामने दर्पण की तरह रखे हुए हैं – कविता और हाशिये पर की लिखावट की तरह। लेकिन यह सह-अस्तित्व निरपेक्षता नहीं है, साक्षात्कार है। रिश्ते का अभाव नहीं है, रिश्ते की सम्भावना है। वस्तुत: सम्भावना ही वह आधारभूमि है जिसमें आत्म और वस्तु दोनों का अस्तित्व होता है। इस सम्भावना को सिर्फ़ दिमाग़ी कौल की तरह नहीं, बल्कि सीधी, माध्यमहीन, जीवन की धड़कन की तरह अनुभूत करना ही काव्यानुभूति है।

आरम्भ में जिसे शमशेर मार्क्सवाद कहते थे, उसके लिए दस वर्ष कुछ अधिक ढीली शब्दावली 'समाज-सत्य' या उससे भी अधिक ढीली शब्दावली 'समाज-सत्य का मर्म', 'इतिहास की धड़कन' आदि का प्रयोग करते हैं। शायद यह हाशिये की लिखावट को कुछ और सूक्ष्म, या धुँधला बनाने की कोशिश है। इस अर्थ में यह अनुभूति की मुख्य बनावट में थोड़े-से परिवर्तन का सूचक है। बाहरी आकार से मर्म की ओर जाने का यह आग्रह इस निजी उपलब्धि को काव्येतर अनुभूति से अलग एक आप्तता देने का उपक्रम है। लेकिन अभी भी इसका रूप आत्मपरक और वस्तुपरक, चित् और अचित् के सायुज्य का नहीं है। एक तरह से शमशेर की प्रकृति हमेशा वस्तुपरकता को उसके शुद्ध रूप या, उन्हीं के शब्दों में, उसके 'मर्म रूप' में पकड़ने की रही है। इसीलिए 'उस दौर' में भी, जब वह वस्तुपरकता के बाहरी आकारों की ओर बहुत आकर्षित थे, उनके लिए मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता का ही दूसरा नाम था। लगता यह है कि बाद की शब्दावली एक अनावश्यक शब्दभार को हटाने-भर की कोशिश है – जो कुछ हमेशा था, उसे ही ठीक तौर पर कहने का आग्रह है। इसीलिए मार्क्सवाद का छूटता हुआ दामन, उनके लिए मोह-भंग का रूप

नहीं लेता, बल्कि केंचुल छोड़कर चुपचाप आगे बढ़ जाने की अनुभूति देता है। आज भी उनकी काव्यानुभूति में वस्तुता अपनी शुद्ध स्थिति में अभेद्य किन्तु सूक्ष्म क्षितिज की तरह मौजूद है – और पहले भी मार्क्सवाद इससे अधिक क्या था?

इस प्रकार शमशेर मालार्मीय विडम्बना का हल अपने ढंग से निकालते हैं, वस्तुपरकता के मर्म में आत्मपरकता का, और आत्मपरकता के मर्म में वस्तुपरकता का आविष्कार करके। चित् और अचित् एक-दूसरे का निषेध नहीं करते, बल्कि एक-दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से यह स्थिति छायावाद से भिन्न है, जिसमें चेतना के ही दो दर्पण इस पार और उस पार रखे हुए हैं, और बीच का अचित् ब्रह्माण्ड उनकी परस्पर छाया की तरह आभासित होता है; यह दृष्टि मार्क्स के अद्वैतात्मक भौतिकवाद से भी भिन्न है जिसमें प्रकृति और पुरूष के दोनों दर्पण अचित् के ही हैं और चेतना भौतिकता के ही दर्पण में भौतिकता की पड़ती हुई छाया की तरह आभासित होती है।

कविता दर्शन नहीं है। क्योंकि कवि अपनी मान्यताओं का चुनाव जिस तरह करता है उस तरह दार्शनिक नहीं। दार्शनिक अपनी मान्यताओं में उनकी अपनी परस्पर संगति खोजता है, जबकि कवि के पास मान्यताओं के लिए एक ही संगति है – जीने की ज़रूरत से ही उनकी संगति। इसलिए शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट की इस व्याख्या को आप उनके दर्शन के रूप में नहीं – बल्कि दृष्टि के रूप में, एहसास के रूप में ग्रहण करें। उसके रूप में जिसकी गवाही वे देते हैं – "सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है।"

मैंने सुविधा के लिए चेतना को वस्तुपरकता और आत्मपरकता के दो छोरों में बाँटकर विश्लेषण किया, और उनकी दो गतियों को आपके सामने रखा। लेकिन काव्यानुभूति के क्षण में यह सारी स्थिति इस तरह, अलग-अलग नहीं प्रस्तुत होती। उसकी प्रतीति एक समूची इकाई की तरह होती है। यह इकाई यथार्थ की इकाई है।

इस प्रकार देश-काल से बँधे हुए यथार्थ के मर्म में ही एक दरार, फाँक या रिक्तता है। जहाँ देश न वैसा देश है जिसे हम साधारणत: जानते हैं, और न काल घटनाओं की न लौटनेवाली गति है जिसे घड़ी नापती है। उदाहरण के लिए इस तस्वीर को आप देखें-

"एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
पूरब से पच्छिम को एक क़दम से नापता
बढ़ रहा है।

कितनी ऊँची घासें चाँद-तारों को छूने को हैं
जिनमें घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है
अपनी शाम को सुबह से मिलाता हुआ
फिर क्यों
दो बादलों के तार
उसे महज उलझा रहे हैं ?''

देश की तरह काल में भी फाँक है। यों शमशेर की कल्पना काल को भी देश की ही तरह अनुभूत करती है, एक विशाल विस्तार की तरह जिसमें पौर्वापर्य्य की बाध्यता नहीं है। देश के रूप में काल की अनुभूति, या यों कहें कि काल की वह सरहद जहाँ वह देश से अभिन्न दिखता है, अस्तित्व की किस अवस्था का सूचक है, यह विवेचना की अलग दिशा है, और मेरे लिए बहुत आकर्षक भी है। लेकिन यह विस्तार की बात है। बहरहाल, इस सिलसिले में मैं उनकी 'अमन का राग' और हाल में ही 'कल्पना' में प्रकाशित 'गिन्सबर्ग के नाम' कविताओं का ज़िक्र करूँगा जहाँ काल देश में परिवर्तित होकर 'यूटोपिया' का निर्माण करता है। यह इतिहास को इतिहास के भीतर देखने की कोशिश है। शमशेर के लिए यूटोपिया का अस्तित्व भविष्य की भविष्यता में नहीं, भविष्य की वर्तमानता में है। बल्कि अतीत और भविष्य दोनों की वर्तमानता में है। इसीलिए वह इतिहास की सरहद पर नहीं ऐतिहासिक क्षण के मर्म में, उसकी धड़कन में विद्यमान है। उसमें नैरन्तर्य या पौर्वापर्य्य नहीं है, बल्कि नि:सीमता है।

खैर, इस प्रसंग को छोड़कर, मैं आपका ध्यान उद्धृत कविता की ओर आकृष्ट करूँगा, जिसमें दो पहाड़ों को ठेलकर उभरते हुए आदमी का बिम्ब है। इस कविता की काया शमशेर की अन्य कविताओं के मुकाबले में ज़्यादा भरी-पुरी है, और इसीलिए उतनी दुरूह नहीं है। ठेले जाते हुए पहाड़ देश में, और सुबह और शाम काल में दरार या रिक्तता की स्थापना करते हैं, इतना तो स्पष्ट होगा। यह फाँक वही है जो 'ये लहरें घेर लेती हैं' नामक कविता में 'अन्तरिक्ष में' ठहरे हुए 'एक दीर्घ समतल मौन' से व्यक्त होती है–

"आसमान में गंगा की रेत आईने की तरह हिल रही है।
मैं उसी में कीचड़ की तरह सो रहा हूँ।
और चमक रहा हूँ, कहीं
न जाने कहाँ ।''

यथार्थ के मर्म में जो फाँक है, वह और कुछ नहीं है कवि के मर्म की ही फाँक है। चेतना के अन्तरिक्ष में ही इस अभाव का, न-कुछ का, दीर्घ समतल मौन का, जन्म होता है। उसी तरह जैसे पानी की सतह पर फैले हुए तेल की झिल्ली, फैलने की प्रक्रिया में ही बीच से फट जाती है, और पानी की सतह पर एक शुद्ध अभाव छोड़ जाती है। इस अन्तर्वर्ती शुद्ध विस्तार के उस पार आईने में जो दिखता है वह और कोई नहीं है कवि स्वयं है। ब्रह्माण्ड चेतना के उस पार नहीं है, बल्कि चेतना के भीतर, अन्तर्वर्ती शुद्ध विस्तार के उस पार है।

लेकिन इस 'बेठोस नीले आईने' में, बर्फ की इस पारदर्शी पोली परत में, वह जो अपने को ही देखता है – उसका प्रतिबिम्ब हूबहू वैसा ही नहीं है जैसा वह है। और न वह बिल्कुल दूसरा, बिल्कुल भिन्न ही है, न तो वह प्रतिच्छवि ही है और न छायाभास ही है – वह इन दोनों के बीच की स्थिति अर्थात बिम्ब है। देखने की क्रिया ही बिम्ब देखना है। बिम्बों का सृजन ही काव्यानुभूति की वह नैसर्गिक अवस्था है जहाँ वह जीवन की अनुभूति से एकाकार होती है। बिम्ब आत्मा की वस्तुता और वस्तु की आत्मा की तलाश है। इस स्थिति को मैं 'ऑपटिक्स' के उदाहरण से स्पष्ट कर सकता हूँ। जिस तरह वर्तुल आईने में देखने पर प्रतिबिम्ब आईने और देखनेवाले के बीच अन्तर्वर्ती विस्तार में अटका हुआ मालूम पड़ता है – उसी तरह चित्त और अ़चित् के दोनों दर्पण बीच में एक बिम्बलोक का निर्माण करते हैं। यथार्थ के दो नहीं, तीन लोक हैं –

"तीन
ब्रह्माण्ड
टूटे हुए मिले चले गये हैं।"

यथार्थ के मर्म में, अथवा चेतना के मर्म में, जो फाँक है क्या उसे पाटना सम्भव है? काव्यानुभूति का क्षण जो एक साथ ही अन्तर्वर्ती विस्तार के दो छोरों पर रखे हुए आईनों के साक्षात्कार का और इसीलिए अपने को ही दो हिस्सों में विभाजित पाने का क्षण है, इस काँपते हुए, डरे हुए, पिघलते हुए प्रश्न का भी क्षण है। यह तथ्य कि काव्यानुभूति के तल में प्रश्न है उत्तर नहीं है, शमशेर को छायावाद के निकट ले जाता है – विशेषत: महादेवी के, जिनमें भी काव्यानुभूति मुख्यत: प्रश्न का रूप लेती है। लेकिन महादेवी का प्रश्न शुद्ध प्रश्न है-वह शुद्ध 'मैं' का शुद्ध 'तू' के प्रति फेंका हुआ तीर है। दूसरी तरफ़ शमशेर का प्रश्न, प्रश्न की शुद्धावस्था नहीं है; वह मैं का ऐसे तू के प्रति फेंका हुआ तीर है जो प्रश्न के पहुँचते-पहुँचते मैं में ही परिवर्तित हो जाता है। शमशेर के प्रश्न के छोर पर उत्तर की सम्भावना झिलमिलाती है। वस्तुत: वह प्रश्न नहीं है, उत्तर भी नहीं है:

उत्तर की सम्भावना है। मेरे लिए यहाँ उदाहरण देना सम्भव नहीं है लेकिन में आप विद्वज्जनों से प्रार्थना करूँगा कि जहाँ -जहाँ शमशेर की कविताओं में 'कौन?' 'न जाने कौन' आदि प्रश्नवाची व्यंजनाएं प्रयुक्त हुई हैं उनकी आप महादेवी के 'कौन', न जाने कौन' आदि से तुलना करें तो समानता और अन्तर दोनों स्पष्ट होंगें। महादेवी का 'कौन' एक खुले हुए असीम की स्थापना करता है; शमशेर का 'कौन' भी असीम की स्थापना करता है, लेकिन यह असीम घिरा हुआ असीम है। आशा करता हूँ कि 'घिरे हुए असीम' की कल्पना सिर्फ़ शाब्दिक उलटबाँसी नहीं लगेगी, लेकिन आप देखेंगे कि यह वही है जिसे पहले दरार, फाँक या अन्तर्वर्ती विस्तार का नाम दिया गया।

प्रश्न के छोर पर उत्तर की जो सम्भावना झिलमिलाती है वही बिम्बलोक है। यह सम्भावना मालार्मीय विडम्बना के बीच कल्पना के अनुग्रह की दुर्लभ घड़ियों की तरह—कभी-कभी ऐसा होता है कि बिम्बलोक दरार को पूरा का पूरा भर देता है। सुन्दरता का अहैतुक अवतार, अनन्त और अपरम्पार लीला होने लगती है। यह यूटोपिया का वह क्षण है, जिसमें पूरा का पूरा काल, देश में परिवर्तित हो जाता है। अत्याधिक उल्लास, और चमकते हुए उत्साह के साथ, परिपूर्ति का यह अनुभव कवि का साक्षात्कार एक नये तरह की नि:सीमता – बन्धन - मुक्ति और स्वतन्त्रता की नि:सीमता—से कराता है। क्योंकि यह सिर्फ़ उल्लास और आवेग का ही नहीं, बल्कि एक बहुत बड़ी विजय का भी क्षण है। यह पाश टूटना, उस संकोच और प्रतिरोध के पाश का टूटना है जो आत्मा और वस्तु की परस्पर उन्मुख गतियों को परस्पर विपरीत गतियों में बदलता रहता है। परिपूर्ति की यह धारासार बारिश जो लगता है कि कोई भी खाली जगह नहीं छोड़ती, शमशेर की यूटोपियन कविताओं में व्यक्त हुई है। मै पहले कह चुका हूँ कि यूटोपिया भविष्य की भविष्यता नहीं, बल्कि उसकी वर्तमानता है। अर्थात यूटोपियन दृष्टि भविष्य का निषेध नहीं करती, भविष्य और वर्तमान के बीच जो अन्तराल है उसका निषेध करती है। तब उस 'घिरे हुए असीम' का क्या होता है? क्या वह घिरा हुआ या असीम नहीं रह जाता? घिरा हुआ असीम वह तब भी रहता है, फ़र्क इतना ही है कि जो कुछ पहले अभाव या रिक्तता की तरह लगता था वह सहसा भाव या परिपूर्ति में बदल जाता है। शून्य अवस्था घन अवस्था में बदल जाती है। क्या इस रिक्तता को जो अलग करती दिखती थी, इस तरह नहीं देखा जा सकता कि वह दोनों आईनों को जोड़ती हुई दिखे? शमशेर की यूटोपियन कविताओं में ही उनके बिम्ब सर्वाधिक सघन, ठोस और अपारदर्शी मालूम पड़ते हैं। या यों कहें कि वे कम से कम बिम्ब रह जाते हैं और अधिक से अधिक प्रतिच्छवि मालूम पड़ने लगते हैं। उनकी वह गहराई जो उन्हें एक बिम्बलौकिक चमक देती है, विलीन होने लगती है। यूटोपिया की तलाश हाशिये की लिखावट की तलाश है। अर्थात् जैसे-जैसे कवि यूटोपिया की ओर

बढ़ता है, वह अपनी मृत्यु की ओर बढ़ता है। क्योंकि यूटोपिया की अन्तिम परिणति मार्क्सवाद है, (कम से कम शमशेर के लिए अब तक रही है) और मार्क्सवाद वह हिस्सा है जो काव्यानुभूति के बाहर पड़ता है। वह शुद्ध वस्तुपरकता है जहाँ कवि मर जाता है। कवि ही क्यों, यथार्थ भी मर जाता है। हाथ आता है सिर्फ़ एक मरा हुआ वर्तमान और मरा हुआ भविष्य।

आख़िरकार यूटोपिया का मतलब क्या है? वह लोक जिसका अस्तित्व नहीं है। इस तरह उसके अस्तित्व में ही अनस्तित्व की शर्त है। उसका संकल्प जितना शुद्ध जितना उन्मुक्त होगा, उतना ही वह निषिद्ध एवं वर्जित होता जायेगा। इसी कारण यह बिम्बलोक है। सरहद के पार यूटोपिया की स्पृहा अपने अन्तिम रूप में मृत्यु की स्पृहा की तरह महसूस होती है—

"आईनो, रोशनाई में घुल जाओ और आसमान में
मुझे लिखो और मुझे पढ़ो।
आईनो, मुसकराओ और मुझे मार डालो।
आईनो, मैं तुम्हारी ज़िन्दगी हूँ।"

लेकिन शमशेर की कविता के हाशिये पर सिर्फ मार्क्सवाद का नाम नहीं लिखा है। दूसरी तरफ एक और हाशिया है जिस पर एक और इबारत है, जो एक दूसरे अर्थ में वर्जित है। उस इबारत का नाम शमशेर देते हैं—सुर्रियलिज्म या अतियथार्थवाद। यह पहली इबारत की ठीक उलटी इबारत है। धन का ऋण पक्ष है। अतियथार्थ वस्तुतः इतिहास में क्या था या क्या है, यह उतना प्रासंगिक नहीं है जितना यह कि उसका निजी इस्तेमाल शमशेर क्या करते हैं। उनके लिए अतियथार्थवाद शुद्ध आत्मपरकता है, जिस तरह मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता है। रेखाचित्रों की शक्ल में वह 'कुछ कविताएँ' नामक संग्रह में 'घनीभूत पीड़ा' शीर्षक कविता में हाशिये पर मौजूद है—और ये चित्र 'चीन' नामक कविता के चीनी अक्षरों की भाँति—कविता की 'पहुँच के बाहर' होते हुए भी कविता के 'अभिन्न अंग' हैं। बहरहाल, मुख्य बात यह है कि दोनों हाशियों की तरफ कवि का रुख एक जैसा नहीं है। मार्क्सवाद या वस्तुपरकता वह है जिसका कवि क़ायल है, लेकिन जिसे वह काव्यानुभूति में ला नहीं पाता। अतियथार्थवाद वह है जो बरबस काव्यानुभूति में फूटा पड़ता है लेकिन कवि जिसका क़ायल नहीं है और जिसे दबाकर, निकालकर कविताओं में से अलग कर देना चाहता है। एक तरफ अपने को वायवी बनाकर असम्भव ऊँचाई को छू लेने की स्पृहा है, दूसरी तरफ़ अपने को पत्थर की तरह ठोस बनाकर उमड़ती हुई

वायवीयता को दबा देने की कोशिश है। इन दोनों हाशियों के बीच शमशेर की काव्यानुभूति एक व्याकुल शान्ति की तरह स्थिर है। मूलत: वह जिसे हम जीवन कहते हैं दो अतियों अथवा सीमान्तों के बीच गति और प्रतिगति का एक झीना, झिलमिलाता हुआ और बेचैन सन्तुलन है।

मार्क्सवाद की तरह अतियथार्थवाद भी एक यूटोपिया की सृष्टि करता है। यह यूटोपिया एक तरह का निषेधात्मक यूटोपिया है। धन बिम्बलोक के मुकाबले में ऋण बिम्बलोक है। 'कुछ और कविताएँ' में दी हुई दो कविताएँ 'सींग और नाखून' तथा शिला का खून पीती थी' इस निषेधात्मक, या यों कहें, निषिद्ध यूटोपिया का चित्र प्रस्तुत करती हैं। यहाँ भी काल पूर्णत: देश में समाहित हो जाता है—जैसे समय का प्रवाह पत्थर होकर रुक गया हो। इसके आगे राह नहीं है। अर्थात् घिरा हुआ असीम यहाँ भी पूरा का पूरा भर गया-सा लगता है—

"शिला का ख़ून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं
सीढ़ियाँ भी बादलों की झूलतीं
टहनियों—सी
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना:
सुतल था।"

आप देखेंगें कि वह बेचैन छटपटाहट जो गति और प्रतिगति के बीच सन्तुलन खोजती हुई 'अमन का राग' में उन्मुक्त हो गयी थी, यहाँ आकर ठोस, बिल्कुल जड़ हो गयी है। इन कविताओं के बिम्ब भी उतने ही सघन, ठोस और अपारदर्शी हैं। लेकिन इस ध्रुवान्त पर वे सबसे अधिक दुरूह लगते हैं। 'अमन का राग' या 'चीन' में अर्थ जो शब्दों की सतह पर तैरता दिखता है, यहाँ आकर 'गुम' हो गया है। पूरी कविता के भीतर एक विशाल अनुपस्थिति की व्यंजना होती है। इस निषिद्ध यूटोपिया के पास पहुँचने पर भी बिम्ब अपनी बिम्बलौकिकता खोने लगते हैं; वे बिम्ब नहीं रह जाते, वे प्रतीक हो जाते हैं। ये प्रतीक किसके प्रतीक हैं? ये प्रतीक हैं—'कुछ नहीं' के। अक्षरश: 'कुछ नहीं' के। यह पीड़ा की वह अवस्था है जहाँ उसमें से स्पृहा, उच्छ्वास, तड़प, बेचैनी सब कुछ अनुपस्थित हो जाता है और दर्द एक जड़ चट्टान की तरह जम जाता है। हाशिये की इस ऋण दिशा

में भी कविता जैसे-जैसे बढ़ती है, अपनी मृत्यु की ओर बढ़ती है। इसलिए कि इसके आगे पागलपन, मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति है जो चेतना की मृत्यु का पर्याय है। घबरा-घबराकर शमशेर इस प्रतीकात्मक अतियथार्थ से यदि वापस लौटते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। वह अपने होशो-हवास की दुरुस्ती को बनाये रखने के लिए ही संघर्ष करते हैं।

सीमान्तों तक जाकर इस खाई को नहीं पाटा जा सकता। फिर आदमी क्या करे? हारकर, हताश कातरता के साथ शमशेर उस घिरे हुए असीम के बीच में सन्तुलन की तलाश करतें हैं। यह मध्यता एक फाँक, अटकाव, की तरह महसूस होती है: जैसे कुछ ऐसा है जो हमेशा के लिए चुंगल में फँस गया हो। मध्य का यह फाँसदार सन्तुलन निष्क्रिय नहीं है। वह मुख्यत: गति है – "ओ सुदूरपन ओ केवल लयगति।"

लेकिन मध्य का यह सन्तुलन एक विधायक, सक्रिय, स्वयम्भू उत्स की तरह नहीं जन्म लेता, जैसा कि अज्ञेय के काव्य में है। इसके विपरीत यह सन्तुलन दो निषेधों के आपसी निषेध से पैदा होता है। शमशेर मूलत: अतिवादी हैं, ऐसे अतिवादी जो अपने ही अतिवाद से सहमकर वापस लौटने की चिरन्तन मुद्रा में गिरफ्तार हो गये हैं। यही है जो उलझी हुई भावनाओं का रूप ग्रहण करता है। दो पहाड़ों को ठेलकर उभरते हुए आदमीवाली कविता में भी, जो उनकी दूसरी कविताओं के मुक़ाबले इस सन्तुलन को अधिक से अधिक विधायक रूप देती दिखती है– अन्त में बादलों के दो तार निषेध करनेवाली दो गतियों की तरह उस फाँस की याद दिला ही देते हैं।

इस प्रकार यथार्थ की तह में निषेध है जो बिम्बलोक को जन्म देता है। यह निषेध मालार्मे की तरह सिर्फ़ रिक्तता की सृष्टि न करे इसलिए इसको ज्यों का त्यों आत्मसात् करना सम्भव नहीं है। दूसरी तरफ, इसकी सत्ता से इन्कार करना धन या ऋण यूटोपिया में पहुँचना है, जो मृत्यु का ही दूसरा नाम है। अत: इसके प्रति सहमा हुआ-सा कातर, निरीह वैष्णव भाव ही एकमात्र उपाय है। जैसे ही यह भाव उदित होता है, बिम्बलोक एक बेचैन सन्तुलन की भाँति जन्म लेता है।

शायद अब आप देखेंगे कि शमशेर सचमुच कितनी साँसत में हैं। उनकी स्पृहा की समस्या इस निषेध को विधेय रूप में आत्मसात् करने की है। बिना तट पर पहुँचे हुए ही तटस्थ होने की है। चेतना के सीमान्तों को चेतना के मध्य में महसूस करने की है। इसी कारण इतनी ऐंठन, इतना उलझाव, इतना पेचों-ख़म है – और उनके ऊपर तैरती हुई निरीह, मौन, आर्द्र सरलता है। ख़ास बात यह है कि यह मुख्य स्थिति भाव या वस्तुओं के तमाम

रूपों में छिपकर अलग-अलग नहीं आभासित होती है, बल्कि भावों या वस्तुओं के मर्म में मौजूद यह एक ही स्थिति दिखती है। इसी को शमशेर बारम्बार घुलना या घुलाना कहते हैं-और इसीलिए काव्यानुभूति यथार्थ के जिस हिस्से को पकड़ती है, शीर्षकों के बावजूद एक ही कविता का निर्माण करती दिखती है।

'घिरे हुए असीम' के निषेधों की यह भावभूमि बारम्बार उन बिम्बों को जन्म देती है जो अपनी विविधता के बावजूद एक ही हैं-

(1) रह गया सा एक सीधा बिम्ब
चल रहा है जो
शान्त इंगित-सा
न जाने किधर।

(2) मैं सुनूँगा तेरी आवाज़
परती बर्फ़ की सतहों में तीर-सी।

(3) एक दरिया उमड़ कर पीले गुलाबों का
चूमता है बादलों के झिलमिलाते
स्वप्न जैसे पाँव।

(4) मौन आहों में बुझी तलवार

(5) कठिन प्रस्तर में अगिन सूराख

(6) ग़रीब के हृदय, टँगे हुए

(7) सुर्मई गहराइयाँ, भाव में स्थिर

(8) पूरा आसमान का आसमान है एक इन्द्रधनुषी ताल

(9) मोह मीन गगन लोक में बिछल रही

(10) मैं खुले आकाश के मस्तिष्क में हूँ

(11) कई धाराएं खड़ी हैं स्तम्भवत् गति में

(12) उषा के जल में सूर्य का स्तम्भ हिल रहा है

(13) धुँधली बादल-रेखा पर टिका हुआ आसमान

(14) क्षितिज के बीचोंबीच खिला हुआ फूल

(15) अन्धकार के चमकीले निर्झर में, तुम्हारे स्वर चमकते हैं

(16) खून बजता है हवा में। आदि-आदि।

ये सारे बिम्ब निषेध की प्रक्रिया में सन्तुलित हैं। उनका अस्तित्व लगभग घुलकर रिक्त होने जाने के क्षण में है। उनकी चमक, उनकी पारदर्शिता और उनकी गत्यात्मकता इसी से उपजती है। इसके अलावा वे उसी घिरे हुए असीम में अटके हुए हैं; अन्धकार का चमकीला निर्झर उस असीम में गिर रहा है, लेकिन उसमें चमकता हुआ स्वर उसे पूरा का पूरा नहीं भरता। इस सन्तुलन में एक थरथराहट है। यह थरथराहट एक गति में फँसी हुई प्रतिगति है। बिम्ब न सही तो थरथराहट, झिलमिलापन उस असीम को भरता हुआ दिखता है। घिरे हुए असीम को भरती दिखती हुई बिम्बों के साथ की थरथराहट, या चमक ही उनकी बिम्बलौकिकता है। इस बेचैन, छीजते हुए सन्तुलन को हम पदार्थों की रेड़िया-प्रक्रिया के दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

मैने 'बिम्बलोक' शब्द का प्रयोग किया है। बिम्ब और बिम्बलोक के अन्तर को स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक है। यह लगभग उसी तरह का अन्तर है जो विष्णु और विष्णुलोक में है। विष्णुतत्व और विष्णुलोक में अन्तर है। उसी तरह बिम्ब के बिम्बतत्त्व और बिम्बलौकिकता में अन्तर है। शमशेर की कविता में घिरे हुए असीम को बिम्ब की बिम्बात्मकता नहीं, उसकी बिम्बलौकिकता भरती है। अन्तिम रूप में शमशेर की काव्यानुभूति बिम्ब की नहीं, बिम्बलोक की अनुभूति है। इसी का निर्माण वे बार-बार करते हैं, और विविध बिम्बों के बावजूद एक ही कविता लिखते हैं। अन्ततः इस बिम्बलोक में बिम्ब का भी पर्यवसान हो जाता है। लेकिन बिम्ब का पर्यवसान उस लोक का भी पर्यवसान है।

निषेध का अन्त नहीं है। विधेय रूप में निषेध को आत्मसात् करने पर भी वह निषेध ही बना रहता है। उसका अन्त नहीं होता। निषेध का अन्त वहाँ है जहाँ से विधायकता का आरम्भ होता है। शमशेर का बिम्बलोक कब तक इस निषेधात्मक यूटोपिया से घिरा रहेगा? अवतार को लीला रूप में देखने की कोशिश तात्त्विक दृष्टि से घटित होने को केवल होने के रूप में देखना है। आप देखेंगें कि यही समस्या भक्तिकाल की दार्शनिक समस्या है। यूरोप के अस्तित्ववादी दार्शनिक यास्पर्स ने कहा है कि असली प्रश्न यह है कि क्या नास्तिक सन्त होना सम्भव है? यास्पर्स का दर्शन इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश है। शमशेर की काव्यानुभूति के मौन विस्तार में भी यही प्रश्न मँडराता रहता है।

काव्यानुभूति की इस बनावट का शिल्प के स्तर पर एक नतीजा यह निकलता है कि शब्द जो जड़ थे, सहसा पोले पड़ने लगते हैं। शब्द की जड़ अवस्था वह है जो उनको रूढ़ अर्थों के पाश में बाँधती है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक अचल स्थिरता की तरह परिभाषाबद्ध हो जाता है। उनके पोले पड़ने का मतलब है कि अर्थ को परिभाषा के तात्त्विक कैवल्य की भाँति नहीं बल्कि प्रक्रिया की तरह देखा जाये। तब शब्द के पाश टूटने लगते हैं, और वे परिभाषा का अर्थ नहीं, जीवन की अनुभूति का अर्थ देने लगते हैं। शब्द की अर्थशक्ति में इतना बड़ा परिवर्तन हिन्दुस्तान में एक बार और हो चुका है जब गुमनाम ध्वनिकार ने व्यंजना शक्ति का आविष्कार किया। उस समय शब्दों के पास टूटने की अनुभूति हुई होगी। ध्वनि सिद्धान्त तत्त्वत: घटित को अस्तित्व की तरह फैलता हुआ देखने का प्रयास है। क्या ध्वनि सिद्धान्त और बाद में विकसित होनेवाले विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत में कोई असंलक्ष्यक्रम रिश्ता है? आप विद्वज्जनों के सम्मुख मैं इस ख़तरनाक क्षेत्र में प्रवेश करने की मूर्खता नहीं करूँगा। इस गुत्थी को खोलना समर्थ व्यक्तियों का काम है। मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि शब्दों के प्रति शमशेर की, और समूची नयी कविता की दृष्टि हिन्दुस्तान की पुरानी उपलब्धियों से अलग नहीं है, बल्कि ठेठ उनके मध्य में स्थापित है। आज की कविता की समस्या लगभग उसी शक्ल में सामने आती है, जिस तरह वह ध्वनिकार के सामने आयी थी। उसमें पहले की सभी दृष्टियों का समाहार हो गया। शमशेर की कविता, या समूची नयी कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नहीं है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की ज़रूरत है।

जब एक बार शब्दों को जकड़े हुए अर्थों के पाश टूट जाते हैं, तब उनकी इस नयी मुक्ति की अवस्था में, उन्हें नये-नये रिश्तों में जोड़ना सम्भव होने लगता है। शमशेर के शब्दों में –

> "जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
> सजग-सा होकर पसरने लगा
> आप से आप।"

ऐसी अवस्था में ऐसे-ऐसे शब्द साथ-साथ आने लगते हैं, जिनके साहचर्य की कल्पना पहले नहीं की गयी थी, और 'साँस की गंगा', 'हल्की मीठी चा-सा दिन', 'हँसी का फूल', 'मौत के रंगीन पहाड़, 'अगोरती विभा', 'काग़जी विस्मय', 'सुलगता हुआ पहरा', 'मोतियों को चबाता हुआ गुल' जैसे प्रयोग सिर्फ चौंकानेवाले करिश्में नहीं लगते, बल्कि एक गूँजते हुए अर्थ से भर जाते हैं। कविता शब्दों और शब्दों के संयोग से नहीं बनती, बल्कि शब्दों का

जाल जो यथार्थ पर फेंका जाता है उससे बनती है। यह फेंका हुआ जाल ही अर्थ है। और अगर यथार्थ स्थिरता नहीं, गत्यात्मक प्रक्रिया है तो शब्दार्थ को भी गत्यात्मक प्रक्रिया होना पड़ेगा। यही शमशेर के शिल्प की समस्या है।

मैंने आपके सम्मुख काव्यानुभूति की बनावट प्रस्तुत की। ऐसे बहुत-से सवाल हैं जो मैंने छोड़ दिये हैं। इस बनावट से कवि का जो स्पृहात्मक सम्बन्ध है उसकी प्रकृति क्या है? यह 'सौन्दर्य' की तरह क्यों आभासित होता है? इस समूचे अस्तित्व का हमारे रोज़मर्रा के जीवन से क्या सम्बन्ध है? छायावाद या हिन्दी काव्य की परम्परा से इसका किस तरह का रिश्ता है? सबसे बढ़कर वह भावात्मक अवस्था जो इस बनावट को ऐन्द्रिकता देती है उसका व्यापार किस तरह का है, यह सब मैंने छोड़ दिया है। इनमें से कुछ प्रश्न तो ढाँचे की इस विवेचना के बाहर हैं, और कुछ का उत्तर देना शमशेर के ही शब्दों में मुझसे ज्यादा 'ऊँच रुचि और मति' वाले विद्वानों का काम है।

इसलिए शायद आपको लगे कि काव्यानुभूति की बनावट की इस विवेचना में मैंने शमशेर की कविता के रेशे-रेशे बिखेरकर रख दिये और कविता की इहलीला समाप्त हो गयी। आख़िरकार विश्लेषण कविता की जगह तो नहीं ले सकता। क्षमा याचना के रूप में मैं आपके सामने शमशेर की दो बहुत मार्मिक कविताएँ 'सागर तट' तथा 'लौट आ ओ धार' रखकर इस विवेचना को समाप्त करूँगा। इन कविताओं में जो अवतरित होता हुआ सौन्दर्य है, यथार्थ पर थपेड़े मारता हुआ चेतना का जो स्पन्दन है, यदि उसकी धड़कन को कुछ अधिक गहराई के साथ आप महसूस कर सकेंगें तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा: आपके प्रति भी और कवि शमशेर के प्रति भी।

6- मुक्तिबोध की कविता की बनावट

कुँवर नारायण

मुक्तिबोध ने केवल कविता लिखी नहीं है, कविता लिखे जाने की मानसिकता और रचनाप्रक्रिया पर भी विस्तार से विचार किया है। इससे उनकी कविताओं को समझने में मदद मिलती है और किसी हद तक आज की कविता को भी।

मुक्तिबोध छोटी कविताओं के कवि नहीं हैं। उनका कहना है-"मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता और जो छोटी होती हैं वे वस्तुत: छोटी न होकर अधूरी होती हैं। इस प्रकार की न मालूम कितनी कविताएँ मैने अधूरी लिखकर छोड़ दी हैं। उन्हें खत्म करने की कला मुझे नहीं आती...." उनकी लम्बी कविताएँ छोटी न होकर क्यों लम्बी ही होती हैं इस पर भी उनकी दिलचस्प टिप्पणी है। एक कविता के लिए कहते हैं-"अगर वह कविता भावावेशपूर्ण होती तो एक बार उसकी आवेशात्मक अभिव्यक्ति हो जाने पर मेरी छुट्टी हो जाती। लेकिन वैसा हो सकना असम्भव है क्योंकि भावावेश किसी बात को लेकर होता है, वह बात किसी दूसरी बात से जुड़ी होती है, दूसरी बात किसी तीसरी बात से। इस तथ्य को मैं यों कहूँगा: यथार्थ के तत्त्व परस्पर गुम्फित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है।"

यथार्थ को इस तरह परस्पर गुम्फित और गतिशील देखना हमें मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट का पहला संकेत देता है। उनकी लम्बी, आदि-अन्त रहित-सी कविताओं की भाषा की बेसब्र गति परस्पर गुम्फित अनुभव-खण्डों की याद दिलाती है। बारीक तराश और पच्चीकारी उनकी कविता की खास पहचान नहीं है, न वे अपनी कविताओं द्वारा उस तरह का असर ही पैदा करना चाहते हैं जैसा छोटी कविताओं द्वारा पैदा किया जाता है। शब्द, बिम्ब, अर्थ, ध्वनियाँ आदि भी परस्पर गुम्फित भँवर की तरह चक्कर खा आगे बढ़ते हैं। अक्सर एक ही बिम्ब, शब्द या अर्थ एक ही कविता में घूम-फिरकर वापस आता है, मगर टेक की तरह नहीं, चक्राकार घूमते छोटे-छोटे पहियों की गति की तरह। 'शब्दों का अर्थ जब' शीर्षक एक कविता है जिसमें ये ही चार शब्द 37 बार लाये गये हैं। इसी तरह 'अँधेरा' शब्द जितनी बार मुक्तिबोध की कविताओं में आया है दूसरे किसी कवि में मिलना मुश्किल है। अपनी कई कविताओं में मुक्तिबोध तुकों का इस्तेमाल भी अर्थों पर किसी तरह का विश्राम देने के लिए नहीं करते, आवर्तन द्वारा गति का आभास देने के लिए करते हैं..... उनका प्रभाव धक्के का-सा होता है मानो कविता को आगे ढकेलने के लिए। 'हर चीज़ जब अपनी' से कुछ उदाहरण लेना चाहूँगा:

कि आखिर बहसियत एक आदमी के
न कि सवालात की हवालात
या कि समस्याओं की
सुनहरी अकादेमी के
हाँ, बहैसियत सिर्फ आदमी के.....

नफरत और नफासत
बीबी के साथ भी सियासत

भीड़ भड़क्का है
सँभलो, अपनी अटैची सँभालकर रक्खो
जमाना उचक्का है
इसीलिए दिमाग के भीतर एक दिमाग में
जहरीली आग है
अकेले में दाँत पीसता हुआ झाग है।
टिकट कलेक्टर है ऊँचा सफेदपोश वक्त।
वैल-शेव्ड चेहरा है, काला और सख्त।
भीतर घुस नहीं सकता है
बिना टिकट कोई भी
समस्या विकट है,
जिसके पास पैसा है उसके पास टिकट है।

–भूरी भूरी खाक धूल

इस कविता में एक वृत्ताकार गति है। अन्तिम तीन पंक्तियों में 'टिकट', 'विकट' और फिर 'टिकट' द्वारा जिस चक्राकार संरचना को गढ़ा गया है उसका फैलाव पिछली पंक्तियों में भी महसूस किया जा सकता है। कभी-कभी वे गति लाने के लिए एक अक्षर की पुनरावृत्ति को आधार बनाते हैं, जैसे इन पंक्तियों में 'ढ़' अक्षर की स्थिति द्रष्टव्य है:

इस सल्तनत में
हर आदमी उचककर चढ़ जाना चाहता है,
धक्का देते हुए बढ़ जाना चाहता है,
हर एक को अपनी-अपनी पड़ी हुई है।
चढ़ने की सीढ़ियाँ
सिर पर चढ़ी हुई हैं।

अक्सर ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध की कविताएँ एक 'एवलांश' की तरह लुढ़कती-पुढ़कती, शब्द बटोरती, आगे बढ़ती हैं – किसी ऊबड़-खाबड़ सतह पर सरपट, जिसमें एक प्राकृतिक दृश्य की छटा है, पर कसाव और संगठन के लिए धैर्य नहीं। इसलिए शायद बहुधा यह लगता है कि उनकी कविताओं में एक भाषाई पैटर्न तो है पर वह संरचना नहीं जिसके पीछे एक खास तरह का सतर्क नियोजन, निदेशन और संयोजन होता है। वे असंगठित लगती हैं: लगती ही नहीं शायद होती भी हैं मानो उन्हें जान-बूझकर इस तरह रचा गया हो कि वे एक उखड़े हुए, बड़बड़ाते यथार्थ के पागलपन का एहसास करा सकें – अपने कथ्य द्वारा ही नहीं अपने फार्म द्वारा भी। यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि यह फॉर्म – या फॉर्म विहीनता – क्या किसी तरह की पूर्वयोजना के मुताबिक है? या कविताएँ स्वत: स्फूर्त (सेल्फ जैनरेटिंग) भाषाई नियम के अनुसार.....नियम जो अपने आप में रचनात्मक दिमाग का स्वभाव माना गया है.....विकसित होती हैं, एक स्वचालित प्रक्रिया या 'सेल-डिवीजन' की तरह सायास उतनी नहीं जितनी अनायास। रचना-प्रक्रिया के सिलसिले में स्वयं मुक्तिबोध ने 'फन्तासी' और 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की भी बात उठायी है। फिलहाल. एक और बात मन में उठती है।

कविताओं की प्रकृति को देखते हुए उनकी एक व्याख्या क्या इस प्रकार हो सकती है कि यह अनगढ़ता और खुरदुरापन कहीं मुक्तिबोध के यकीनों से तो नहीं जुड़ता? यह अनगढ़ता कहीं उस सुगढ़ता के खिलाफ एक विद्रोह और हिकारत का प्रतीक तो नहीं जिस सुगढ़ता के पीछे एक ऐसी संस्कृति और इतिहास की यादें हैं जिसके पास बारीक कारीगरी, पच्चीकारी वगैरह के लिए धैर्य और आराम का लम्बा सामन्ती समय था? मुक्तिबोध की कविताएँ एक खास तरह की झपट और जल्दी में हैं....एक मिल, एक मशीन की तरह जल्दी में: कहीं कुछ ऐसे आवश्यक को नष्ट हो जाने से बचाने की जल्दी में जिसके साथ आदमीयत के जीवन मरण का प्रश्न झूल रहा हो?

लेकिन यह स्पष्टीकरण हमेशा दूर तक हमारा साथ नहीं देता, क्योंकि इसके साथ प्रेषणीयता के सवाल का सामंजस्य नहीं बैठता और एक खास तरह का अन्तर्विरोध सामने आता है। मुक्तिबोध का कथ्य या सन्देशा जितना स्पष्ट और सीधा है उनकी कविताओं की बनावट उतनी ही जटिल और उलझी हुई: वे सहज बोधगम्य नहीं। समझे जाने के लिए वे भारी धैर्य और लम्बा समय चाहती हैं। यानी, एक तरह से मुक्तिबोध की कविताओं का फॉर्म उनके सन्देश या कथ्य के लिए बहुत अनुकूल फॉर्म नहीं ठहरता.....सन्देशा, जिसे मुक्तिबोध महत्व देते हैं और जिसे वे भरपूर पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं। उद्देश्य अगर कविताओं के मात्र सन्देशवाहक होने का ही होता तो शायद ग़जल या गीतों के स्थापित फॉर्म

ज्यादा काम के ठहरते। वैसे मुक्तिबोध की कविताएँ अपने ढंग से भरपूर प्रभाव छोड़ती हैं, बशर्ते कि पाठक में वह लम्बा धैर्य हो जिसकी माँग उनकी कविताओं की बनावट करती है। लेकिन मुक्तिबोध की असली समस्या एक प्रचारक या विचारक की नहीं एक अत्यन्त आत्मसजग कलाकार की है, इसलिए उनकी कविताओं की बनावट की कुंजी विशेष रूप से उनकी रचनात्मक प्रतिबद्धता में खोजनी चाहिए।

यहाँ मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट को लेकर कोई अन्तिम निष्कर्ष निकालने की कोशिश नहीं की गयी है क्योंकि मुक्तिबोध स्वयं इस बारे में किसी अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके थे। कुछ ऐसे बिन्दुओं पर खुला विचार किया है जो मुझे उनकी कविताओं की बनावट से निकलते हुए लगे.....उसे निर्धारित करते हुए नहीं।

मुक्तिबोध ने अपने चिन्तन में 'फन्तासी', 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' और 'मार्क्सवादी यकीनों' की बात की है। ये तीनों बिन्दु महत्वपूर्ण हैं जिनसे वे अपने समय की दुनिया, अपने यथार्थ-बोध और अपनी रचना-प्रक्रिया को समझने-समझाने की कोशिश करते हैं। रचनाशीलता और आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हुए उनके बीच निहित अन्तर्सम्बन्धों की थोड़ी छानबीन ज़रूरी है ताकि मुक्तिबोध की कविताओं का स्वरूप और स्वभाव कुछ स्पष्ट हो सके!

पहले वैज्ञानिक दृष्टिकोण और रचनात्मकता के अन्तर्सम्बन्धों की बात उठाना ठीक होगा, यह देखने के लिए कि क्या मुक्तिबोध की विज्ञान-सम्बन्धी धारणाओं का कोई निकट या दूर का रिश्ता उनकी रचनात्मक सम्वेदनाओं से है? वे स्वयं अपनी साहित्यिक समझ को वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति और फन्तासी से जोड़ते हुए कहते हैं....."मैं चाहता हूँ कि साहित्य सम्बन्धी धारणाएँ वास्तविक साहित्य में विश्लेषण के आधार पर बनायी जायें। जिस प्रकार विज्ञान में इण्डक्शन से डिडक्शन पर आया जाता है, तथ्यों के संग्रह से, उनके विश्लेषण द्वारा.....उसी प्रकार साहित्य में....." और आगे चलकर वे कला के तीन महत्वपूर्ण 'क्षणों' की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं....."कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना, एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णता तक की गतिमानता....फैण्टेसी को शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सृजन होता है, जिसके कारण कृति क्रमशः विकसित होती जाती है – वही कला का तीसरा और अन्तिम क्षण है।" –'तीसरा क्षण: एक साहित्यिक की डायरी'

मुक्तिबोध के अनुसार कला का यह 'तीसरा क्षण' फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ तथा उसका क्रमशः विकसित होते जाना, सृजन का सबसे महत्वपूर्ण चरण है। मुख्य बात है यहाँ मुक्तिबोध की विज्ञान और कलाओं की सृजनात्मकता के बीच लगभग एक-सी रचना-प्रक्रिया की पहचान। इसीलिए वे 'कला के दूसरे क्षण में उपस्थित फैण्टेसी की इकाई में सम्वेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सम्वेदना को' अभिन्न मानते हैं। विज्ञान का सबसे सृजनशील पक्ष, कविता की ही तरह, अन्वेषी और आविष्कारात्मक है और दोनों में ही एक खास तरह की सूझ-बूझ और कल्पनाशीलता बुनियादी है। मुक्तिबोध इस पर ज़ोर देते हैं कि "सौन्दर्य-प्रतीति का सम्बन्ध सृजन-प्रक्रिया से है। सृजन-प्रक्रिया से हटकर सौन्दर्य-प्रतीति असम्भव हो जाती है।" यानी सौन्दर्यानुभूति केवल एक अनुभव या विचार का अनुभव नहीं है, सबसे पहले वह रचनात्मकता का अनुभव है। वैज्ञानिक चिन्तन-विधि और कविता की रचनाप्रक्रिया में एक बुनियादी समानता दिखती है – पहला सूत्रबद्ध और दूसरा रूपबद्ध होने के पूर्व पहले तो बिम्बों, शब्दों, संकेतों, संख्या आदि में विश्लेषण है और फिर उनका एक नया संश्लेषण या संश्लिष्ट रूप (ए प्रोसेस ऑव् डीकन्स्ट्रक्शन एण्ड रिकन्स्ट्रक्शन) है, एक नयी रचना, कृति या इक्वेशन में।

यह नयी रचना या इक्वेशन न तो कवि के ही लिए, न ही वैज्ञानिक के लिए अन्तिम होती है। वह फिर एक नयी रचना के लिए कच्चे माल या खाद का काम करती है। (राजशेखर ने भी 'काव्यमीमांसा' में जो सोलह काव्यार्थ स्रोत गिनाये हैं उनमें 'विरचना' को भी एक जायज काव्यस्रोत माना है।)

मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट में ही एक खास तरह का घुमावदार चिन्तन व्याप्त लगता है: अपने ही कथनों को मानो बार-बार जोतता-बोता हुआ, कविता की जमीन में 'प्लाऊ-ब्रैक' करता हुआ चिन्तन जिस तरह एक वैज्ञानिक विचारों को उलट-पुलटकर उनकी जाँच-परख करता है, साथ ही, जिस तरह विज्ञान अपनी रचनात्मकता में तथ्यमूलक भी होता है और रहस्यात्मक भी; उसी तरह मुक्तिबोध की कविताओं में भी समानान्तर यथार्थमूलक और रहस्यमय पक्ष देखे जा सकते हैं.....और ये दोनों ही तत्त्व 'फन्तासी' या 'मिथक' में भी मौजूद होते हैं। इस प्रकार साहित्य, विज्ञान और मिथक की संरचना में एक तरह का त्रिकोणात्मक सम्बन्ध देखा जा सकता है जिसका मूलाधार है आदमी के अनुभव और कल्पनाशक्ति पर निर्भर उसकी सर्जनात्मक मनोवृत्ति तथा उसे दूसरों तक पहुँचाने की इच्छा। यह सर्जनात्मक पैशन या जुनून ज़रूरी है, इसके बिना एक कलाकार अपनी 'विश्वदृष्टि' को कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं दे सकता।

रचनात्मकता की जो समस्याएँ मुक्तिबोध ने उठायी हैं उन पर अगर हम थोड़ा विचार 'मिथक' या 'फन्तासी' की ओर से भी करें तो मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट के एक प्रमुख पक्ष को समझ सकेंगें। (यहाँ मैं 'फन्तासी' और 'मिथक' के मिलते-जुलते प्रयोजनों को ध्यान में रखते हुए दोनों को समानाशयी शब्दों की तरह इस्तेमाल कर रहा हूँ।)

मुक्तिबोध की कविताएँ मुझे कई मायनों में काफ्का की याद दिलाती हैं। उनके समकालीन यथार्थ की समझ और अभिव्यक्ति के तरीकों में अद्‌भुत समानता है। लम्बा-लम्बा उलझा वाक्यविन्यास, फन्तासी का इस्तेमाल, कविताओं की मिथकीय बनावट, वर्तमान ज़िन्दगी को लेकर दहशत और गहरी व्यग्रता का भाव, अर्धविक्षिप्त-सी मन:स्थितियाँ, एक अन्तहीन कु:स्वप्न की तरह यथार्थ...दानवीय, विकृत और बेतरतीब.....जिसकी अमानुषिक जकड़ में आज का सामान्य आदमी। मुक्तिबोध की एक लम्बी कविता 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' की कुछ पंक्तियाँ हैं.....

यह बँगला है, लाल भवन है....
कमरे के भीतर कमरे हैं,
परदों के भीतर परदे हैं,
जो सबके अन्दर ठीक केन्द्र में बैठा है,
वह एक बड़ा अफसर है, उसकी सत्ता है,
आतंक बहुत
उसके दिमाग़ में गुपचुप जो कुछ चलता है
वह सरकारी गुप्तता नियम के अन्तर्गत
अनकहा रहेगा आखिर तक, हाँ आखिर तक.....

और आखिर तक काफ्का के भी प्रसिद्ध उपन्यास 'द ट्रायल' में लम्बी उबाऊ और पस्त कर देनेवाली सरकारी तहकीकात के बाद भी पता नहीं चलता कि नायक को किस अपराध के दण्ड में फाँसी दी जा रही है। अर्धप्रकाशित गलियारों, फाइलों, रेडटेप, प्रश्न.....प्रश्न.....प्रश्न का दमघोट चक्रव्यूह, और अन्तत: मुक्तिबोध के सामने भी:

वही सनातन प्रश्न,
यहाँ मैं क्योंकर आया?
किस इच्छा-मशीन से धक्का खाकर मैंने
इस टीले पर खुद को पाया ! !

उसी कविता में मुक्तिबोध देकार्त की प्रसिद्ध उक्ति को शब्द देते हैं:

मैं जिन्दा हूँ,
मैं हूँ
'आई एग्जिस्ट'
साबित सही सलामत।

समकालीन जीवन के भयानकतम अंश को दोनों ही एक लम्बे कु:स्वप्न (नाइटमेयर) की तरह देखते और उसे एक जटिल फन्तासी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। लेकिन मुक्तिबोध मनुष्य के खिलाफ उसकी जैविक परिस्थिति के बुनियादी संत्रास को नहीं रखते, यन्त्रमूलक पूँजीवादी व्यवस्था को रखते हैं जो मृत्यु की तरह जीवन-विरोधी तो है पर जिससे छुटकारा सम्भव है। इसीलिए संत्रास के चित्रण में समानता होते हुए भी मुक्तिबोध का अन्तिम विश्लेषण काफ्का से भिन्न है। खास बात है मनुष्य के भयों और दुश्चिन्ताओं का एक फन्तासी या कु:स्वप्न की तरह प्रकट होना, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहीं उन भयों का बहिष्कार और उनसे निवृत्ति भी है। काफ्का के अमूर्त भय और मुक्तिबोध के ब्रह्मराक्षस या ओरांगउटांग हमें अनेक पौराणिक कथाओं की याद दिलाते हैं जिनके द्वारा शायद मनुष्य अपने आदिम भयों का विवेचन करता रहा है। मुक्तिबोध की दुश्चिन्ताओं का सन्दर्भ सामाजिक है। काफ्का के उपन्यासों की एक बन्द दुनिया है। मुक्तिबोध की कविताओं की बनावट स्वच्छन्द और खुली हुई है, एक बीहड़ जंगल की तरह जिसमें स्पष्ट स्वार्थों का खुला डाका है। उनकी बनावट एक किले की तरह नहीं है। भूलभुलैया की तरह है, जिसके बाहर-भीतर हम आ-जा सकते हैं, पर ऐसा लगता है कि आसानी से उसका पार नहीं पा सकते ! दोनों ही की मुख्य चिन्ता मनुष्य है.....उसका निष्कासन, बेगानापन या एलियनेशन.....जो अदृश्य ताकतों के मुकाबले अपने को असहाय और लुटा हुआ पाता है। मुक्तिबोध भी मनुष्य की उस जटिल मानसिकता के प्रति सचेत हैं जो अनेक बाहरी विकृतियों और विसंगतियों को पैदा भी करती है, केवल बाह्य परिस्थितियों का परिणाम ही नहीं होती। आदमी की इन भीतरी प्रवृत्तियों को भी वे खासा महत्व देते हैं:

स्वप्न के भीतर एक स्वप्न,
विचाराधारा के भीतर और
एक अन्य
सघन विचारधारा प्रच्छन्न !!
कथ्य के भीतर एक अनुरोध

विरूद्ध विपरीत,
नेपथ्य संगीत ! !
मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क
उसके भी अन्दर एक और कक्ष
कक्ष के भीतर
एक गुप्त प्रकोष्ठ और
कोठे के साँवले गुहान्धकार में....
.....कोई बन्द है
यक्ष
या कि ओरांगउटांग.....
.....
कहीं प्रत्यक्ष न यक्ष हो।

मस्तिष्क की इन अप्रत्यक्ष तहों की तरह मुक्तिबोध की कविताओं की भी अनेक तहें हैं, भाषाई भी और सन्दर्भात्मक भी, जो कभी बिल्कुल यथार्थ के स्तर पर काम करती हैं और कभी मिथकीय या जातीय स्मृति के स्तर पर। कविता जो केवल हमारी घृणा और प्यार को सम्बोधित नहीं, उस विवेक और विचारशीलता को भी सम्बोधित होती है जो आदमी की मौजूदा विसंगतियों, विकृतियों और गलत स्थितियों के मूल तक जाना चाहती है।

स्वप्न और मिथक का आधुनिक चिन्तन में खास महत्व रहा है। अनेक आधुनिक कृतियाँ और विचारधाराएँ मिथक सम्बन्धी चिन्तनों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हैं। और मुक्तिबोध के सन्दर्भ में भी कई बातें सामने आती हैं। साधारणीकरण और सम्प्रेषणीयता की भी समस्या का एक हल मिथकों को माना गया है – एक लेखक या चिन्तक का अपने विशिष्ट अनुभवों को एक ऐसा आकार देने का आधार जिस आकार में मनुष्य-जाति के तमाम भले-बुरे, कड़वे-मीठे, अनुभवों की यादों के सन्दर्भ हों। विशिष्ट अनुभव या विचार भी मिथकीय ढाँचे में ढलकर एक सार्वजनिक और सार्वकालिक महत्व प्राप्त कर लेते हैं। अक्सर ऐसा भी देखा गया है कि ऊपर से स्वतन्त्र दिखती विचारधाराओं की रूपरेखा भी मिथकीय खाकों का अनुसरण-सा करती लगती है। यथार्थ के साथ मिथक या फन्तासी के एक और तरह के सम्बन्ध पर भी ध्यान जाता है। कल जो फन्तासी था आज सच है, आज जो फन्तासी लगता है कल को वह सच हो सकता है। फन्तासी की मूल शक्ति इस प्रत्यक्ष और परोक्ष, यथार्थ और कल्पित, अपूर्ण और आदर्श को जोड़ सकने में भी है। मुक्तिबोध के सामने निश्चित मार्क्सवादी आदर्श हैं और प्रत्यक्ष यथार्थ का अनुभव भी या

अनुभव से जन्मी फन्तासी जो उनके अनुसार स्वतन्त्र विकासमान है। विकास की धारणा वैज्ञानिक भी है और मार्क्सवादी भी, तथा दोनों ही अपने सामने भविष्य की एक कल्पना रखते हैं। फन्तासी और यथार्थ के रिश्ते पर मुक्तिबोध कहते हैं....."फैण्टेसी यथार्थ में भोगे गये वास्तविक अनुभव की प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैण्टेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभव से स्वतन्त्र बन बैठी। फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है, इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है'' यहाँ दो बातें प्रमुख हैं। एक तो फैण्टेसी का अनुभव से सम्बन्ध, दूसरा फैण्टेसी का स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व। दोनों को मुक्तिबोध की कविता के सन्दर्भ में क्रमश: 'अनुभव' और 'रचना-प्रक्रिया' के समानान्तर रखा जा सकता है। मुक्तिबोध के सामने एक भविष्य है और उस तक पहुँचने के निश्चित तरीके हैं। इनसे उनके विचारों या कथ्य की कुछ निश्चित सीमाएँ बनती हैं, पर उनकी कविताओं के स्वरूप की सीमाएँ नहीं बनतीं, क्योंकि वे ज्यादातर स्वतन्त्र रूप से विकसित होती लगती हैं। इसीलिए उनकी अधिकांश कविताएँ जहाँ बेहतर कविताएँ हैं वहाँ उनमें सिद्धान्तों की जकड़ उतनी नहीं जितना उनके अनुभवों का जिन्दा एहसास और खुलापन है।

मैने यहाँ मुक्तिबोध की कविताओं में कुछ उन बुनियादी सूत्रों को पकड़ना चाहा है जो साहित्य में भी तथा कुछ दूसरे विषयों में भी उनकी गहरी रुचि से जुड़े हैं। मुक्तिबोध की कविताओं में एक सुनहरा स्वप्न है और एक कटु यथार्थ है जिसे वे 'स्वार्थान्ध सभ्यता के शासन के चक्रव्यूह' कहते हैं और जिसके साथ वे किसी तरह का समझौता नहीं करना चाहते। वे हिकारत से कहते हैं:

जाकर उन्हें कह दो कि सफलता के जंग खाये
तालों और कुंजियों की
दुकान है कबाड़ी की।

जीवन की तथाकथित
सफलता के पाने की
हमको फुरसत नहीं.....

पूँजीवादी छेदों में
आधुनिक जीवन बुद्धिजीवियों का
ठीकरे-सा लगता है।

मुक्तिबोध इस सभ्यता पर प्रहार करते हैं एक खास तरह के शब्द-बाहुल्य – शब्दों के बवण्डर कहना चाह सकता हूँ – द्वारा। शब्दों के अर्थ द्वारा उतना नहीं जितना उनकी घटाटोप उपस्थिति, उनकी झल्लाती उमड़ती हुई बहुसंख्या द्वारा, यहाँ तक कि अक्सर यह लगता है कि उनकी भाषा में जितना आयतन है उतना वजन नहीं: शक्ति का प्रदर्शन है, उसका सधा हुआ इस्तेमाल नहीं। ब्रेख्त की याद आती है जिनके शब्दों के इस्तेमाल में अपव्यय नहीं विचारों की-सी चुस्ती और अनुशासन है तथा प्रभाव में एक खास तरह की पैनी मार। मुक्तिबोध की भाषा में छायावादी किस्म का फैलाव और उलझाव है। उनकी कविताओं में ही नहीं, गद्य में भी। कविता में इस तरह की भाषा की अपनी जगह हो सकती है पर गद्य में वह ज़रूरी नहीं लगती। गद्य को जो भाषा रास नहीं आती, कविताओं में वही एक नाटकीय असर पैदा कर ले जाती है और एक विशिष्ट अर्थ में कविता की जमीन को विस्तृत भी करती है। लेकिन मुख्य रूप से यह भाषा भावात्मक है, लक्ष्यभेदी नहीं। मुक्तिबोध वह तीरन्दाज नहीं हैं जिनका तीर ठीक लाल निशान पर जाकर बैठे ! शब्दों का हुजूम है जो अचानक ढेले-पत्थरों की तरह बरसने लगता है और अचानक थम जाता है, मगर हमारी उस मनहूस नींद को बुरी तरह भंग करता है जो हमें हमारे मौजूदा हालात की तरफ से बेखबर बनाती है। वैसे भी, एक निश्चित राजनीतिक आदर्श से प्रेरित होते हुए भी मुक्तिबोध की कविताएँ किसी खास मसले या राजनीतिक मामलों पर केन्द्रित कविताएँ नहीं हैं। वे जानते हैं कि समकालीन राजनीति का अर्थ और समकालीन कविता के पूरे सन्दर्भ का अर्थ एक नहीं होता। भारी-भरकम डील-डौलवाली उनकी कविताओं का लैण्डस्केप बड़े-बड़े पहाड़ों, पठारों, नगरों, जंगलों आदि की याद दिलाता है, धैर्य से काटे-छाँटे और चमकाये नगों की नहीं। उनकी कविताओं में एक बीहड़ नदी का आवेग और उन्माद है, टकराव है, चक्कर हैं, छलाँगे हैं, संघर्ष हैं.....मैदानी नदी की सोचती हुई सी स्थिरता नहीं। कविताओं में भव्यता है पर उनमें एक भव्य स्थापत्य के गुण – जैसे सन्तुलन, समता, अनुपात आदि तत्व--नहीं हैं। किन्तु अपनी समग्रता और जीवनपरकता में मुक्तिबोध की कविताएँ जिन मानवीय आयामों को छूती हैं उनमें कविता के वृहत्तर उद्देश्यों की व्यापकता, ईमानदारी और ताकत है।

07 अँधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज

डॉ. नामवर सिंह

इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँककर देखता हूँ हर एक चेहरा
प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,
व हर एक आत्मा का इतिहास,
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति ! !
खोजता हूँ पठार....पहाड़.....समुंदर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-संभवा !

'अँधेरे में', कविता की ये अंतिम पंक्तियाँ उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है। निस्संदेह इस कविता का मूल कथ्य है अस्मिता की खोज; किंतु कुछ अन्य व्यक्तिवादी कवियों की तरह इस खोज में किसी प्रकार की आध्यात्मिकता या रहस्यवाद नहीं, बल्कि गली-सड़क की गतिविधि, राजनीतिक परिस्थिति और अनेक मानव-चरित्रों की आत्मा के इतिहास का वास्तविक परिवेश है। आज के व्यापक सामाजिक सबंधों के संदर्भ में जीनेवाले व्यक्ति के माध्यम से ही मुक्तिबोध ने "अँधेरे में' कविता में अस्मिता की खोज को नाटकीय रूप दिया है।

नाटकीय कौशल के लिए कविता का 'मैं' दो व्यक्ति-चरित्रों में विभक्त कर दिया गया है : एक है काव्य-नायक 'मैं' और दूसरा है उसका प्रतिरूप 'वह'। यह विभाजन वस्तुत: एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार आत्म-निर्वासन (सेल्फ-एलिएनेशन) है। 'अँधेरे में' का काव्य-नायक एक आत्म-निर्वासित व्यक्ति है, जिसके आत्म-निर्वासन का प्रतीक है उसका गुहावास। दोस्तोएव्सकी के 'अंडरग्राउंड मैंन' के समान ही यह व्यक्ति

भी बाह्य परिस्थितियों से भय खाकर एक तिलिस्मी खोह में निवास करता है। कविता का आरंभ इस तिलिस्मी खोह के रहस्यमय दृश्य से होता है, जो अपने प्रभाव में काफी नाटकीय है :

ज़िन्दगी के
कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर
कोई एक लगातार;

किंतु यह रहस्यमय व्यक्ति दिखायी नहीं देता, केवल उसके चलने की आहट भर सुनाई देती है। अकस्मात भीत से फूलें हुए पलस्तर गिरते हैं और भीत पर खुद-ब-खुद कोई बड़ा चेहरा बन जाता है: नुकीली नाक, भव्य ललाट, दृढ़ हनु ! प्रश्न उठता है : कौन मनु? और इस प्रश्न के साथ ही जैसे काव्य-नायक प्रकट होता है। उसे याद आता है कि यह रहस्यमय व्यक्ति वही है, जो कभी शहर के बाहर पहाड़ी के उस पार तालाब के सलिल के तम-श्याम शीशे में कुहरीली श्वेत आकृति के रूप में प्रकट हुआ था; और फिर थोड़ी देर बाद लाल-लाल कुहरे में से एक रक्तालोक-स्नात पुरूष के रूप में निकला हुआ दिखा था। रात के अँधेरे में बंद दरवाजे की साँकल खटखटाने वाला पुरूष शायद वही है। आत्म-निर्वासित काव्य-नायक को पता है कि "वह रहस्यमय व्यक्ति अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है'' तथा "'हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह आत्मा की प्रतिमा'' है। उस प्रतिरूप से काव्य-नायक डरता है, कतराता रहता है और इसीलिए उसे टालता भी है कि स्वयं उसे अपनी कमजोरियों से लगाव है; उसे डर इसलिए है कि वह "हृदय को देता है बिजली के झटके''' और तुंग-शिखर के खतरनाक कगार पर बिठाकर रस्सी के पुल से पर्वत-संधि के गह्वर पार करने के लिए कहता है। इसके साथ ही यह भी तथ्य है कि "भविष्य का नक्शा दिया हुआ उसका/सह नहीं सकता।'' फिर भी "नही, नहीं, उसको मैं छोड़ नहीं सकता।'' भय और प्रीति का यह नाटकीय द्वन्द्व ही इस आत्म-निर्वासित मन का मुख्य आकर्षण है। अंततः वह दरवाजा खोलने का संकल्प करता है, किंतु देखता है कि "बाहर कोई नहीं, कोई नहीं बाहर।'' रात का पक्षी कहता है :

वह चला गया है,
वह नहीं आएगा, आएगा ही नहीं
अब तेरे द्वार पर।
वह निकल गया है गाँव में शहर में

उसका तू खोज अब
उसको तू शोध कर !

रवींद्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि के एक गीत में भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की पंक्तियाँ हैं, किंतु उस रहस्यवादी संदर्भ से इन पंक्तियों का संदर्भ कितना भिन्न है! रात के पक्षी के कथन के बावजूद आत्म-निर्वासित काव्य-नायक को वह रहस्यमय पुरूष फिर दिखाई पड़ता है, लेकिन स्वप्न में। इस बार उसके दर्शन उस समय होते हैं जब शहर में कर्फ्यू लगा हुआ है और मार्शल-लॉ जारी है। रात के सन्नाटे में सिरफिरा एक जन "आत्मोद्बोधमय कोई गान'' गाता है, जिसे सुनते ही साफ हो जाता है कि "व्यक्तित्व अपना ही, अपने से खोया हुआ/वही उसे अकस्मात मिलता था रात में।'' गान का प्रभाव यह है कि :

प्रत्यक्ष,

मैं खड़ा हो गया किसी छाया-मूर्ति-सा समक्ष स्वयं के।

काव्य-नाटक के घटना-क्रम में यह रहस्यमय पुरूष एक बार और मिलता है, अंतिम बार, जब शहर में जन-क्रांति छिड़ जाती है। माहौल ऐसा कि "कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई।'' आत्म-निर्वासित व्यक्ति प्रसन्न मुद्रा में गैलरी में खड़ा होता है कि दिखाई पड़ता है "एकाएक वह व्यक्ति/आँखों के सामने/गलियों में, सड़कों पर लोगों की भीड़ में/चला जा रहा है।.....पुकारने को खुलता है मुँह/कि अकस्मात्/वह दिखा, वह दिखा/वह फिर खो गया किसी जन-यूथ में..../उठी हुई बाँह यह उठी हुई रह गई।''

खोज और उपलब्धि के बीच की दुविधा या 'सस्पेंस' ही 'अँधेरे में' कविता को अद्भुत नाटकीयता प्रदान करती है; और यह केवल काव्य-शैली का चमत्कार नहीं, बल्कि कथ्य की गहरी अर्थवत्ता का सूचक है। अस्मिता की खोज संबंधी ज्यादातर कविताओं में या तो केवल एक प्रकार की हताश खोज मिलती है या फिर उपलब्धि की बलात् आत्मतुष्टि ! आकस्मिक नहीं है कि दोनों ही प्रकार की कविताएँ प्राय: प्रकृत्या प्रगीतधर्मी होती हैं। प्रगीत शैली के अनुरूप ही उनके कथ्य में भी अस्मिता की खोज का अतिसरलीकृत सपाट रूप मिलता है। मुक्तिबोध ने इस सपाटता से बचकर एक तीखे तनाव को सफलता के साथ व्यंजित किया है, जिसका मुख्य आधार 'अँधेरे में' कविता का कौशलपूर्ण घटना-विन्यास है। अरस्तू ने जिस अर्थ में 'मिथोस' को त्रासदी की आत्मा कहा था, उसकी पुष्टि एक तरह से 'अँधेरे में' के घटना-विन्यास से होती है।

इस घटना-विन्यास का महत्व इस दृष्टि से भी है कि इसके द्वारा अस्मिता को एक व्यापक संदर्भ प्राप्त होता है। आत्मनिर्वासन और अस्मिता के लोप की चर्चा तो प्राय: की जाती है किंतु उसके वस्तुगत कारणों का उल्लेख बहुत कम किया जाता है। 'अँधेरे में' कविता के अंतर्गत स्वप्न-कथा के रूप में तीन घटनाएँ वर्णित हैं: किसी मृत-दल की शोभा-यात्रा, सैनिक शासन और जन-क्रांति का सूत्रपात। स्पष्टत:: पहली दोनों घटनाएँ कवि की दृष्टि में अस्मिता के खोने का वस्तुगत कारण उपस्थित करती हैं। किसी मृत-दल की शोभा-यात्रा और सैनिक शासन के आतंक से अस्मिता के खोने की बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। संदर्भ की भयावहता अस्मिता के बोध की तीव्रता को और भी उभार देती है। भावबोध की यह तीव्रता संदर्भ के जिस प्रभावशाली चित्र से संबद्ध है, वह स्वयं मुक्तिबोध के शब्दों में "भाव का वस्तुमूलक आकलन" है। इसे ही आचार्य शुक्ल ने विभावन व्यापार की संज्ञा दी है और टी.एस.इलियट ने "ऑब्जेक्टिव को-रिलेटिव" की।

'अँधेरे में' कविता का प्रभाव जिस परिवेश के चित्रण पर निर्भर है, उसकी चित्रण-कला भी विचारणीय है। सबसे पहले कविता में रात के अँधेरे की भूमिका। क्या इस कविता में वातावरण के प्रभाव का बहुत-कुछ श्रेय अँधेरे को नहीं है? अँधेरा काव्यगत वातावरण को भयावह और रहस्यमय बनाने के साथ ही मूर्त भी बनाता है। अँधेरे में वस्तुओं को मूर्तिमान करने की विशेष क्षमता इसलिए होती है कि आसपास की बहुत-सी वस्तुएँ ओझल हो जाती हैं, इसलिए अभीष्ट वस्तुएँ विशेष रूप से उद्भासित होती हैं। अँधेरे में रेखाओं की संख्या कम होती है, किंतु उनके उभार की मात्रा अधिक होती है। उदाहरण के लिए मृत-दल की शोभा-यात्रा का चित्र इस कविता में इसीलिए इतना स्फुट (विविड) है कि उसकी पीठिका में रात का अंधकार है। दिन के उजाले में यही जुलूस शहर की भीड़-भाड़ में दब जाता; किन्तु आधी रात के सन्नाटे में वह उभरकर सामने आता है। मशाल की रोशनी में लोगों के चेहरे, उनकी पोशाक, घोड़ों के रंग और संगीन की नोकें और भी चमक उठती हैं, यहाँ तक कि सन्नाटा बैंड की आवाज को भी उभार देता है। दिन के उजाले में कोलतार की जो सड़क मामूली मालूम होती है वही रात के अँधेरे में 'मरी हुई खिंची हुई कोई काली जिह्वा' मालूम होती है। इसी तरह चौराहे, दरख्त और घंटाघर भी इस अंधकार के जादुई असर में और-के-और हो जाते हैं। उल्लेखनीय है कि 'सीमांतवादी', भावबोध के लेखकों ने अपनी कृतियों में प्राय: अंधकार का उपयोग किया है। निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात' कहानी में भी यही अंधकार है। दोस्तोएव्सकी के उपन्यासों का घटना-काल प्राय: रात से संबद्ध है। कोई चाहे तो इसे एक कला-रूढ़ि भी कह सकता है, किंतु मुक्तिबोध ने अंधकार को स्वप्न-कथा से संबद्ध करके एक और आयाम दे दिया है।

कथन-शैली की दृष्टि से 'अँधेरे में' एक स्वप्न-कथा है। हिन्दी में कविता के अंतर्गत 'फैंटेसी' के उपयोग के लिए मुक्तिबोध विख्यात हैं, किंतु इस उपयोग की कलात्मक सार्थकता पर बहुत कम विचार किया गया है। स्वयं मुक्तिबोध 'फैंटेसी' शब्द का प्रयोग काफी व्यापक अर्थ में करते थे। उनके लिए कामायनी भी एक तरह की 'फैंटेसी' थी। इस प्रकार स्वप्न-कथा 'फैंटेसी' का एक प्रकार मात्र है। मुक्तिबोध की दृष्टि में कविता के अंतर्गत 'फैंटेसी' के प्रयोग की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। कहना न होगा कि स्वप्न-शैली में कथा कहने के कारण 'अंधेरे में' कविता में काफी मितव्ययिता और सघनता आ गई है तथा वर्णन के अनावश्यक विस्तार से अपने-आप ही निजात मिल गई। स्वप्न-शैली के कारण एक ओर कथा अनिवार्यत: चित्रात्मक हो गई तो दूसरी ओर एक से अधिक कथाओं के क्रमबद्ध संयोजन में भी लाघव आ गया, क्योंकि स्वप्न-क्रम प्रकृत्या अतार्किक और विषयधर्मी होता है। स्वप्न-शैली के साथ एक सुविधा यह भी है कि आवश्यकतानुसार देश और काल की दृष्टि से नितांत असंबद्ध तथा दूर की वस्तुओं को भी एकत्र रखा जा सकता है। 'अँधेरे में' के अंतर्गत तालस्तॉय, तिलक और गांधी इसी जादू की छड़ी से बुला लिए गये हैं। इसी प्रकार सामान्यत: असंभव प्रतीत होने वाली घटना भी स्वप्न संभव दिखायी जा सकती है और उसके औचित्य के बारे में कोई संदेह भी नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए 'अँधेरे में' के अंदर गांधी जी काव्य-नायक के कंधे पर एक शिशु रखकर अचानक गायब हो जाते हैं और वही शिशु थोड़ी देर बाद सूरजमुखी-फूल के गुच्छे में बदल जाता है, जिसके स्थान पर अगले क्षण वजनदार रायफल आ जाती है। यदि स्वप्न-कथा की शैली न होती तो इस प्रकार के चमत्कार कैसे संभव होते? किंतु ये चमत्कार अपने आपमें सार्थक नहीं हैं। सवाल यह है कि कवि इन चमत्कारों के जरिए हासिल क्या करता है? यदि ये चमत्कार वास्तविकता के किसी विशेष पहलू को उजागर करने में समर्थ नहीं होते तो वे केवल कुतूहल के विषय होकर रह जाएँगें।

यहाँ यथार्थवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत अयथार्थवादी शिल्प के औचित्य का प्रश्न उठता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' के आग्रही कुछ जड़ लेखकों ने काफ्का के ही नहीं बल्कि बर्टोल्ट ब्रेख्त के अयथार्थवादी शिल्प पर एतराज किया है। किंतु मुक्तिबोध ने **कामायनी : एक पुनर्विचार**, की भूमिका में इस विषय पर निर्भ्रांत विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि :"यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर है। यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत, जो भाववादी शिल्प है-उस शिल्प के अंतर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।'' इसी संदर्भ में मुक्तिबोध ने जैसा कि कुछ पहले कहा है, "साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता

है। जीवन की यह पुनर्रचना ही कलाकृति बनती है। कला में जीवन की जो पुनर्रचना होती है वह सारत: उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है जो जीवन इस जगत् में वस्तुत: जिया और भोगा जाता है – स्वयं द्वारा तथा अन्यों द्वारा। यह जीवन जब कल्पना द्वारा पुनर्रचित होता है तब उस पुनर्रचित जीवन में तथा वास्तविक जगत-क्षेत्र में जिए और भोगे गए जीवन में गुणात्मक अंतर उत्पन्न हो जाता है। पुनर्रचित जीवन, जिए और भोगे गए जीवन से, सारत:, एक होते हुए भी, स्वरूपत: भिन्न होता है। यदि पुनर्रचित जीवन वास्तविक जीवन से नि:सारत: एक हो, सिर्फ ऊपरी तौर पर एक-सापन रखता हो तो वह पुनर्रचित जीवन निष्फल होता है। पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव है, उनकी जो पृथक-पृथक स्थिति है, उस अलगाव और पृथक्-पृथक् स्थिति के कारण ही कला के भीतर के सारे मूर्त विधान के बावजूद उस कला में मूलबद्ध रूप से, एक **अमूर्तीकरण** और **सामान्यीकरण** उत्पन्न होता है।'' 'अँधेरे में' कविता के अंतर्गत अपनाए गए स्वप्न-कला के अयथार्थवादी शिल्प में निहित यथार्थवादी दृष्टिकोण की इससे स्पष्ट व्याख्या अनावश्यक है।

निस्संदेह 'अँधेरे में' सामान्य स्वप्न-कथा नहीं, बल्कि दु:स्वप्न का कथालोक है, जिसमें हर चीज़ प्राय: कुछ विकृत, कुछ अन्यथा रूप में दृष्टिगत होती है। किंतु काव्य-नायक की असाधारण मन:स्थिति को देखते हुए यह असंगत नहीं लगता। काव्य-नायक के मन पर परिस्थितियों का इतना गहरा दबाव है कि वह अतिरिक्त भयाक्रांत है। उसने अपने बहुमूल्य भावों और विचारों को उपचेतन के तलघर में छिपा दिया है। एकाकीपन में उसे अपनी ही आकृति भूतों-जैसी दिखाई पड़ती है। उसके मन में हर समय किसी-न-किसी दुर्घटना की आशंका है। हर समय उसके मन में यह खटका लगा हुआ है कि कोई उसका पीछा कर रहा है। वह प्रत्येक दुर्घटना का कारण अपने-आपको मानता है: "मानो मेरे कारण ही लग गया मार्शल-लॉ वह/मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया/मानो मेरे कारण ही दुर्घट हुई यह घटना।'' ऐसी मन:स्थिति में दु:स्वप्नों का आना अस्वाभाविक नहीं।

किंतु ये दु:स्वप्न उन्हीं लोगों को अवास्तविक लग सकते हैं जो बड़ी-से-बड़ी दुर्घटना के अभ्यस्त हो चुके हैं और जिनकी खाल मोटी हो चुकी है। क्या वह मशाल-जुलूस अवास्तविक है जिसमें रात को वही पत्रकार, कवि, आलोचक, मंत्री, उद्योगपति आदि शहर के कुख्यात हत्यारों के साथ शामिल होते हैं, जो दिन में विभिन्न दफ्तरों, कार्यालयों, केंद्रों और घरों में मिलकर षड्यन्त्र करते हैं। एक फासिस्ट खतरे का आभास देनेवाला यह जुलूस कैसे अवास्तविक कहा जा सकता है, जबकि दंगों में इससे भी ज्यादा भयावह अनुभव से हम गुजर चुके हैं? इसी प्रकार सैनिक प्रशासन भी यथार्थ से अधिक अतिरंजित नहीं।

इस माहौल में "भागता मैं दम छोड़/घूम गया कई मोड़" की बेचैनी भी काफी जानी-पहचानी अनुभूति है। इस सामान्य वर्णन के प्रसंग में संभवत: सबसे मार्मिक है अपने कमरे में मृत पड़े हुए उस कलाकार का चित्र, जिसका तृषार्त अंतर मुक्ति का इच्छुक था और जो निरंतर मुक्ति के यत्नों के साथ था, किंतु अचानक झोंक में आकर क्या कर गुज़रा कि संदेहास्पद समझा गया और मारा गया वह वधिकों के हाथों। परंतु सबसे दहशत भरा दृश्य है 'स्क्रीनिंग' का, जब काव्य-नायक को टूटे-से स्टूल पर बिठाकर उसके शीश की हड्डी तोड़ी जा रही है और अस्थि-कवच को निकालकर मस्तक-यंत्र की जाँच की जा रही है। पढ़ते-पढ़ते जार्ज आर्वेल का '1984' याद आ जाता है जो अब 'फैंटेसी' न होकर एक जीती-जागती सच्चाई बन गया है। यदि 'अँधेरे में' कविता में वास्तविकता का केवल यही निषेधात्मक पक्ष होता तो ऐसी अनेक निषेधात्मक कविताओं की तरह 'अँधेरे में' भी एक सपाट रचना होती। कविता का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसका संबंध अंधकार के विरूद्ध लड़ने वाली शक्तियों से है। कुछ लोगों के लिए यह एक किंवदंती मात्र है और वे उस पर खामोश रहते हैं, किंतु काव्य-नायक की दृष्टि में "यह कथा नहीं है, यह सब सच है।" उल्लेखनीय है कि भयाक्रांत काव्य-नायक के मस्तिष्क में दु:स्वप्नों के साथ जन-क्रांति का भी स्वप्न आता है। यह इच्छा-पूर्ति भी हो सकती है। इसे कुछ लोग वास्तविकता पर आशावादी कल्पना का आरोप भी कह सकते हैं। किंतु देखना यह है कि कविता के अंतर्गत अन्य स्वप्न-चित्रों के समान ही यह स्वप्न-चित्र भी काव्यात्मक मूर्तिमत्ता के साथ चित्रित हुआ है या नहीं? और असंदिग्ध है कि "कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई" की आवृत्तियों के साथ आनेवाला समूचा क्रांति-चित्र कहीं अधिक मूर्त और सजीव है। वैसे, वास्तविकता की जाँच की कसौटी इस स्वप्न के लिए भी वही होगी जो अन्य दु:स्वप्नों के लिए है।

'अँधेरे में' की संरचना की सबसे बड़ी विशेषता है परस्पर विरोधी भावचित्रों का धूप-छाँही मेल, जिसे आचार्य शुक्ल 'विरूद्धों का सामंजस्य' कहते थे। अंधकार की गहरी पटभूमि पर एक आलोक-रेखा खींचकर कालजयी काव्य-कृतित्व का जो प्रतिमान किसी समय निराला की **राम की शक्तिपूजा** ने उपस्थित किया था, 'अँधेरे में' के द्वारा मुक्तिबोध ने उसी तरह की दूसरी काव्य-कृति प्रस्तुत की। 'अँधेरे में' के अंतर्गत सर्वत्र अँधेरा ही नहीं है, बल्कि चमकती हुई रंग-बिरंगी मणियाँ भी हैं; बंदूक और गोली ही नहीं, फूलों के गुच्छे भी हैं; पिशाच-आकृति पुरूष ही नहीं, सकर्मक सत्-चित्-वेदना-भास्कर नए-नए सहचर भी हैं; भय ही नहीं, मानव-करूणा भी है; पीड़ा ही नहीं, आस्था भी है। संपूर्ण कविता के अंधकार के ऊपर अस्तित्व की एक अलौकिक सुगंध परिव्याप्त है:

रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित
कोई गुरू-गंभीर महान् अस्तित्व
महकता है लगातार
अँधेरे में पता नहीं चलता
मात्र सुगंध है सब ओर,
पर, उस महक-लहर में
कोई छिपी वेदना, कोई गुप्त चिंता
छटपटा रही है, छटपटा रही है।

अस्तित्व की यह सुगंध वस्तुत: मानवीयता है: कविता के अंतर्गत मानवीय उपस्थिति ही सुगंध के रूप में व्याप्त है। इस उपस्थिति का कारण है कवि का परिप्रेक्ष्य-बोध। उचित परिप्रेक्ष्य के बिना जो परिवेश अन्य अनेक कवियों के लिए अंधकारपूर्ण है, मुक्तिबोध ने उसी में यदि प्रकाश की किरण भी देख ली तो इसलिए कि उनकी दृष्टि भविष्य तक विस्तृत है। यह भविष्य ही आज के परिवेश को सही परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। इसे काल्पनिक आशावाद कहकर टाला नहीं जा सकता। अस्तित्वहीन होते हुए भी भविष्य वर्तमान को एक अर्थ प्रदान करता है—इतिहास का यह एक विरोधाभास है।

कवि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज व्यक्ति की खोज नहीं बल्कि अभिव्यक्ति की खोज है। एक कवि के नाते उनके लिए परम अभिव्यक्ति ही अस्मिता है। भाषा स्वभावत: इस अभिव्यक्ति का आधार है। 'अँधेरे में' कविता के अंतर्गत जगह-जगह इस काव्यगत अभिव्यक्ति की समस्याएँ भी उठाई गई हैं। जैसे कुछ नाटकों में नाटक के भीतर एक और नाटक होता है, 'अँधेरे में' कविता के अंदर कविता की निजी समस्याओं का निरूपण करती है। इस प्रकार एक स्तर पर यह 'कविता के बारे में कविता ' है। दिमागी 'स्क्रीनिंग' के बाद रिहा होने पर काव्य-नायक नये सिरे से ज़िंदगी शुरू करने का संकल्प करता है। एक ओर साथियों की खोज और दूसरी ओर नये दायित्व के अनुरूप अभिव्यक्ति को सँजोने का प्रयास। वह जमीन पर पड़े चमकीले पत्थरों को चुनता है: लेकिन तुरंत ही उसे उन पत्थरों की अपर्याप्तता का अनुभव होता है:

किंतु, असंतोष मुझको है गहरा,
शब्दाभिव्यक्ति-अभाव का संकेत
काव्य-चमत्कार उतना ही रंगीन
परंतु, ठंडा।

मेरे भी फूल है तेजस्क्रिय, पर
अतिशय शीतल।

इसके बाद यह असंतोष जिस संकल्प का रूप लेता है उसकी झलक इन पंक्तियों में मिल सकती है:

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगें।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी बाँहें
जिनमें कि प्रतिपल काँपता रहता
अरूण कमल एक।

स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के लिए भाषागत अभिव्यक्ति जीवन की अभिव्यक्ति से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। अभिव्यक्ति के खतरे उठाने का मतलब है मठों और गढ़ों को तोड़ना, साथ ही 'अरूण कमल' के लिए दुर्गम पहाड़ों के पार जाने का जोखम उठाना है। इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध ने काव्य-भाषा को एक नया तेवर दिया है,जो नई कविता की सामान्य काव्य-भाषा की तुलना में काफी अनगढ़ और बेडौल लगती है। किंतु इससे केवल यही सिद्ध होता है कि मुक्तिबोध की भाषा काव्यात्मक नहीं है; इससे उसकी 'व्यंजकता' असिद्ध नहीं होती। अंग्रेज़ी में कुछ आलोचकों ने कविता की भाषा के लिए 'पोएटिक' और 'पोएटिकल' दो शब्दों का प्रयोग किया है। अनुकरणशील कवि प्राय: उस 'पोएटिकल' भाषा का प्रयोग करते हैं जो परंपरा से काव्यात्मक भाषा के रूप में प्राप्त होती है। इसके विपरीत सृजनशील कवि परंपरागत काव्यात्मक भाषा के दायरे को तोड़कर अपने नये कथ्य के अनुरूप 'काव्य. भाषा' का निर्माण करता है जो आरंभ में खुरदरी लगते हुए भी अपनी अर्थवत्ता में जानदार होती है। इस दृष्टि से निराला के समान ही मुक्तिबोध की भाषा भी तेजस्क्रिय है। जिस प्रकार 'राम की शक्तिपूजा' में समासबहुला संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के साथ ही बोलचाल की भाषा के टुकड़े पिरोए हुए हैं उसी तरह 'अँधेरे में' भी भाषा के दोनों रूप मिलते हैं। कविता में भाषा कठिन है या सरल, संस्कृतनिष्ठ है या बोलचाल की आदि, प्रश्न अप्रासंगिक हैं। 'अँधेरे में' जैसी नाटकीय कविता में देखना यह है कि भाषा का नाटकीय उपयोग किस रूप में किया गया है और किस हद तक। और कहना न होगा कि 'अँधेरे में' के अंतर्गत संदर्भ-भेद से भाषा की नाटकीय भंगिमाएँ विविध हैं। कहीं सघन बिंबों की माला है तो कहीं ठेठ सपाटबयानी। कहीं "साँवली हवाओं में काल टहलता है"

तो कहीं इस प्रकार के दो टूक कथन:

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता।

मुक्तिबोध की भाषा पर अनगढ़ता का आरोप लगाते समय इस बारे में सोच देखना चाहिए कि जिस तिलिस्मी दुनिया की सृष्टि वे कविता में कर ले जाते हैं, वह क्या असमर्थ भाषा में कभी संभव है ? वस्तुत: 'अँधेरे में' का खौफनाक काव्य-संसार समर्थ भाषा की ही सृष्टि है। मुक्तिबोध जब कहते हैं कि 'बिंब फेंकती वेदना नदियाँ' तो वे एक तरह से उस कवि-कल्पना की ओर संकेत करते हैं जो अपनी अजस्र सृजनशीलता में बिंब फेंकती चलती है। वस्तुत: कवि की शक्ति कल्पना के उस वेग और विस्तार से मापी जाती है जिसे अंग्रेज़ी में 'स्वीप ऑफ इमेजिनेशन' कहते हैं; और कहना न होगा कि 'अँधेरे में' की कल्पना-शक्ति अपने समवर्ती समस्त कवियों में सबसे विकट और विस्तृत है इसीलिए वे प्रगीतों के युग में भी महाकाव्यात्मक कल्पना के धनी और नाटकीय प्रतिभा के प्रयोगकर्ता हैं।

वस्तुत: मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति की अर्थवत्ता फुटकल शब्द-प्रयोगों से नहीं आँकी जा सकती और न दो-चार बिंबों अथवा भाव-चित्रों से मापी जा सकती है। उनकी अभिव्यक्ति की गारिमा का पता उस विराट बिंब-लोक से चलता है जो 'अँधेरे में'-जैसी महाकाव्यात्मक कविता अपनी समग्रता में प्रस्तुत करती है। इस संदर्भ के द्वारा ही कविता के अंतर्गत आए हुए छोटे-छोटे सामान्य सपाट कथन भी अर्थ-गौरव से पूर्ण लगते हैं। उदाहरण के लिए:

क्या करूँ, किससे कहूँ
कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन?

जैसी सीधी-सादी उक्ति भी कविता के नाटकीय संदर्भ में आधुनिक मानव की ऐतिहासिक बेचैनी को ध्वनित करती है। 'अँधेरे में' भाषा की ऐसी नाटकीय संभावनाओं के उद्‌घाटन का अनूठा काव्य-प्रयास है।

'अँधेरे में' मुक्तिबोध के प्रतिनिधि काव्य-संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की ही अंतिम कविता नहीं, कदाचित् उनकी अंतिम रचना भी है जिससे कवि-कर्म की चरम परिणति भी कहा जा सकता है। कुल मिलाकर इसे यदि नई कविता की भी चरम उपलब्धि कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।

8- सृजनशीलता का संकट रघुवीर सहाय की कविता

डॉ० नित्यानंद तिवारी

रघुवीर सहाय के अधुनातन संग्रह 'लोग भूल गये हैं' में 'कविता' शीर्षक से एक कविता है:

कविता तभी होती है जब विषय से दूर और वस्तु के
निकट होती है
कविता अकेला करती है
और जब हम बहुत तरह के अन्य काम करते हैं तो
उनसे कविता में बाधा इसलिए नहीं पड़ती
कि वे दूसरे प्रकार के काम हैं
बल्कि इसलिए कि वे हमेशा बाध्य करते हैं
कि हम दूसरों के साथ काम करें
जबकि कविता अकेले ही काम करने का
तकाजा करती है।

इन पंक्तियों को पढ़ते समय मुझे जायसी के 'पद्मावत' की वे पंक्तियाँ याद आ गयीं जिनमें उन्होंने अपने विषय और वस्तु को अलग-अलग पहचानने की चर्चा की है। यह याद, जाने संयोगवश आ गयी या इसलिए कि रघुवीर सहाय की कविता में ऐसा कुछ था जिसमें कवि-कर्म की बुनियादी शर्त चीन्हने की कोशिश थी, स्मृति को शायद ज़रूरी बनाने लगती है। जायसी की पंक्तियाँ हैं:

सुना साहि छेंका आई। हिन्दू तुरकहिं भई लराई।
आदि अन्त जासि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहे।
कवि बियास रस कैंला पूरी। दूरहिं निअर-निअर भा दूरी।

जायसी कहते हैं, "जैसी कथ्था थी, मैंने कह दिया, लेकिन भाषा चौपाई में जब कह दिया तो वह निकटवाले के लिए दूर और दूरवाले के लिए निकट हो गयी यानी जो सिर्फ हिन्दू या सिर्फ तुर्क बना रहा (हिन्दुओं और तुर्कों की लड़ाई कविता का विषय है), वह कविता से बहुत दूर हो गया या कविता उसके लिए बहुत दूर हो गयी और जो हिन्दू और तुर्क से दूर अपने को मनुष्य रूप में पहचानने की योग्यता रख सकता था, उसके लिए कविता बहुत निकट हो गयी।

'कहने' की प्रक्रिया में भाषा और विषय टकराते हैं – एक दूसरे में अन्तर्प्रवेश करते हैं,

'कहने' की प्रक्रिया में भाषा और विषय टकराते हैं – एक दूसरे में अन्तप्रवेश करते हैं, तब वस्तु का निर्माण होता है। इसी टकराहट और अन्तप्रवेश की प्रक्रिया में भाषा और विषय दोनों मुक्त होते हैं और अर्थ के मानवीय तथा सर्जनात्मक विन्यास में संगठित होते हैं। रघुवीर सहाय कवि-कर्म की इस अनिवार्यता को खूब पहचानते हैं। कविता लिखने या 'कहने' को हर जमाने में कवियों ने बड़ी भारी मुसीबत माना है क्योंकि भाषा और विषय को लड़ाना असल में अपने व्यक्तिगत अस्तित्व और समाज को लड़ाना है। व्यक्तिगत स्तर पर सिर्फ जीने की खातिर यह लड़ाई कमोबेश सभी लड़ते हैं, लेकिन कहने के खातिर सिर्फ कवि लड़ते हैं। इस लड़ाई को कहने की ज़रूरत, यथास्थितियों में किसी भी तरह अपनी एक सुरक्षित जगह या तलाश पा लेने से पैदा नहीं होती बल्कि यथास्थितियों को बदलने की बेचैनी से पैदा होती है। वह कविता होती है जो औरों की तरह आराम-चैन से रहने नहीं देती। 'कहने' की इसी अतिशय बेचैनी के कारण कविता, अकेला बनाती है। वे लोग जो समाज में दुखी, शोषित और असहाय हैं और नहीं जानते कि इसके कारण समाज में ही निहित हैं, वे समाज में गर्क हैं। कारण जान लेने पर समाज की प्रभुशक्तियों के सामने अपना अकेलापन उभरने लगेगा। न्याय-अन्याय, समता-विषमता के तात्कालिक और सुदूर स्रोत झलकने लगेंगे। उसका काम अतिशय रूप से बढ़ जायेगा। वे न्याय-अन्याय, समता-विषमता के तात्कालिक प्रसंगों और सुदूर स्रोतों से जुड़ने और तोड़ने में सक्रिय हो उठेंगें यानी कविता जिस तरह से अकेला बनाती है और अकेले ही काम करने का तकाजा करती है, वह जुड़ने और तोड़ने की सक्रियता है। न्याय और समता में चरितार्थ मानवीय अस्मिता और इसके पक्ष या विपक्ष में परम्परागत और तात्कालिक शक्तियों के बीच सहयोग और विरोध का रिश्ता अगर कविता नहीं झलकाती तो वह अकेला (विवेकवान) नहीं बनाती, विषय से दूर वस्तु के निकट नहीं आती, वह विषय और वस्तु में घालमेल नहीं करती है। कविता द्वारा अकेले ही काम करने का तकाजा करना, समूह में गर्क होने के विरूद्ध काम करना है, लेकिन समूह के विरूद्ध काम करना नहीं है। जब हम कविता के अलावा दूसरे काम करते हैं तो वे काम दूसरे होने के कारण कविता की सृजनात्मक प्रकृति पर दबाव नहीं डालते बल्कि वे सामूहिक ढंग से (वैयक्तिक वैशिष्ट्य के बिना) यान्त्रिक स्तर पर काम करने के लिए बाध्य करते हैं। कविता यान्त्रिक ढंग से काम करने का प्रतिरोध करती है। कविता का अकेले काम करने का तकाजा, सर्जनात्मक वैशिष्ट्य को बनाये रखने का तकाजा है। यानी कविता जिस अकेलेपन में ले जाती है वह 'अकेलापन' मानवीय नियति की संकल्पना नहीं है बल्कि व्यक्ति और समूह (समाज) के बीच एक आवश्यक दूरी या अन्तराल है जिसके बिना दोनों अपनी परस्परता खो देते हैं।

यह परस्परता खोना व्यक्ति और समाज दोनों का सिर्फ विषय हो जाना है। लेकिन, व्यक्ति और समाज जब अपने पारस्परिक सम्बन्धों में होते हैं तो वे एक-दूसरे की अपेक्षाओं में पहचाने जाने और काम करने के लिए बाध्य होते हैं। इस तरह से व्यक्ति, समाज का और समाज व्यक्ति का, मौके के मुताबिक इस्तेमाल नहीं कर सकता। व्यक्ति और समाज के अवसरवादी इस्तेमाल के विरुद्ध मानवीय योग्यता को सक्रिय बनाये रखना, वस्तु है। वस्तु, सम्बन्धों की मूर्त प्रक्रिया है जो व्यक्ति और समाज दोनों को अमूर्त संकल्पना में पर्यवसित होने से बचाती है, इसीलिए वह चिन्तन और ध्यान की चीज़ कम और व्यावहारिक क्रिया अधिक है। यानी रघुवीर सहाय की कविता में 'अकेलापन' मानव-जीवन की स्वविषयान्वेषी थीम नहीं है बल्कि परस्परता के अन्वेषण के लिए आधारबिन्दु है।

सब चेहरे सुन्दर हैं पर सबसे सुन्दर है वह चेहरा/जिसे मैंने देर तक चुपके से देखा हो/इतनी देर तक कि मैंने उसमें और उसके जैसे/एक और चेहरे में अन्तर पहचाना हो।

क्या चेहरे और चेहरे के बीच इस अन्तर को पहचान लेने के स्तर पर (और इस अर्थ में) कविता अकेला करती है? क्या यह अन्तर सब चेहरों में से एक चेहरे को चुनकर अलग कर लेता है या सम्बन्धों के भीतर उसे प्रतिफलित होते हुए पाता है? देर तक चुपके से देखना और एक जैसे दो चेहरों के बीच अन्तर को पहचान लेना, सामूहिकता, यान्त्रिकता या सामान्यीकरण से अलग एक मानवीय क्रिया को महत्व देना है। चेहरों की भीड़ और गति में 'देर तक चुपके से देखना' उस अवकाश में होना है जहाँ से चेहरे का अन्तर दूसरों के बीच होते हुए भी पहचान में आ सके। यह अवकाश, सर्जनात्मक समय है, जिसके भीतर कवि को यह पता चलता है कि कोई भी चेहरा अपनी खास विशेषता में तभी हो सकता है जब वह अपने में अन्तर्निहित सम्बन्धों की एक व्यवस्था हो और सम्बन्ध की इस अन्तर्व्यवस्था को ठीक-ठाक तभी पहचाना जा सकता है जब वह अपने से बाहर की बहुत सी चीजों के सम्बन्ध में हो। किन्तु 'मसनद लगाया हुआ व्यक्ति' (जो ज़िन्दगी को आँकड़े में बदलनेवाला ज्ञान हो या किसी भी प्रकार शक्ति तथा सत्ता पर काबिज रहने में माहिर प्रतिमानवीय शक्ति का प्रतिनिधि हो) पहचानने की इस प्रक्रिया को गड्डमड्ड करता है। किन्तु वही एक नहीं है, इस अपराध में कवि अपने को भी शामिल करता है (दिखूँगा या तो/रिरियाता हुआ/या गरजता हुआ/किसी को पुचकारता/किसी को बरजाता हुआ/अपने से लग सिरजता हुआ कुछ अनाथ/मूल्यों को/नहीं मैं दिखूँगा/)। इसमें जनता भी शामिल है, जो अहंकारी शासन को बदलने के बदले अपने को बदलने की सुरक्षित,

कायर किन्तु फायदेमन्द आदत में गर्क हो गयी है। जनता की यह आदत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कुछ वर्षों बाद की विकसित एक सर्वग्रासी चारित्रिक विशेषता है। बनिया, ब्राह्मण और कायस्थ बने रहते हुए ही बौद्धिक कार्यों में निष्णात प्रतिभाएँ आधुनिक हो जाती हैं। उसका चरित्र, रूढ़िबद्ध स्वार्थ-चतुर और अवसरवादी हो गया है और उसकी बुद्धि घोर सैद्धांतिक स्वार्थ-चतुर चरित्र और सैद्धांतिक बुद्धि उस सर्जनात्मक अवकाश में आदमी (या कवि) के होने को कठिन से कठिनतर बनाती जा रही है। जो कविता, या रचनाकार उस अवकाश में से जीवन, व्यक्ति और समाज को चीन्हने के विरल क्षण में होता है, उसके भीतर वास्तविकता और प्रतिवास्तविकता के सम्बन्ध, प्रति-सम्बन्ध झलक उठते हैं। वह आदमी को एक बहुत खास स्थिति में सही बिन्दु पर देख लेता है जहाँ वह निपट अकेला है और चारों ओर से घिरा है:

निर्धन जनता का शोषण है/कहकर आप हँसे/लोकतन्त्र का अन्तिम क्षण है/कहकर आप हँसे/सबके सब हैं भ्रष्टाचारी/कहकर आप हँसे/चारों ओर बड़ी लाचारी/कहकर आप हँसे/कितने आप सुरक्षित होंगें/मैं सोचने लगा/सहसा मुझे अकेला पाकर/फिर से आप हँसे।

जनता का शोषण, लोकतन्त्र का अन्त, भ्रष्टाचार और लाचारी बहुत अहम् मसले हैं, लेकिन वे जिस शैली में कहे जा रहे हैं, वह शब्दों को अर्थ के विरूद्ध करके उन संकल्पनाओं को बेमतलब बना देती है–(बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो/ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे)। इन शब्दों के ऊपर तैरती हुई चिन्ता और हँसी के भीतर से फूटती हुई बेफिक्री और सुरक्षा के बीच कविता के 'मैं' का सोचने लगना, सहसा अकेला हो जाना है–जो निरर्थ किये जा रहे शब्दों से भरी भाषायी दुनिया में शब्दों के अर्थ की चिन्ता करता है। कविता का 'आप' 'मैं' की इस हरकत को भाँपता है और 'फिर से' ('फिर से' पर बल) हँसता है, फिर से हँसी जानेवाली हँसी, दूसरी है जो सिर्फ ताक़त की क्रूरता से पैदा हुई है। ध्यान रखने की चीज़ यह है कि यह 'मैं' चारों ओर से घिरा हुआ अकेला है। इन घेरनेवाली शक्तियों से लड़े बिना और तोड़े बिना उसके अकेलेपन की कोई मानवीय चरितार्थता नहीं है। यह अकेलापन दार्शनिक नहीं है जिसके भीतर मानवीय नियति की चरम सार्थकता निहित है। इसकी प्रकृति ऐतिहासिक है जो एकांत चिन्तनधर्मी होकर नहीं, ठोस स्थितियों के भीतर संघर्षधर्मी होकर सार्थक हो सकता है।

यह लक्ष्य करने की बात है कि रघुवीर सहाय अपनी कविता में कही भी स्थितियों और वस्तुओं के भीतर से उभरनेवाली निर्देशक संभावनाओं को चीजों और स्थितियों से इतनी

दूर नहीं ले जाते जहाँ उनके रिश्ते टूट जायें। यानी कविता और वस्तुएँ एक-दूसरे की सीमाओं से लड़ते-लड़ते घनिष्ठ परस्परता में एक-दूसरे का विस्तार करती हैं। यही कारण है कि रघुवीर सहाय जिस अकेलेपन का साक्षात्कार करते/कराते हैं, वह किसी भी प्रकार के सैद्धान्तिक आग्रह की अपेक्षा मानवीय व्यवहार के परिस्थितिगत पेंचों के साथ जीवन को समग्रत: एक जटिल ऐतिहासिक संघात के रूप में प्रस्तावित करना है। परिस्थिति में निहित वस्तुगत वास्तविकता का दबाव रघुवीर सहाय की कविता में इतना अधिक है कि उनका बंधन तोड़कर मानवीय अनुभव की तथाकथित दार्शनिक और बौद्धिक ऊँचाइयों, सूक्ष्मताओं और गहनताओं के स्वतंत्र प्रदेश में प्रवेश कर जाने की सुविधा उसे नहीं मिल पाती।

रघुवीर सहाय को अपने कवि-कर्म के बीच अनुभूति के तत्त्व दार्शनिक स्वरूप में रुचि नहीं है। उनकी रुचि अनुभूति की कथा में है:

कई कोठरियाँ थी कतार में/उनमें किसी में एक औरत ले जायी गयी/थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनायी दिया/उस रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा/उसके बचपन से जवानी तक की कथा।

इस कविता का शीर्षक है 'औरत की ज़िन्दगी', जिसमें घटना है और घटना में कथा है। घटना जब कथा बनती है तब वह अपने घटने के कई प्रसंगों के अंत:सम्बन्धों में विकसित होती है। औरत की ज़िन्दगी में रोने के जितने कारण और प्रसंग हो सकते हैं, उनकी ओर कविता अभिमुख करती है और औरत के प्रति हमारे विचारों और भावों के आयतन को मानवीय अर्थ में बढ़ाती और गहरा करती है। कविता अपनी वस्तु के ठोस संदर्भों से लगातार संवाद की स्थिति में होने के कारण ऐसा कर पाती है। औरत के दुख के तात्कालिक प्रसंग, कारण और अधिक-से-अधिक उस दुख का इतिहास कविता की सीमा है। यह सीमा सबसे पहला काम तो यह करती है कि इस दुख के सामान्यीकरण की अनुमति बिल्कुल नहीं देती और अर्थ अपने प्रसंग और इतिहास की सीमाओं में कसा हुआ अत्यंत सक्रिय और भरपूर बना रहता है।

दूसरा काम यह करती है कि भावना और विचार को एक-दूसरे के आमने-सामने करके परस्पर निर्भरता के साथ उन्हें ढहते-बनते रहने की गतिशीलता प्रदान करती है। भावना और विचार, दोनों एक-दूसरे को तोड़ते हुए एक संतुलित संवेदन बिन्दु पर थमे रहते हैं और अनुभव की व्याख्या तथा प्रतिपादन के लिए कविता को उत्साहित नहीं करते। यानी रघुवीर सहाय की कविता अनुभव की कथा के दर्शन में न जाकर अनुभव में प्रतिफलित होती है। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि जिस तरह प्रेमचन्द ने घटना को वास्तविकता की

तरह पहचानकर उन्हें आधुनिक अर्थ में जीवन की सम्भावनाओं और अर्थ का वहन करने में सक्षम बनाया, सम्भवत: कुछ उसी उद्देश्य से रघुवीर सहाय भी घटनाओं को सजीव पाकर काव्यार्थ को योग्य और सक्रिय बनाना चाहते हैं। घटनाओं का अपना आन्तरिक विधान जीवन्त होता है और अपने उपयोग किये जाने की सम्भावनाओं को वह स्वयं में धारण करता है। घटना में निहित इन गतिशील वस्तुगत सम्भावनाओं को पहचाननेवाला रचनाकार अपने दृष्टिकोण और विचारधारा के लिए उन्हें सिर्फ़ इस्तेमाल करने की स्वतन्त्रता हासिल नहीं कर सकता। रघुवीर सहाय ने 'लिखने का कारण' में लिखा : "कविता वस्तुओं के अन्दर से निकले, वस्तुओं को छूकर न निकल जाये" ××× 'लेखक को यह अनुभव करना चाहिए कि शैली में किया हुआ कोई भी प्रयोग विचारवस्तु के दिलोदिमाग में उतरने के तरीके पर निर्भर रहेगा और ज़रूरी है कि वह अपनी अनुभूति को उसी प्रकार सुधारे ताकि कविता भी वैसी जानदार हो सके जैसाकि वे वास्तविकताएँ हैं, जिनसे वह कविता की प्रेरणा लेता है।"

कविता वस्तुओं के अन्दर से निकले। वस्तुओं को छूकर न निकल जाये का स्पष्ट तात्पर्य है कि वस्तुओं और घटनाओं को बहाना न बनाया जाये। वे अपने अन्तर्विरोधों-अन्त:सम्बन्ध ा में सजीव वास्तविकता की तरह ग्रहण की जायें अर्थात् उनकी अपनी विशिष्टता को प्रतीक, बिम्ब और सामान्यीकृत सूत्रों के लिए उपयोग में न लाया जाये। किन्तु उनमें अन्तर्निहित और विकसित कथा की अनदेखी न की जाये। कथा का सीधा अर्थ है उन वस्तुओं और घटनाओं के भीतर और बाहर के सम्बन्धों का जाल, जो उन्हें सजीव बनाता है और उनकी विशिष्ट सत्ता को बनाये रखते हुए बाहरी शक्तियों और सत्ताओं के साथ सम्बन्ध की यथास्थितिपरक और गतिशील पहलुओं के विरोध या पक्ष में विचारों और भावों को संगठित करता है। प्राय: ही यह अनुभव किया जा सकता है कि रघुवीर सहाय की कविताएँ बहुत कुछ परिभाषित साहित्यिक अर्थ में साहित्यिक कविताएँ नहीं हैं। वे वस्तु और घटना की जीवंत वास्तविकता के पक्ष में कविता न हो पाने का खतरा उठाकर भी साहित्यिक और प्रचलित काव्य-रीतियों को स्वीकार नहीं करतीं। मसलन 'बड़ी हो रही है लड़की' कविता से कुछ पंक्तियाँ हैं:

जब वह कुछ कहती है/उसकी आवाज़ में/एक कोई चीज/मुझे एकाएक औरत की आवाज लगती है जो/अपमान बड़े होने पर सहेगी/वह बड़ी होगी/डरी और दुबली रहेगी/और मैं न होऊँगा/वे किताबें वे उम्मीदें न होंगी/जो उसके बचपन में थीं/कविता न होगी, साहस न होगा/एक और ही युग होगा जिसमें ताकत ही ताकत होगी/और चीख़ न होगी।

इस लड़की को या सेब बेचनेवाले को या रामदास को मात्र साहित्यिक बिम्ब और प्रतीक कौन मानेगा? यह लड़की एक ठोस वास्तविकता है जिसकी आवाज़ में वह चीज़ दिखायी पड़ती है जो औरत होकर अपमान के रूप में वह सहेगी। इस लड़की की आवाज़ में कुछ लगना और पिछली औरत की रुलाई, दोनों में वास्तविकता की घटना – संकुल कथा है जो केवल तात्कालिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में औरत की ज़िन्दगी और लड़की को नहीं देख लेती वरन उनके साथ सम्बन्धों के पूरे इतिहास में भी रखकर कही जाती है। रघुवीर सहाय कहने के एक खास ढब को विकसित करते हैं जो उन वस्तुओं और घटनाओं में निहित सम्बन्धों के विन्यास से पाया गया है। इस कविता की हर पंक्ति वास्तविकता के घनिष्ठ सम्पर्क में होकर उसके साथ संवाद करती है। इस संवाद के भीतर कविता अपनी विचारवस्तु और सौन्दर्यात्मक सार्थकता को अर्जित करती है। जब वह कुछ कहती है तो उसकी आवाज़ के भीतर, बड़ी होने पर सहे जानेवाली अपमान की आहट सुन पड़ती है। वह अपमान, डर, दुर्बलता के साथ–साथ बड़ी होती जायेगी और चारों ओर से सिर्फ ताकत से घिर जायेगी। लगता है, लड़की का बड़ा होना और अपमान, डर, दुर्बलता का बढ़ते जाना एक ही प्रक्रिया है और उसका ताकत से घिर जाना भी उसी स्रोत से सम्बन्धित है यानी अपमान, डर, दुर्बलता और जकड़नेवाले क्रूर ताकत का केन्द्र एक ही है जो इस लड़की की आवाज़ में कहीं बहुत भीतर धँसा है। वह लड़की दहशत की वह जीवित वास्तविकता और व्याकुल अनुभूति हो जाती है जिसे सिर्फ कविता लिखकर निपटा देना असम्भव है। रघुवीर सहाय अपने कवि-कर्म के भीतर आरम्भ से ही चीजों को कविता में निपटा देने की अपर्याप्तता महसूस करते रहे हैं और आसान तथा कवि के स्टेटस को बनाये रखनेवाले उस तथाकथित गम्भीर और सूक्ष्म रास्ते को तो सबसे पहले इन्कार करते हैं और लगातार कठिनतर किन्तु सही रास्ते की ओर बढ़ते हैं।

"इस स्थिति में सबसे आसान यह है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की अभी तक बची सुविधा का फायदा उठाकर मैं अपने लिए बची रहने की निजी, बिल्कुल अहस्तांतरणीय रियायत ले लूँ। उससे कुछ मुश्किल यह है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूँ और उनके आसरे ज़िन्दा रहूँ जो इन्सान के लिए दूसरे हथियारों से लड़ते हैं–साहित्येतर हथियारों से। सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ–किसी में ढाल सहित, किसी में निष्कवच होकर–मगर अपने को अन्त में मरने सिर्फ अपने ही मोर्चे पर दूँ–अपने भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफा जिम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।" (-आत्महत्या के विरूद्ध : वक्तव्य से)। ज़ाहिर है, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बची सुविधा का फायदा उठाकर जीनेवाला व्यक्ति या रचनाकार लड़की के भीतर की इस दहशत को

पहचान ही नहीं पायेगा और पहचान लेने के बाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार नहीं कर पायेगा। तब रघुवीर सहाय यह बिल्कुल ठीक कहते हैं कि एक ही रास्ता है कि सभी मोर्चों पर एक साथ लड़ा जाये। कविता भी उनमें से एक है और कविता के मोर्चे पर लड़ी जानेवाली लड़ाई दूसरे मोर्चों पर चल रही लड़ाई के साथ ही है। और वे परस्पर पूरक हैं यानी नागरिक और कवि के दायित्व एक-दूसरे के बिना निभाये नहीं जा सकते। नागरिक मात्र तो संभवत: कुछ दूर तक निभा भी ले, कवि नहीं निभा सकता। यहाँ अज्ञेय की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करना काफी प्रासांगिक हो सकता है:

—"लेखक होने से मुझे सामाजिक उत्तरदायित्व से छुट्टी नहीं मिल जाती क्योंकि लेखक हो जाने पर ऐसा नहीं है कि मैं नागरिक नहीं रहता। दूसरी ओर कवि होने का यह अर्थ भी नहीं है कि मैं कविता के लिए भी समाज के प्रति उत्तरदायित्व मानने को बाध्य हूँ। ....कवि हूँ ; यह संयोग है, मेरा परम सौभाग्य है। पर नागरिक हूँ, यह मेरा कर्त्तव्य है। कवि न भी होता तो भी मेरे नागरिक कर्त्तव्य बने रहते। विशेष सौभाग्यवान नागरिक हूँ तो ऐसे उपाय खोज सकता हूँ जिससे मेरा सौभाग्य मेरे समाज को भी समृद्धतर बनाये। यों मैं दुगुना भाग्यवान हूँगा, दुगुना अच्छा नागरिक भी। अगर ऐसा कुछ है जो समाज को मेरी देन हो सकती है, तो यही। नहीं तो मेरा नागरिक कर्त्तव्य—अपने समाज के प्रति दायित्व—तो है ही। मेरा कवि-कर्त्तव्य भी है—अपने सौभाग्य के प्रति दायित्व।' (-भवंती)।

जिस रियायत को रघुवीर सहाय इनकार करते हैं, उसे अज्ञेयजी अपने कवि होने का परम सौभाग्य मानते हैं। जिसे रघुवीर सहाय साहित्यकार होने के नाते अपनी अनिवार्य दोतरफा जिम्मेदारी मानते हैं, उसे अज्ञेयजी साफ-साफ कह देते हैं कि कवि होने का मतलब यह नहीं कि मैं समाज के प्रति उत्तरदायित्व मानने को बाध्य हूँ। अज्ञेयजी के अनुसार कवि का दायित्व अपने सौभाग्य के प्रति है। सौभाग्य क्या हो सकता है? सृजन ! किसका सृजन? कवि होने के सौभाग्य का ! स्पष्ट है, यह सौभाग्य व्यक्ति की परम स्वाधीनता है जिसका साक्षात्कार करते हुए यदि समाज को समृद्धतर बनाने का उपाय भी खोजा जा सके तो वह कवि और समाज दोनों का अतिरिक्त लाभ है। अन्यथा नागरिक का कर्तव्य निभाते हुए समाज का और सौभाग्य को निभाते हुए कवि का अलग-अलग दायित्व तो पूरा किया ही जा रहा है। अज्ञेय को अपने कवि होने के स्टेटस का गुमान है, दूसरी ओर रघुवीर सहाय को दोहरी जिम्मेदारी निभाने की तकलीफ !

यानी रघुवीर सहाय उस अर्थ में आत्मचेतन कवि नहीं हैं जिस अर्थ में अज्ञेय जी। अज्ञेयजी की आत्मचेतना (आत्मविह्वलता) का एक उदाहरण आवश्यक होगा। 'कितनी नावों में

कितनी बार' में एक कविता है 'सवेरे उठा तो धूप खिली थी।' इसमें कवि का आत्मचेता 'मैं' 'धूप से गरमाई, चिड़िया से मिठास, घास से हरियाली, हवा से खुलापन, आकाश से असीमता उधार माँगता है। सब देते हैं। 'मैं' जीता है। लेकिन, रात के अँधेरे में कोई अनदेखा अरूप, विविध अनुभवों से समृद्ध 'मैं' से थोड़ा-सा प्यार उधार माँगता है। वह यह भी कहता है कि मैं उसे 'सौगुने सूद के साथ लौटाऊँगा।' किन्तु 'मैं' के अनुभव से परे था, प्यार का उधार दिया जाना। अरूप यह भी कहता है, 'यह अकेलापन, यह अकुलाहट, यह असमंजस, अचकचाहट, आर्त अनुभव, यह खोज, यह द्वैत..... यही सब चीजें तो प्यार हैं'। लेकिन, इसके बावजूद, यह आत्मचेता 'मैं' कितने आत्मलीन ढंग से तटस्थ हो जाता है, देखने लायक है:

उसने यह कहा/पर रात के घुप अँधेरे में/मैं सहमा हुआ चुप रहा; अभी तक मौन हूँ/अनदेखे अरूप को/उधार देते मैं डरता हूँ/क्या जाने यह याचक कौन है?

क्या बिना अपने को कुछ भी दिये, उसे पहचाना जा सकता है? यह संवाद की स्थिति नहीं है। और संवाद नहीं है तो एक स्वविषयान्वेषी आत्मस्थिति मात्र है जो जीवन की मौलिक और एकांत सत्ता का स्रोत और सार्थकता है। जहाँ अज्ञेयजी के लिए यह मौन, यह संवादहीन शुद्ध सत्ता में होना, परम सौभाग्य, शक्ति और सार्थकता है, वहाँ रघुवीर सहाय के लिए यह बाँझ और नपुंसक स्थिति है। जहाँ अज्ञेयजी अपने सौभाग्य को निभाते हुए उसके जाँचे जाने की कसौटी समाज को ही रचना के लिए अतिरिक्त मानते हैं वहाँ रघुवीर सहाय का कहना है, "आज के कवि का अपनी परीक्षा के लिए समाज के सामने आना, विशेष रूप से तब जबकि उसे समाज में अपने अस्तित्व को अर्थात् समाज से अपने रिश्ते को समझने में संशय हो रहा हो, उसे अहं के रचनाविरोधी खतरे से बचायेगा।'' (-लोग भूल गये हैं : निवेदन)। स्पष्ट है, रघुवीर सहाय के लिए यह आत्मलीना आत्मविद्ध चेतना, अहं का रचना विरोधी खतरा है। वह यह भी स्वीकार करते हैं कि संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्ति करती दिखायी दे रही हैं, जिनके विरुद्ध संघर्ष क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया।'' फि. भी, वह रचने के एकांत के बीच से उठकर भी अपने आंतरिक संघर्ष की जाँच के लिए अपनी रचना को उन लोगों के सामने लाना ज़रूरी मानते हैं जो लोग न्याय और बराबरी के आदर्श को नहीं भूलते। चाहे कोई अद्वितीयतावादी विचारधारा हो या समाज या समाजवादी विचारधारा, जो दु:ख को जज्ब करनेवाले देह मन आत्मा को उसकी अपनी विशिष्टता में धारण करने की अनिवार्य मानवीय अनुमति के प्रति पर्याप्त अभिमुख नहीं है-वह बहुत-सी कला है (पाखंड है)। यह पाखंड जहाँ भी होगा, वहाँ बहुत कला (प्रपंच) होगी। यानी

आत्मबिद्ध अद्वितीयतावादी और समाजबिद्ध समाजवादी, दोनों ही अपने स्वार्थ के लिए आदमी के दु:ख का इस्तेमाल प्रपंची ढंग से कर सकते हैं :

अद्वितीय हर एक है मनुष्य/और उसका अधिकार अद्वितीय होने का/छीनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं/उनकी रचनाएँ हों या उनके हों विचार/पीड़ा के एक रस भीने अवलेइ में लपेटकर/परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं/कला और क्या है सिवाय इस देह मन आत्मा के/बाकी समाज है/जिसको हम जानकर समझ-कर/बताते हैं औरों को, वे हमें बताते हैं ..... वे जिन तकलीफों को जानकर उनका वर्णन नहीं करते हैं, वही है कला उनकी/कम-से-कम कला है वह/कला बदल सकती है क्या समाज?/नहीं, जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।

रघुवीर सहाय जिस देह मन आत्मा को दु:ख जज्ब करते हुए देखते हैं, वह अपनी आत्मा के अद्वितीय रूप का साक्षात्कार नहीं है बल्कि 'वर्तमान सम्बन्धों और उन सम्बन्धों के इतिहास का संघात है।' यानी उसकी विशिष्टता ऐतिहासिक सत्ता है। उसकी विशिष्टता का आन्तरिक सार सापेक्ष रूप से स्वायत्त है—वह मौलिक सत्ता नहीं है और न समाज स्वयंसिद्ध प्राकृतिक सत्ता। दोनों इतिहास की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में निर्मित वैयक्तिक और संस्थागत सत्ताएँ हैं जिनके बीच मौलिक द्वंद्व नहीं, डायलेक्टिकल सम्बन्ध होता है। वे एक-दूसरे की सापेक्षता में परिवर्तित होते हुए मानवीय बनते रहते हैं और इसी प्रक्रिया को धारण करते हुए कवि रचने योग्य बना रहता है। रघुवीर सहाय अपने को रचने योग्य बनाये रखने पर बल देते हैं जिसका तात्पर्य है व्यक्ति और समाज के रिश्तों को ऐतिहासिक अर्थ और प्रक्रिया में (चरम अर्थ और 'शाश्वत वर्तमान' में नहीं) जीवित और सक्रिय बनाये रखना। 'सीढ़ियों पर धूप में' जो माँ, गौरैया, बसंत की धूप, और पानी के संस्मरण के बारे में लिखी गयी कविताएँ हैं— जिन्हें सहज की संज्ञा दी गयी है, वस्तुत: वे भी अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ और सार के कारण अर्थ की अतिरिक्त चमक से उद्भासित होकर कविताएँ बन पाती हैं।

उन कविताओं की संवेदना तक पहुँचने के लिए चीजों और आदमी के बीच रिश्तों की ऐतिहासिक प्रक्रिया अधिक समर्थ है। 'जो विराट इतिहास की सक्रिय शक्तियों में' 'अपने को समाहित करते हुए' 'अपने व्यक्ति की झूठी आत्मसत्ता नहीं त्याग सकता' वह 'जीवनाभिलाषी की' सर्जनात्मक 'व्यथा' (लिखने का कारण, पृ०58) से न परिचित हो सकता है, न उसका परिचय करा सकता है। यानी रघुवीर सहाय आत्मबिद्ध कवि नहीं है वे इतिहास की सक्रिय शक्तियों के भीतर व्यक्ति की झूठी आत्मसत्ता को समाहित करते हुए

सच्ची (अर्थात् ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्रतिफलित) आत्मवस्तु को अर्जित करते हैं जिसका स्वरूप और ढाँचा हमेशा गतिशील परिवर्तन के भीतर टूटता-बनता रहता है:

यानी कि आप ही देखें कि जो कवि नहीं हैं/अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ/और आप कहते हैं कविता की है/क्या मुझे दूसरों की तोड़ने की फुरसत है?

इस मूर्ति का बनाना और ढहाना वस्तुत: आदमी की आज़ादी और सत्ता के बीच रिश्ते **को** खोजते और बनाते-ढहाते रहने का अनवरत तनाव है। रघुवीर सहाय जिसे आदमी **की** आज़ादी कहते हैं, वस्तुत: वह वैयक्तिक सत्ता है। असल में मानवीय आज़ादी तो उस तनावबिन्दु पर होती है जहाँ वैयक्तिक सत्ता और राज्य तथा समाज की नियामक सत्ता के बीच तनाव पूरा-पूरा उभर पाता है। यही दो अर्थ हैं जिनको मिलाकर एक तीसरा स्वच्छन्द अर्थ कवि देता है, जिसकी संज्ञा (नाम)स्वाधीनता है। यह स्वाधीनता मानवीय विकास में अपने उपयोग की आज्ञा तो स्वेच्छया देती है, लेकिन शोषण की कतई नहीं। रघुवीर सहाय की स्वाधीनता का अर्थ सम्भवत: यह है कि व्यक्ति समाज और सत्ता के साथ संपूर्ण मानवीय विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाने के सही ऐतिहासिक बिन्दु पर बना रहे/बनता चल सके। 'सीढ़ियों पर धूप में' से लेकर 'लोग भूल गये हैं' तक में रघुवीर सहाय की कविता की यही मूलभूत चिन्ता है।

रघुवीर सहाय एक विरल कवि हैं जो हर ऐतिहासिक दौर में अपने कवि और कविता की गतिशील ऐतिहासिक भूमिका पहचानकर ही उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता महसूस करते हैं। रघुवीर सहाय के कविता-संग्रहों में इस ऐतिहासिक विकास-क्रम को सबने पहचाना है। 'शक्ति और सुन्दरता से भरी करुणा', 'अपना रूप खोती हुई दुनिया में व्यापती बेहूदगी' 'दहशत या आतंक' की विशिष्ट काव्य-वस्तुएँ उनकी कविता में पहचानी गयी हैं। बिलकुल नये संग्रह 'लोग भूल गये हैं' में एक भयानक चिन्ता है। लोग उस 'डर' को भूल गये हैं जिसका कुछ उपाय था और एक कारणहीन 'डर' की गिरफ्त में आ चुके हैं। लोग ऊब और भूतही मुस्कान मिलाकर खुश और बेफिक्र होते जा रहे हैं: उन्होंने दु:ख दूर करने का काम समय को सौंप दिया है!

समय ही करेगा दु:ख दूर, यों कहते ही आने वाला समय कितने अन्यायों के बीच से लदा हुआ इस दु:ख को काटेगा !

अन्याय के शिकार के लिए मन में समाज की जगह नहीं होगी तो समय के हाथों अपने को सौंपना आत्महत्या करना है। कवि भूल गये लोगों से उन्हें अपनी भूमिका के प्रति सचेत

बन रहने के लिए बेचैनी से उनसे बहस करने की जिद को बनाये रखना चाहता है। कवि उनके सामने बार-बार यह दृश्य लाता है :

एक घनी नफरत और साधारण लोगों से बदले की भावना/इन तमाम बूचे उटंगे मकानों को बनाती चली जाती है/यह संस्कृति इसी तरह के शहर गढ़ेगी।

घनी नफरत और बदले की भावना से हासिल की गयी ताकत ने एक ऐसी दंभी ऊंचाई और संस्कृति का निर्माण कर लिया है जिसमें आदमी हर क्षण छोटा और खत्म होता जा रहा है। यह दहशत, आतंक और त्रासदी है जिसका मुकाबला करने के लिए रघुवीर सहाय संशय और कर्म को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं।

लेकिन रघुवीर सहाय की कविता की एक खास समस्या यह है, जो 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो' संग्रह से पैदा हो गयी थी कि वह संशय और कर्म—जिसे वह एक तरह से जीवन-दर्शन मानते हैं, वह कितनी दूर तक वैयक्तिक और कहाँ से सामाजिक होकर मानवीय अर्थ में प्रतिफलित हो पाता है? उन्होंने अशोक वाजपेयी को उत्तर देते हुए कहा है: ".....शुरू ज़िन्दगी में हम समझते रहते हैं कि हम अपनी हिम्मत और इच्छा से बहुत-सी चीज़ें कर लेंगे।.....जब हम उनको करने लगते हैं तो धीरे-धीरे एक वक्त आता है कि हमको कभी-कभी मालूम होता है कि (यहाँ ज़िन्दगी से मतलब ज़िन्दगी के बरस नहीं, अनुभवों के बरस हो सकते हैं) जिन शारीरिक या मानसिक चीजों के बारे में पहले आपने हिम्मत की थी, उनको लेकर तमाम ऐसी ताकतें काम कर रही हैं जो आपकी कोशिशों को खत्म कर देती हैं। एक जगह ऐसी आती है जहाँ कि दहशत ज़िन्दगी का एक अनिवार्य अनुभव बन जाती है।'' (लिखने का कारण, पृ० 155)। लेकिन, इसी के साथ, उन्होंने उसी बातचीत में कहा है: ".....'बस, इतना काफी है कि आपकी पक्षधरता साफ रहे। आप समाज को बदलना चाहते हैं, यह साफ रहे और उसकी बराबरी के पक्ष में बदलना चाहते हैं, यह भी साफ रहे। लेकिन, बाकी शर्तें संदिग्ध हैं और बार-बार जानने की हैं।'' (वही , पृ० 158)। इतना कुछ साफ करने पर यह भी साफ होता है कि दहशत के इस अनिवार्य अनुभव को भी बदलना है। दहशत ही असल ज़िन्दगी है। यह गलत है; इस दहशत को पैदा करनेवाली कारक शक्तियों की भी पहचान है। फिर भी, क्या कारण है कि यह दहशत का अनुभव घनीभूत होता चला जाता है और चीजों को बदलने का उद्देश्य स्पष्ट होते हुए भी कर्म को जीवन-दर्शन मानते हुए भी चीज़ें नहीं बदल रही हैं? संभवत: इसका कारण यह हो कि कर्म, जाने-अनजाने मात्र वैयक्तिक भूमिका में होकर ही सच्चा लगता हो और सामाजिक भूमिका पर प्रतिफलित होते ही उसमें संशय और निहितार्थी चरित्र उभर जाता हो। ऐसा होता है, लेकिन मात्र इतने से कर्म की सामाजिक भूमिका के प्रति

आवश्यकता से अधिक चौकन्नापन रचने की योग्यता को क्षति पहुँचाता है। यह इतिहास-सिद्ध सत्य है कि कर्म सामाजिक भूमिका में होकर ही परिवर्तन ला पाता है। कर्म की सामाजिक भूमिका एक अनुशासन, पद्धति, तर्क और विचार सरणि को विकसित किये बिना प्रतिफलित नहीं हो सकती। मनुष्य ने जितनी संस्थाएँ विकसित की हैं, वे उसमें निहित योग्यता और कर्म को अधिक विस्तृत करने के उद्देश्य से की गयी हैं। उन्होंने ऐसा किया भी है। दूसरी ओर मनुष्य की योग्यता को उसने कुंठित भी किया है, वह उसका अंतर्विरोध है। चौकन्ना इस अंतर्विरोध के प्रति होना है ताकि उसकी संस्थागत सत्ता मनुष्य का शोषण न कर सके। कर्म की सामजिक भूमिका पर बल देनेवाली विचारधारा के प्रति अतिरिक्त परहेज मानवीय अनुभव को मुक्त नहीं कर सकता।

रघुवीर सहाय ने अपनी कविताओं में यथार्थ की ऐसी तमाम तस्वीरें दी हैं जो हमारे जीवन-बोध और काव्य-बोध् को बहुत समृद्ध करती हैं और वे अलग-अलग इतनी अधिक हैं कि जीवन और अनुभव की विविधता को सार्थक और ठोस धारणा के रूप में प्रस्तावित करती हैं। लेकिन, अक्सर ऐसा भी अनुभव किया जाता है कि वे चमककर लुप्त भी हो जाती हैं। वे 'कहने के तरीके' में खोने-सी लगती हैं। बहुत बार शब्दों को खास ढंग से कविता में रखने, स्वर, मुद्रा, लय आदि के द्वारा कुछ बनाने की वे चेष्टा करते लगते हैं। उनके पास वस्तुएँ हैं और शब्द हैं और इनकी समस्या को वे कुछ-कुछ इस तरह हल करते लगते हैं जैसे नये विकसित प्रबंध-विज्ञान के विद्वान 'सोशल इंजीनियर' के रूप में समाज की तमाम समस्याओं को हल करने में तत्परता दिखाते हैं। यही कारण है कि उनकी लम्बी कविताओं में खास कर बहुत जगहों पर शब्द अपने शाब्दिक करतब में प्रकट होते रहते हैं। जहाँ शब्द अपनी हरकतों से वस्तुओं पर आघात करते हुए उनके भीतर से होकर फैलते हैं, वहाँ शब्द बहुत अर्थवान हो उठता है। वहाँ वह एकसाथ वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कई-कई प्रसंगों में अर्थ विकर्ण करने लगते हैं। ऐसे कुछ स्थलों पर रघुवीर सहाय ने शब्द को जितना अर्थवान बनाया है, संभवत: उतना किसी एक स्वातन्त्र्योत्तर कवि ने नहीं। इसीलिए वहाँ वह बिना रोमानी हुए बहुत संवेदनक्षम कविता लिखते हैं और वस्तुओं को बिना विचारधारात्मक परिभाषाओं में ग्रहण किये उसे बल देने, समृद्ध करने वाले समर्थ विचारों की संभावनाएँ उत्पन्न करते हैं। लेकिन, कर्म की सामाजिक भूमिका पर बल देने वाली विचारधारा पर वह अतिरिक्त संशय न करके उसके साथ उलझने-निपटने को भी कविता और शब्द के लिए अनिवार्य मानते तो संभवत: शब्दों को वास्तविकता के और गहरे संस्पर्शों और अर्थों को विकसित करने का उन्हें अवसर मिलता। वस्तु को उनकी अपनी विशिष्टताओं में बनाये रखने का एकांत आग्रह कविता को रूढ़ शब्द-व्यापारों से मुक्त तो करता है, लेकिन उसे अर्थ के व्यापक विस्तार में बहुत

दूर तक नहीं ले जा सकता। कवि की ज़िद है : 'प्रिय पाठक ये मेरे बच्चे हैं/कोई प्रतीक नहीं/और इस कविता में मैं हूँ मैं/कोई रूपक नहीं।'' लेकिन रूपक और प्रतीक काव्यार्थ का विस्तार भी तो करते हैं। सिर्फ इतना होना चाहिए कि रूपक और प्रतीक ज़िन्दगी की वास्तविकता के साथ संवाद में हों, उसे कुन्द न कर पायें। वैसी हालत में वस्तुओं की अपनी निजी विशिष्टता अपने चारों ओर की और वस्तुओं के साथ रिश्ते का विस्तार करती है। क्या कुछ इसी तरह कहा जा सकता है कि व्यक्तियों और वस्तुओं की निजी विशिष्टता को बनाये रखते हुए भी उनके रिश्ते को विचारधारा अधिक विस्तृत करती है? यानी आन्तरिक विशिष्टता और दूसरी चीजों के साथ उसके सम्बन्ध की समस्या को हल करने में यथास्थिति में परिवर्तन लाने वाली विचाराधारा अपनी सार्थक भूमिका निभा सकती है? संभवत: वह वस्तुओं और शब्दों के सम्बन्ध को एक संगत सरणि में विकसित करने में मदद दे सकती है। इस सिलसिले में अपनी 'गुलामी स्वप्न' कविता की व्याख्या, जिस तरह से रघुवीर सहाय ने की है, उसे पूरा उद्धृत कर इस अपर्याप्त टिप्पणी को इस समय स्थगित करना चाहूँगा :

".....उसमें छाता, मरता हुआ आदमी, गोलमेज, खंडहर, दो लड़कियाँ—ये सब यथार्थ हैं, प्रतीक नहीं हैं—बिल्कुल यही चीज, लोग वास्तविक लोग हैं। लेकिन एक-दूसरे से इतने असबद्ध हैं कि मैं सोचता हूँ कि कौन-सी चीज इनको जोड़ रही है, क्यों ये मेरे मन में या मेरे स्वप्न में एक के बाद एक आये हैं, इनकी कविता क्यों बनती है? इसलिए बनती है कि उन सबको, एक के बाद दूसरे को, देखने के बाद जानता हूँ कि कहीं से कोई सम्बन्ध इनमें ढूँढ़ना है जिससे ये रचकर एक रचनात्मक चीज बन जायें। वह सम्बन्ध मैं इस कविता में ज़रा ज्यादा ज़ोर से ज़रा अधिक हस्तक्षेप करके—ज़रूरत से ज्यादा नहीं—पाता हूँ । मैं पाता हूँ कि वह तस्वीर जो कि छोटी लड़की के खंडहर से भागने की है, शायद सबको जोड़ने का साधन बन सकती है। इसलिए अन्त में आप पाते हैं कि मैं यह कह रहा हूँ कि मेरा कोई निर्णय नहीं हो सका, इससे कोई परेशान नहीं था, यद्यपि मैंने यह नहीं देखा था कि कोई परेशान है या नहीं है; मैंने केवल यह देखा था कि कोई निर्णय नहीं हुआ। और इससे तो मैं ही परेशान था। लेकिन मैंने अपनी उस तकलीफ को बयान नहीं किया। मैंने कहा कि किसी और को कोई चिन्ता नहीं थी कि मेरा कोई निर्णय नहीं हुआ और उसका कारण भी सोचकर बताया—वह आरोपित है. ... कि उन्होंने अमानत या रेहन के तौर पर मेरी दो संतानें कैद कर रखी थीं—और यह तो मैं ही जानता हूँ कि उसमें से एक भागकर मर चुकी है। पर एक व्यंग्य यह है कि वे नहीं जानते, दूसरा व्यंग्य यह है कि मुक्त होनेवाली लड़की को मरना पड़ा।''
(—लिखने का कारण, पृ० 166)

रघुवीर सहाय की कविता पढ़ते हुए मुझे अक्सर भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द, निराला और नागार्जुन याद आते हैं, गांधी और लोहिया याद आते हैं, कभी कोई पश्चिमी कवि या चिन्तक याद नहीं आता है। वे अपने लोगों से बेहद नफरत और प्रेम करते हैं, उन्हीं के बीच रहते हुए। अपनी बौद्धिक और रचनात्मक हैसियत के कारण उनसे अलग होकर कभी उनका अवमूल्यन नहीं करते। अपनी रचना और विचार की ऊर्जा के लिए हिन्दी, गँवई और कस्बाई स्थितियों को अंग्रेज़ी, महानगरीय और पश्चिमवादी आधुनिक कसौटियों से लड़ाते रहते हैं। उनकी कविता आदमी की हालत को प्रचलित राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के घनिष्ठ प्रसंग से बाहर किसी तत्त्वप्रदर्शन और विचारधारा में घुलाकर उन्हें इस्तेमाल कर लिये जाने की सुविधा और अवसर का निरन्तर प्रतिरोध करती है। उनकी कविता, आदमी और संस्था (राजनीतिक-सामाजिक) के तनाव और संघर्ष में पाये गये अर्थ, गति और दिशा को इतनी दूर तक नहीं ले जाती जहाँ तनाव और संघर्ष में सहे-पाये गये निशान ही मिट जायें। उनकी कविता में ठेठ देसी दबाव इतना निर्णायक कि वह स्वाधीन भारतीय समाज में – 'राष्ट्रीय' की संकल्पना और विशेषता में ऊर्जा और सार्थकता की अधिकतम संभावना पाता है। संभवत: यही कारण है कि रघुवीर की कविता के रामदास और गिरीश के सामने प्रेमचंद का सूरदास और निराला का महँगू याद आता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि भाषा और स्मृति या जातीय स्मृति की अधिकतम चर्चा करनेवाले लोगों के साहित्य और चिन्तन में पश्चिमी भाषा, मिथक, ज्ञान-प्रतीक और चरित्र ही अधिक याद आता है। संभवत: इन कवियों में स्वाधीनता-संग्राम के दौरान पायी गयी चेतना, मानसिक गठन और जीवन-संस्कार का अधिकतम उत्तराधिकार और उसके प्रति दायित्व का भार रघुवीर सहाय ही पाते-उठाते हैं।

और क्या खूब समानता है कि स्वाधीनता-संग्राम के दौरान मामूली आदमी के बड़े होने की हर हरकत और हर शब्द पर सत्ता की कड़ी निगाह थी जो किसी भी बहाने उसे मार देती थी, और आज भी सत्ता ऐसे आदमी को छोड़ देने के लिए तैयार नहीं है। 'रंगभूमि' का सूरदास अंधा, निरक्षर और कमज़ोर है लेकिन प्रेमचन्द ने उसे उन वास्तविक और जीवित सन्दर्भों में पहचान लिया था कि उस आदमी को मारने के लिए पूरी व्यवस्था सन्नद्ध हो गयी थी और मार ही डाला था। यहाँ तक कि उसकी मूर्ति भी असह्य थी। रघुवीर सहाय की कविता में क्या वही आदमी नहीं है।

फिर भी बिना बतलाये कि एक मामूली व्यक्ति
एकाएक कितना विशाल हो जाता है
कि बड़े-बड़े लोग उसे मारने पर तुल जायें

रहा नहीं जा सकता
× × ×
वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं
जहाँ सुना नहीं उनका गलत अर्थ लिया और मुझे मारा
इसलिए कहूँगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों

इस कविता की बोली और आदमी एक ही जीवन-प्रक्रिया की उपज हैं जो मौके के मुताबिक अवसरवादी ढंग से इस्तेमाल नहीं हो सकते। उनकी सिर्फ एक ही योग्यता है कि वे सामरिक बिन्दु पर चुनौती का मुकाबला करें।

इस एक अर्थवाली बोली या भाषा के नियम वास्तविकता से स्वतन्त्र न हो सकने के लिए बाध्य हैं, जबकि अनेक अर्थोंवाली बोली अपने अस्तित्व को स्वतंत्र बनाये रखने के लिए वास्तविकता का इस्तेमाल भर करती है। एक अर्थवाली बोली के लिए वास्तविकता असुविधाजनक और सार्थकता का स्रोत है, अनेक अर्थोंवाली बोली के लिए वह सुविधा और सफलता का रहस्यगर्भित उपकरण।

वास्तविकता अन्तर्विरोध ग्रस्त और अनेक प्रसंगों का संघात होती है। भाषा यदि चाहे तो उसके अन्तर्विरोधों का फायदा उठा ले और उसकी जटिलता को कभी हल न होनेवाली नियति या पहेली बना दे; उस नियति या पहेली को गत्यात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम न मानकर तत्त्वदार्शनिक-परम मान ले। ऐसी स्थिति में वास्तविक के विकासमान स्वरूप से निरन्तर परिचित होते रहने की जहमत न उठानी पड़ेगी। यह (वास्तविकता) ठोस, प्रत्यक्ष और व्यावहारिक की अपेक्षा बौद्धिक धारणा और व्यापार में परिवर्तित हो जायेगी, जिसे शब्दों और भाषा के चतुर-कुशल प्रयोगों द्वारा मर्जी-मुताबिक व्यंजित किया जाता रहेगा।

क्या रघुवीर सहाय को मनुष्य के भावों से अधिक चिन्ता खुद मनुष्य (विभाव) की है? भाषा से अधिक चिन्ता रूपबंध की है? उनकी एक अर्थवाली बोली की माँग तो कुछ ऐसा ही बताती है। विभाव और रूप की व्यंजना नहीं होती, उनके भीतर निहित भावों की होती है। जहाँ सभी कवि ऐसी भाषा के लिए सिर खपाते हों, जो अनेक स्तरीय व्यंजना कर सके वहाँ कोई कवि एक-अर्थवाली बोली पाने की जद्दोजहद और प्रतीक्षा करे तो निश्चय

ही उसकी चिन्ता भावों की कम, उसके प्रकृत या वास्तविक आधार की अधिक है। मनुष्य को जब उसके सभी सन्दर्भों में—सही और गलत, पक्ष और विपक्ष में उसके असमंजस तथा अन्तर्विरोध के साथ जान लिया जाता है तभी उसके भावों की व्यंजना सार्थक हो सकती है। तभी वह बोली पायी जा सकती है जिसमें यह विश्वास होगा कि :

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा।

यह शब्द पाया जा सकता है :

शब्द, अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाये वहाँ-वहाँ होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीज़ों के आर-पार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक
स्वच्छन्द अर्थ दे/मुझे दे।

रघुवीर सहाय की मृत्यु सामाजिक और साहित्यिक दुर्घटना है। उन्होंने अभी अपना काम खत्म नहीं किया था। वे थके भी नहीं थे। उनके विचारों और रचनाओं में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी थी। वे उन भाग्यशाली चिन्तकों और रचनाकारों में नहीं थे—होना भी नहीं चाहते थे—जो 'स्वतन्त्रता' और 'अद्वितीयता' को मनुष्य की चरम नियति मानकर, रचना को जीवन के समानान्तर विकल्प के रूप में प्रस्तावित करते हैं। उनके लिए व्यक्ति जो समाज में रहता है, और रचनाकार जो अकेलेपन में रचता है—उनमें भेद का महत्त्व नहीं है, सम्बन्ध का महत्त्व है। व्यक्ति और समाज, रचनाकार का विषय हो सकता है वस्तु नहीं। वस्तु तो सम्बन्ध है। इसी कारण रघुवीर सहाय की निगाह में – 'व्यक्ति समाज से स्वतन्त्र नहीं, समाज में स्वतन्त्र है'—अज्ञेय जैसी युक्तियों का कोई अर्थ नहीं है। स्वतन्त्रता यदि मूल्यवान है तो वह व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की वह धुरी है जहाँ से अधिकतम गति – और अधिकतम ऊर्जा उभरती है। राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक परिवर्तन, असुरक्षा, डर और अवसाद के साथ हमारे समय का आदमी कितनी तरह से उलझा हुआ है, कितना विवश, कितना सक्रिय और कितना अकेला है – उसे ठीक-ठीक पाने की काव्यात्मक कोशिश वे बराबर करते रहे। उन्होंने अंसदिग्ध रूप से 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' की रियायत अस्वीकार की थी, साथ ही 'मैं अपने लिए भी बहुत जरूरी हूँ' - की 'जिद' कभी नहीं छोड़ी। राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष को उन्होंने मानवीय ऊर्जा के लिए अनिवार्य माना और कला-परम्परा, भाषा और शिल्प को इतनी गरिमा दी कि वह किसी के मातहत न हो सके। उन्हें लोगों में, हृदय में अटूट विश्वास था, "जहाँ

तक हृदय का सवाल है, कम-से-कम मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते: इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य इन्हें भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं।'' लेकिन मानवीय रिश्ते की खोज में हृदय-परिवर्तन पर उनका विश्वास न था, 'ये सम्बन्ध हृदय-परिवर्तन से नही बनेंगे, संघर्ष के नतीजों की बार-बार जाँच से बनेंगे।''

मनुष्य की (और कवि की भी) अस्तित्व-मीमांसा, रघुवीर सहाय ने, 'देह मन आत्मा' के विशेष क्षेत्र में नहीं की—समाज के साथ उसके रिश्ते में की। कवि के लिए यह रिश्ता हमेशा तनावपूर्ण होता है क्योंकि उसे हमेशा उस 'नये' को पहचानना होता है जो व्यक्ति और समाज के रिश्ते को गतिशील और मानवीय बनाता रहता है। यह है इतिहास-बोध। इसी से मनुष्य-बोध निर्मित और परिभाषित होता रहता है। उन्हें इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि हर मनुष्य जन्म से अद्वितीय होता है लेकिन उन्हें इसकी चिन्ता नहीं है; उन्हें चिन्ता इस बात की है कि जन्म के बाद जीवन में बहुतों से उनके अद्वितीय होने का अधिकार छीन लिया जाता है। इस अधिकार के छीने जाने और छीनने वालों के प्रति कवि का रवैया, उसके भाव-बोध के मानवीय सार का निर्माण करेगा या सिर्फ अद्वितीयता का विचार? रघुवीर सहाय की कविता बताती है:

अद्वितीय यानी जो मस्ती में रहते हैं चार पहर
केवल कभी चौंककर
अपने कुएँ में से झाँक लिया करते हैं

अद्वितीय हर व्यक्ति जन्म से होता है
किन्तु जन्म के पीछे जीवन में जाने कितनों से यह
अद्वितीय होने का अधिकार
छीन लिया जाता है
और अद्वितीय फिर वे ही कहलाते हैं
जो जन के जीवन से अनजाने रहने में हो
रक्षित रहते हैं।

अद्वितीय हर एक है मनुष्य
औ उसका अधिकार अद्वितीय होने का
छीनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं
उनकी रचनाएँ हों या उनके हों विचार

पीड़ा के एक रसभीने अवलेह में लपेटकर
परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं।

रघुवीर सहाय इस कला-बुद्धि के विरोध में हैं। इसे वह 'कला' यानी आडम्बर मानते हैं। इस आडम्बरी कला को गहनता, सूक्ष्मता, जटिलता, अन्तरात्मा--न जाने कितने लक्षणों से प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसी कला बहुत सुरक्षित होती है।

इसके विपरीत सहायजी की कविता में ऐसा असुरक्षित आदमी अक्सर दिखायी पड़ता है जिसे मार दिया जायेगा या मार दिया जाता है:

मैं सब जानता हूँ पर बोलता नहीं
मेरा डर मेरा सच एक आश्चर्य है
पुलिस के दिमाग में वह रहस्य रहने दो
वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं
जहाँ सुना नहीं उनका गलत अर्थ लिया और मुझे मारा
इसलिए कहूँगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों।

लेकिन हत्यारे भी बहुत सक्रिय और सजग हैं। वे 'जब हत्यारे सारे शब्दों को/तोड़ लेंगे/ तब वे अपने-अपने मित्रों को मार देंगे।' यही कारण है कि शब्द और भाषा के प्रति रघुवीर सहाय बहुत सचेत हैं। भाषा-अभिव्यक्ति की समस्या मात्र नहीं है, वह जीने की समस्या है:

एक शब्द कहीं नहीं कि वह लड़का कौन था
क्या उसके बहनें थीं
क्या उसने रक्खे थे टीन के बक्से में अजूबे
वह कौन-कौन से पकवान खाता था
एक शब्द कहीं नहीं एक वह शब्द जो वह खोज
रहा था जब मारा गया।

शब्दों की खोज खतरनाक है। लेकिन क्यों और कब? जब ताकतवर लोग जबर्दस्ती शब्दों में अपनी मर्ज़ी-मुताबिक अर्थ डाल दें। 'जब मैंने कहा कि यह फिल्म घातक है/इसमें

मनुष्य को झूठा दिखाया है/तो प्रधानमंत्री नाराज़ हुए – यह व्यक्ति मेरे विरुद्ध है।' अपनी ताकत के बल पर और उसे बनाये रखने के लिए मनुष्य को झूठा दिखाने का काम भाषा से बखूबी हो सकता है। मनुष्य को सही शब्द में दिखाने का काम उस ताक़त के विरोध में खड़ा होना है। मनुष्य और उसकी वास्तविक स्थिति को सही रूप में व्यक्त करने वाला शब्द और आदमी, ताकत और क्रूरता से घिरा हुआ है। रघुवीर सहाय की कविता में ताकत और क्रूरता से घिरी हुई लड़की है, औरत है, रामदास है, सेब बेचनेवाले की छाती तोड़ती खाँसी है, सोचनेवाले आदमी का अकेलापन है – हर जगह, लगभग हर कविता में बहुत प्रकार के ठोस दृश्य और प्रसंग हैं। कविता के शब्द, अपनी ताकत और जीवन इन्हीं से पाते हैं, इसीलिए दोनों में अन्तर नहीं है। उनकी भाषा का विधान वास्तविकता का विधान है। अपने कविकर्म के लिये जीवन से कुछ दृश्यों को लेकर वे उसे गढ़ते नहीं, उसे पहचानते हैं। गढ़ने और पहचानने में फ़र्क है। और गढ़ने में वस्तु का उपयोग उनकी मर्जी और क्षमता के अनुसार होता है। जब वे अपनी कविता में किसी वस्तु या जीवन के किसी दृश्य का चित्रण करते हैं तो उसके चारों ओर फैले हुए प्रसंग दिखायी पड़ते हैं – सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक प्रसंगों के जाल। जीवन और मनुष्य को स्वाधीनता और मुक्त करने का अर्थ इन प्रसंगों से उसे काटना नहीं है बल्कि उन प्रसंगों में उभर आये निहितार्थ को काटना है। सभी संस्थाएँ – चाहे वे शास्त्र-परम्परा, राजनीति या समाज की हों, कुछ लोगों को अतिरिक्त रूप से ताकतवर बनाती हैं और इसके उलट, यह भी सच है कि उन्हीं के कारण जीवन गतिशील भी होता है। रघुवीर सहाय इस विषय में बिलकुल स्पष्ट हैं कि संस्थाओं का आत्यंतिक रूप से निषेध नहीं किया जा सकता – उनके रूपों और प्रकारों को ज़रूर तोड़ा सकता है। उन्होंने लिखा है, "विराट भीड़ों के समाज को बदलने का आज सिर्फ एक साधन है : वह है उस सत्ता का उपयोग जो समुदाय का एक-एक व्यक्ति अलग-अलग निर्णयों से कुछ हाथों में देता है। सरकार, जो राज्य की प्रतिनिधि है, जो समाज का प्रतिनिधि है, जैसी भी वह हो सकती है – अधूरी, टूटी, नकली, मिलावटी, मूर्ख–अकेला कारगर साधन भीड़ के हाथ में है। मैं इस साधन के अधिक-से-अधिक सही इस्तेमाल के लिए लड़े बिना नहीं रह सकता।"

तो जीवन को प्रसंगों में पहचानने का मतलब है – संस्थाओं के सही इस्तेमाल के लिए लड़ना। हमारे रिश्ते, हमारी मनुष्यता उससे निर्मित और परिभाषित होती है। "न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं, उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी, यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान तय होनी चाहिए।" यानी मानवीय रिश्तों की कोई सनातन सत्ता नहीं है – ऐतिहासिक सत्ता है, जिसमें परिवर्तन होता है। इस तरह के कवि को यह सुविधा और स्वतंत्रता नहीं हासिल होती जो कुछ जीवन-तथ्यों

का होती तो इतिहास के ही भीतर से है लेकिन भाषा से गढ़कर उससे बाहर खड़ा कर देता है। ऐसी ही हालत में भाषा और रचना की स्वायत्त सत्ता पैदा होती है। रघुवीर सहाय की कला, ऐसी कला-बुद्धि के विरोध में है। रघुवीर सहाय का कला-विवेक उस इतिहासवादी बुद्धि के विरोध में भी है जो भावों, अनुभवों, विचारों और सम्बन्धों की विविधता और जीवंत विशेषता को निश्चित साँचों में ढाल देती है। उनकी कविता में भाषा और इतिहास की बड़ी सजीव भूमिका है जिसे पाठक पग-पग पर अनुभव करता है लेकिन विश्लेषण और व्याख्या के स्तर पर भाषावाद और इतिहासवाद के पैमाने अपर्याप्त साबित होते हैं। उनकी कविता का विश्लेषण बहुत कठिन है। पानी के संस्मरण, धूप, गौरेया के विवरण, हँसी, दुख, डर, औरत, लड़की या वाक्य-विन्यास की विशेषता (उनकी कविता का वाक्य-विन्यास बहुत नया है) का वर्णन करना, उसे फिर से भावित करा देना तो विश्लेषण नहीं होगा।

उनकी कविता में इतने ठेठ देशी दबाव हैं कि प्रचलित पश्चिमी आधुनिकता के जितने अभिलक्षण हैं उन पर आलोचनात्मक टिप्पणी होती चलती है। मसलन :

अपने-अपने कस्बों का नाम न लेकर वे लखनऊ का नाम लेते हैं।
जहाँ वे नौकरी करने आये थे
जैसे वहीं पैदा हुए और बड़े हुए हों
क्योंकि वह किसी क़दर आधुनिक बनना है
और फिर दिल्ली उन्हें समोकर अथाह में आधुनिक होने की
फ़िक्र मिटा देती है।

या -

वे हिन्दी का प्रयोग अंग्रेज़ी की जगह करते हैं
जबकि तथ्य यह है कि अंग्रेज़ी का प्रयोग
उनके मालिक हिन्दी की जगह करते हैं
दोनों में यह रिश्ता तय हो गया है

जो इस पाखण्ड को मिटायेगा
हिन्दी की दासता मिटायेगा
वह जन वही होगा जो हिन्दी बोलकर
रख देगा हरदै निरक्षर का खोलकर

या

हो सकता है कि लोग मार तमाम लोग
जिनसे मुझे नफरत है मिल जायें, अहंकारी
शासन को बदलने के बदले अपने को
बदलने लगें और मेरी कविता की नकलें
अकविता जायें। बनिया बनिया रहे
बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे
पर जब कविता लिखे तो आधुनिक
हो जाये। खीसें बा दे जब कहो तब गा दे।

जो अपने कस्बे का नाम नहीं लेते, जो हिन्दी की जगह अंग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं – जो अहंकारी शासन और जातिवादी समाज को नहीं बदलते और फिर भी आधुनिक हो जाते हैं, ऐसे नकली लोगों से नफरत करने का देशी तेवर जो रघुवीर सहाय की कविता में है – वह पहले अपने समाज से गहरे परिचय और प्रेम की मांग करता है। वह समाज-मीमांसा की देसी प्रतिभा की खोज व्याकुलता से करता है। सम्भवत: उसी समाज-मीमांसा की बुद्धि उनकी कविता के विश्लेषण के लिए कोई पद्धति प्रस्तुत करे। रघुवीर सहाय की कविता में वह कला-विवेक है और इसीलिए वे बड़े विश्वास से कह सकते हैं, "और दूसरी जो है बहुत-सी कला है वह'' इस 'बहुत-सी कला' यानी आडम्बर और नकल के विरुद्ध है रघुवीर सहाय की कविता।

9- 'मगध' और श्रीकान्त वर्मा

डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी

30 जनवरी 1984 की अपनी डायरी में श्रीकान्तवर्मा लिखते हैं, "मैं रोज कविताएँ लिख रहा हूँ। एक नये संस्कार को ढूँढ निकाल रहा हूँ, दूसरों के लिए। अवन्ति, मालवा, उज्जियनी, क्षिप्रा, चम्पा, काशी, कोशाम्बी, कपिलवस्तु, कोसल, कलिंग, वैशाली, आम्रपाली, वासवदत्ता, वसन्त सेना, चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अशोक, अजातशत्रु-पात्रों, चरित नायकों, नगरों, स्मृतियों का एक रेला है जो चला आ रहा है, एक भीड़ है जो उमड़ पड़ी है। यही हैं मेरी कविताएँ। इनका मुख्य सरोकार है 'मृत्यु', 'संहार', 'नैतिक क्षय'। इन कविताओं का एक संग्रह दो महीनों के भीतर तैयार कर दूँगा – जिस रफ्तार से लिख रहा हूँ, उससे तो अभी यही लगता है। पुस्तक का नाम होगा मगध। मैं जानता हूँ मगध क्या है? कालातीत काल !"

डायरी का यह पन्ना तीस जनवरी चौरासी का है जिसमें श्रीकान्त जी अपने 'मगध' को 'कालातीत काल' कहते हैं और उसकी कविताओं का मुख्य सरोकार मानते हैं 'मृत्यु, संहार और नैतिक क्षय'। इसके ठीक पिछली रात अर्थात 29 जनवरी, 84 की रात। मैं श्रीकांत जी के घर पर उनसे मिला था। साथ में केदारनाथ सिंह और विनोद भारद्वाज भी थे। जाड़े की उस रात श्रीकांत जी बहुत उत्साहित थे और उन्होंने अपनी पन्द्रह-बीस ताज़ा कविताएँ सुनाई थीं जो बाद में 'मगध' संग्रह में प्रकाशित हुईं। बाहर भयानक ठंड थी और ऊपर से कविताएँ भी ठंडी लग रही थीं पर उनके भीतर एक अजीब ताप था, जैसा शायद बड़वानल में होता हो।

इसी महीने के शुरू में अर्थात् 3 जनवरी 1984 को श्रीकांत जी ने मुझे अपने एक पत्र में लिखा, "मैं गोरखपुर के आसपास के ऐतिहासिक स्थल देखना चाहता हूँ। कविताएँ बिना देखे लिखी जा सकती हैं। मगर इतिहास के पुनर्संधान के बाद उन खंडहरों को देखने की इच्छा तीव्र हो जाती है, जिनमें न जाने किन महान आत्माओं ने प्रवास किया है। प्राचीन, जीर्ण, भुतहा, विस्मृत कुछ भी नहीं होता। सब काल के अनन्त प्रवाह का अंश है, कहीं स्वच्छ, कहीं मटमैला।"

अपने एक यात्रा संस्मरण में फ्रांसीसी साहित्य के बारे में टिप्पणी करते हुए श्रीकान्त जी लिखते हैं, "स्त्री, मृत्यु और स्वाधीनता पिछले सौ वर्षों के फ्रांसीसी साहित्य के मुख्य सरोकार रहें हैं।" कहना न होगा कि स्त्री, मृत्यु और स्वाधीनता-ये तीनों ही सरोकार श्रीकांत जी की कविता के भी हैं। यहाँ मगध के प्रसंग में मैं खासतौर से उस सरोकार को रेखांकित

करना चाहूँगा जिसे 'मृत्यु' कहते है। अगर कविता कवि से अभिन्न होती है और वह वही होती है जो कवि स्वयं होता है तो कवि के 'स्वभाव' को कविता में ढूंढना ज्यादती नहीं है। अपनी 3 फरवरी, 1972 की डायरी में श्रीकांत जी लिखते हैं, "सुबह मुझे दस्त के साथ थोड़ा सा खून गया। कुछ कमज़ोरी लगी। पहले भी-छह महीने पहले ऐसा हुआ था। डॉक्टर ने कहा था, कोई खास बात नहीं, पेट की गर्मी से ऐसा हो जाता है। मगर मैं अपने बारे में एक शक्की आदमी हूँ। मुझे स्वयं को लेकर, ख़ासकर शरीर को लेकर तरह तरह की शंकाएँ हुआ करती हैं—पिछले दस वर्षों से यही क्रम है। कभी कैंसर, कभी दिल के दौरे, कभी कुछ और का सन्देह होता रहता है। आज सारा दिन मुझे लगता रहा मेरे पेट में घाव (अल्सर) है। और दिन, नरक का एक लम्बा दिन रहा। मृत्यु के भय ने मुझे पूरी तरह दबोच लिया। .....मुझे मृत्यु के इस भय से, इस नैराश्य से उबरना चाहिए। और मैं इसके लिए कुछ योजनाएँ बना रहा हूँ।"[4] श्रीकांत जी की डायरियाँ प्रमाण हैं और जो लोग उनके निकट रहे हैं वे जानते हैं कि वे कई बार सिगरेट और शराब छोड़ने की योजनाएँ बनाते रहे। छोड़ते और शुरू करते रहे। एलोपैथिक नुस्खों से लेकर जड़ी-बूटी बेचने वाले पहाड़ी नागाओं के झाँसे तक में फँसते रहे। ऊपर डायरी का जो पृष्ठ उद्धृत है वह 1972 का है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गयी, शरीर के बारे में उनका शक़ बढ़ता गया, मृत्युबोध और तीव्र गाढ़ा होता गया। उनके अंतिम दौर की रचनाओं में यह बोध बहुत स्पष्ट है। **मगध** उनके आखिरी दौर की रचना है। इस का रचनाकाल 1979 से 1984 के बीच का है। 25 मई, 1986 को श्रीकांत जी का निधन हुआ। मृत्यु के पश्चात् उनका एक और संग्रह छपा **गरूड़ किसने देखा है**। यह संग्रह भी मगध संग्रह का ही विस्तार है। इसकी सारी रचनाएँ मगध की मनोभूमि की ही रचनाएँ हैं। अगर ये रचनाएँ **मगध** में ही छप गयी होतीं तो उसी की मनोभूमि में मिल गयी होतीं। यदि गरूड़ किसी ने नहीं देखा तो हममें से **मगध** किसने देखा है?

श्रीकांत जी सत्ता के खेल में शरीक थे। उस सत्ता के जिसका एक (लेकिन एकमात्र नहीं) प्रतीक है 'मगध'। वे सत्ता के इन्द्रजाल से, छद्म से पूरी तरह वाकिफ थे। 26 जनवरी, 1973 को अपनी डायरी में वे लिखते हैं, "गणतंत्र दिवस। कितना बड़ा षडयन्त्र है ग़रीब जनता के विरूद्ध। आज़ादी को पच्चीस साल हो गये, मगर आज़ादी का दिखावा है, वास्तविक आज़ादी नहीं। जश्न। समारोह। भारत से अधिक समारोही देश कोई नहीं। समारोह में किसी को अकेले होने का वक्त नहीं होता। समारोह की असलियत पर विचार करने की फुर्सत से उसे वंचित कर दिया जाता है, उसे शामिल कर दिया जाता है। भारतीय व्यवस्था कितनी चतुर रही है।"[5] यह सारी व्यवस्था अपने नग्न रूप में अपने सारे संशय, अनिश्चय, छद्म और इन्द्रजाल के साथ **मगध** में रूपायित है। श्रीकांत जी इस

व्यवस्था के एक पुर्जा थे और इससे वे अनभिज्ञ नहीं थे। 1984 की ही लिखी एक कविता है 'पितामह', जिसमें वे कहते हैं:

व्यास ने कहीं नहीं कहा
कि युद्ध में सत्य मारा नहीं जाता
कहा होगा व्यास ने पर व्यास का
मतलब यह नहीं था कि
होता तो, यही होता
कब कहा व्यास ने
कि जो लिखता है महाभारत पक्षधर नहीं होता।

श्रीकांत जी जानते थे इसलिए अपने से भी लड़ रहे थे। उनकी कविताओं में और डायरियों में एक नैतिक और संवेदनशील कवि के ईमानदार आत्मविश्लेषण से भी आगे आत्मभर्त्सना का स्वर मिलेगा। कभी गालिब ने कहा था–

ग़ालिब वजीफाख्वार हो दो शाह को दुआ
वो दिन गये कि कहते थे नौकर नहीं हूँ मैं।

श्रीकान्त का स्वर इसके बहुत आगे सूर और तुलसी के आत्म निवेदनों के करीब पहुँच जाता है। 1984 की ही एक कविता है-'तृष्णा'

तृष्णा थी जिसने तोड़ा
वसन्तसेना को
तृष्णा है जो तोडेगी
वसन्तसेना को
छोड़ नहीं पायी
वसन्तसेना
तृष्णा ऐसी ही होती है
तृष्णा से बचो
संभव हो
तो,
अपने से भी
तुम भी तो गिड़गिड़ा रहे थे

वसन्त सेना !
वसन्त सेना !

इसी समय के आसपास की अपनी एक और कविता 'मुझे क्षमा करो' (1985) में वे लिखते हैं–

मैं जीवन भर बेवजह झूठ बोलता रहा
अपने विवेक के विरूद्ध किया
स्वयं पर भरोसा न कर, औरों के आगे गिडगिड़ाता रहा
मैं खुद को एक गिरा हुआ आदमी
मानता हूँ
मैं बौनों के कन्धों पर चढ़कर
महान नहीं होना चाहता
मित्रों,
मैं महानों के चरणों पर गिरकर कहना चाहता हूँ -
मैं अधम हूँ
मुझे क्षमा करो।

और 18 सितम्बर 1985 अर्थात अपने आखिरी जन्मदिन की ड़ायरी में वे लिखते हैं:

आज मेरा जन्मदिन है।
मन आत्मग्लानि से भरा हुआ है।
इन तमाम वर्षों में मैने क्या किया?
मिथ्या, चाटुकारिता, अहं, दर्प
छल, आत्मछल, आकांक्षा, लोभ,
वैभव, प्रदर्शन, आत्मप्रदर्शन, प्रतिद्वन्द्विता
शत्रुता, आत्मरति
नाटकीय जीवन जिया।
मैं अपने अंदर बैठा हुआ एक
पिशाच हूँ
अन्यायी
अत्याचारी
रोगग्रस्त

भोगग्रस्त
ईश्वर मुझे शक्ति दो, इस छद्म और
छल से उबरने की।
फिलहाल स्वयं को धिक्कार ही सकता हूँ
आगे की सोचो-
'काबे, किस मुँह से जाओगे, गालिब?

यह निर्भीक आत्मभर्त्सना किसी कवि को छोटा नहीं, बड़ा बनाती है और उसे नैतिक शक्ति देती है कि वह दूसरे को भी कठघरे में खड़ा करके जिरह कर सके। **मगध** की कविताओं में समूची व्यवस्था कठघरे में है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह एक चौखटा है जिसके बीच श्रीकान्त वर्मा के 'मगध' का साम्राज्य फैला हुआ है।

इतिहास और सृजनात्मक कृति में अन्तर होता है, जैसे यथार्थ और रचना में। कहा गया है कि इतिहास में तिथियों और घटनाओं के अतिरिक्त बाकी सब झूठ होता है जबकि साहित्य में तिथियों और घटनाओं के अतिरिक्त बाकी सब सच होता है। यही स्थिति यथार्थ और रचना की है। रचनाकार यथार्थ को प्रस्तुत नहीं करता बल्कि यथार्थ को रचता है, निर्मित करता है। रचना अनुकृति नहीं, कृति होती है। ऊपर से बहुत काल्पनिक दिखते हुए भी अपने भीतर वह भयानक सच छिपाये होती है। कभी कभी सच कल्पना से ज़्यादा अजनबी होता है-'ट्रुथ इज स्ट्रेन्जर दैन फिक्शन'। श्रीकांत वर्मा का **मगध** पढ़ते हुए इन बातों की ओर खासतौर से ध्यान जाता है। इस संग्रह की कविताओं में अतीतकालीन इतिहास के बड़े-बड़े नाम हैं – मगध, काशी, कोसाम्बी, हस्तिनापुर, कपिलवस्तु, तक्षशिला, उज्जयिनी, अवन्ती, नालन्दा, मिथिला, मथुरा, वैशाली, श्रावस्ती, पाटलिपुत्र, चन्द्रगुप्त, अशोक, बिम्बसार, अजातशत्रु, कालिदास, शकटार, वसन्त सेना, वासवदत्ता, अम्बपाली आदि। ये महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान और इतिहासप्रसिद्ध हस्तियाँ केवल एक कौतुक हैं कवि के लिए जिनके सहारे वह शब्दक्रीड़ा करता है , जैसे किसी जौहरी की उँगलियाँ खेलती हैं रत्नों के साथ । वह फैंटेसी बुनता है बार-बार और फैंटेसी में ऊपर से देखने पर कोई तर्क नहीं दिखाई देता । कार्य-कारण संबंध टूटते से लगते हैं । कविता दिखाई पड़ने वाले यथार्थ से दूर दिखने लगती है । इन कविताओं में कवि बार-बार इतिहास प्रसिद्ध स्थानों और व्यक्तियों के बारे में संशय पैदा करता है । चाहे वह पाटलिपुत्र हो या अमरावती, हस्तिनापुर हो या कोसाम्बी या मगध-सबके बारे में संशय है । चाहे वह रोहिताश्व का शव हो या अशोक का या

चन्द्रगुप्त या बिम्बसार या अजातशत्रु का–किसी की ठीक-ठीक शिनाख्त नहीं है। जाहिर है कवि के लिए ये स्थान और व्यक्ति नगण्य हैं। इतिहास केवल बहाना है उसके लिए। सच हैं केवल त्रासदियाँ और मनोवृत्तियाँ जो आज भी सच हैं। जिसे पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते थे–मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। जीवनधारा और इतिहासधारा के बीच अप्रतिहत, प्रवाहित, गूँजती हुई।

मगध की कविताओं में कवि काल में लम्बी यात्राएँ करता है मगर अतीत के गलियारों में भटकती ये कविताएँ अपने जीवित वर्तमान का साक्ष्य पेश करती हैं। **मगध** एक जीवित वर्तमान का नाम है:

वर्तमान को झेल सकना
दिन-ब-दिन
कठिन होता जा रहा है,
मैं अपने बचपन में
जवानी के दिनों में
अतीत में
वापस लौट जाना
चाहता हूँ।

मगध एक विराट ध्वंस का नाम है:

क्या चाहते हो?
पाने को सिर्फ कपिलवस्तु ही नहीं है
किसके लिए व्यग्र हो?
विन्ध्याचल पार कभी
दक्षिण गये हो?
लंका जल रही है।
उत्तर को लौटो
हस्तिनापुर की विधवाओं का विलाप सुन
छाती फटती है?
श्रावस्ती, उज्जयिनी, कोसल
कहीं भी जाओगे

टूटी हुई सीढ़ियों पर
बैठी हुई विधवाएँ
पाओगे–
या सिर्फ सन्नाटा जिसमें सिर्फ़ बरगद उगता है,
फैलता है, बूढ़ा होता है–
दाढ़ी पर हाथ फेर,
कपिलवस्तु, कपिलवस्तु जपता है।

–छीना झपटी

महाराज बधाई हो–कोई नहीं रहा–
किसी को नहीं बख्शा काल ने
श्रावस्ती की कोख उजड़
चुकी,
कोसाम्बी विधवा की तरह
सिर मुंड़ाए खड़ी है
कपिलवस्तु फटी–फटी
आँख से
सिर्फ देख रहा है
अवन्ती
निर्वसन है
काशी में शवों का हिसाब हो
रहा है
और मगध में?
मगध में सन्नाटा है
क्षमा करें महाराज
आप नहीं समझेंगें
यह
कैसा सन्नाटा है।

–मगध में सन्नाटा

राज व्यवस्था पर इतना गहरा व्यंग्य, शालीन और गंभीर व्यंग्य, शांत समुद्र के भीतरी

उद्वेलन जैसा व्यंग्य कम मिलेगा। अतीत के महत्वपूर्ण स्थानों और व्यक्तियों का, समकालीन राजनीति की विडंबना को उजागर करने के लिए, इतना कुशल सांकेतिक इस्तेमाल कम हुआ है। ढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व के गणराज्यों में आज के लोकतंत्र की झाँकी सचमुच एक भयावह कल्पना है।

विजय और हत्या, धर्म और युद्ध, शासन और आतंक, विलाप और पराजय का यह अद्‌भुत चित्रपट है:

यह भी कोई बात हुई
कि समग्र मिथिला में
एक भी कवि नहीं
कि समूचे गणराज्य में
कोई मूर्तिकार नहीं
कि सम्पूर्ण है मिथिला
कोई गायक नहीं
राजन !
गायकों के
होने न होने से
फ़र्क नहीं पड़ता
फ़र्क पड़ता है सम्पत्ति से
सेना से, मंत्रिपरिषद से
× × ×
मौर्य अपशकुन नहीं
देखते
मौर्यों को/विजय से/वास्ता है
तक्षशिला और नालन्दा के बीच
मौर्य हैं/और/रास्ता है
× × ×
कोई टोंकता तक नहीं/इस डर से/कि मगध में
टोंकने का/रिवाज़ न बन जाय/
एक बार शुरू होने पर/कहीं नहीं रूकता हस्तक्षेप
वैसे तो मगध वासियों/कितना भी कतराओ

तुम बच नहीं सकते हस्तक्षेप से
जब कोई नहीं करता/तब नगर के बीच से गुजरता हुआ
मुर्दा/यह प्रश्न कर हस्तक्षेप करता है
मनुष्य क्यों मरता है?

× × ×

मगध में शोर है कि मगध में शासक नहीं रहे
जो थे वे मदिरा, प्रमाद और आलस्य के कारण
इस लायक/नहीं रहे कि उन्हें हम/मगध का शासक कह सकें
लगभग यही शोर है/अवन्ती में/यही कोसल में
यही विदर्भ में/कि शासक नहीं रहे

मगध मनुष्य का वह गौरवमय अतीत है जिसे वह गँवा चुका है। वह एक आकांक्षा है, एक ज़रूरत जिसे वह खोज रहा है :

सुनो भई-घुडसवार, मगध किधर है
मगध से/आया हूँ/मगध/मुझे जाना है....
तुम भी तो मगध को ढूँढ रहे हो/बन्धुओं
यह वह मगध नहीं/तुमने जिसे पढ़ा है
किताबों में/यह वह मगध है/जिसे तुम
मेरी तरह गँवा/चुके हो

मगध की कविताओं में इतिहास के बड़े-बड़े नाम हैं लेकिन मामूली आदमी हर जगह उपस्थित है। वह आदमी जो फैसले नहीं लेता, सभा नहीं बुलाता, केवल सिर हिलाता है। जो कुछ भी नहीं कहता, केवल सहमा रहता है और कहने के नाम पर केवल इतना ही कहता है कि वह सुखी है:

यहाँ के लोगों का कहना है कि
यहाँ के लोगों की यही तो विशेषता है
वे जन्म लेते हैं, चहचहाते हैं/आँखें लड़ाते हैं।
चौपड़ बिछाते/जब तक वे लिप्त हों
कैसी विडम्बना है मित्र/जब तक वे लिप्त हों
तब तक अवधि समाप्त.....

क्या कारण है कि **मगध** की लगभग सभी कविताओं में 'प्रजा' बार-बार आती है। सारी कविताएँ उसी को संबोधित होती हैं। संग्रह की पहली ही कविता 'नान्दी पाठ' में कवि कहता है:

गुणगाहक! गुणसागर! गुणनिधान
बहुत वर्षों बाद/मैं आपके दरवाज़े आया हूँ
सुनिये यजमान/जन्म जन्मान्तरों की कथायें
नगरों-नागरिकों की व्यथाएँ/लाया हूँ

मगध के जन्म जन्मांतरों की कथा में नगरों-नागरिकों की व्यथा छिपी हुई है

युद्ध हुआ तो मुझको ही मारा जाना है
नहीं हुआ तो मुझको ही मारा जाना है
उस युग में मुझको कहते थे अश्वत्थामा
क्या कहते हैं अब जब सब कुछ बदल गया है
अश्वत्थामा ट्रक के नीचे कुचल गया है।
× × ×
अब कैसा धर्मयुद्ध, निहत्थों पर जिसमें
हथियार नहीं उठेगा?
तब किस पर उठेगा हथियार!
निहत्थों पर उठने के लिए ही
बने हैं हथियार।

9 जनवरी, 1986 की डायरी में श्रीकान्त जी लिखते हैं, "असंख्य शव । बहते हुए शव, दहकते हुए अंगारों की तृष्णा शांत करते हुए शव,भीड़ को चीर कर गुज़रते हुए शव, न जाने कहाँ से लाठी टेकते, हाँफते, रूक रूक कर चलते हुए शव, शव के नाम पर छलते हुए शव, मणिकर्णिका का पता पूछते शव, मणिकर्णिका से डर कर छटपटाते हुए शव। मैने शव को न जाने कितने रूपों में देखा है, कल्पनाएँ की हैं।'' और अब देखिए, उनकी अत्यन्त मार्मिक कविता 'रोहिताश्व' ।जिसको पढ़ते हुए हर संवेदनशील आदमी एक रोहिताश्व में बदल जाता है:

जब भी मणिकर्णिका जाओगे/एक वृद्ध को
कोने में दुबका हुआ पाओगे

तुम्हें देख/उसकी आँखों में/कुछ कौंधेगा
वह रोहिताश्व, रोहिताश्व/बिसूरता
तुमसे लिपट जायेगा
तब क्या करोगे?
यही न:
मैं रोहिताश्व नहीं हूँ /मैं सचमुच/रोहिताश्व/नहीं हूँ।
मगर तुम उस वृद्ध को/कैसे/विश्वास दिलाओगे
कि तुम/रोहिताश्व नहीं हो.....
जिसका रोहिताश्व/मारा गया हो
क्या तुम उसे/विश्वास दिला सकते हो
कि तुम रोहिताश्व नहीं हो?

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, **मगध** की कविताओं में गहरा मृत्युबोध है, और यह भी कहना चाहूँगा कि मृत्यु भी कविता के बुनियादी सरोकारों में से एक है।

मगध की आख़िरी कविता है–'दीवार पर नाम'। कविता इस प्रकार है:

जब मैं किशोर था/जहाँ भी मिली/कोई कोरी दीवार
खड़िया से/लिख देता मैं अपना नाम/दूसरे दिन पाता
मिटा दिया किसी ने/इस तरह जैसे लिखा ही न था
तब मैं कड़कता कौन?/उत्तर मिलता/सोमदत्त
मैं बूढ़ा हो चुका हूँ/जब भी मिलती है/कोई कोरी
दीवार/खड़िया से/लिख देता हूँ/अपना नाम
दूसरे दिन पाता हूँ/मिटा दिया किसी ने इस तरह
जैसे लिखा ही न था/अब जब कड़कता हूँ/कौन?
उत्तर मिलता है **काल**

यह 'काल' **मगध** की कविताओं में एक बड़ी चुनौती की तरह कवि के सामने है। जैसे 'काल' हमेशा से कलाओं के सामने एक चुनौती की तरह रहा है। इस मरणधर्मा संसार में कलाकार अपने रचनात्मक कर्म के द्वारा ही काल का अतिक्रमण करना चाहता है। वही एक मात्र बचाव का हथियार है विनाश के खिलाफ़।

मगध की कविताओं में कवि इतिहास के मशहूर नामों को स्मरण करता हुआ उनकी नश्वरता को, उनकी निस्सारता को पहचानता है। इतिहास की बड़ी-बड़ी हस्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। एक समय के वैभवशाली गणराज्य अपनी नियति को प्राप्त कर चुके हैं। उज्जयिनी, मगध, काशी, सब की एक ही स्थिति है:

मिथिला को ही लीजिए/कल की बात है/राज्य
करते थे विदेह/उसी मिथिला में/शासन करता है
सन्देह/किसी को धर्म का डर नहीं/विश्वामित्र,
वशिष्ठ/कोई नहीं रहा/महाराज! सभी नश्वर हैं
कोई अमर नहीं

कवि महसूस कर रहा है कि तक्षशिला में कुछ नहीं बचा है। उज्जयिनी में कस्तूरी सी जो बसी हुई थी गणिका, उसकी कोई शिनाख्त नहीं है। पाटलिपुत्र एक किवदंती है। अमरावती अब वह अमरावती नहीं रह गयी है। आम्रपाली सिर्फ़ एक प्रसंग है। वसन्तसेना सीढियाँ चढ़ रही है। वह युवा है। कवि जानता है कि सीढियाँ समाप्त नहीं होतीं। उन्नति की हों अथवा अवनति की। बालू पर किसी के पगचिन्ह का निशान नहीं टिकता। जिसके हाथों में सबकी बागडोर रही है एक समय के बाद वह किसी के इशारे पर अनुगमन करता दिखता है। समय एक बड़ी सच्चाई है, जिसे 'काल' कहते हैं:

मालती/कल यह नहीं होगा/पीब में/भरे होंगे
स्तन/जंघाएँ/स्मारकों की तरह/टूटी पडी होंगी....
सूख चुकी होगी/सुख की नदी....
शव को नदी से निकाल/छोड़ जाते हैं लोग/घाट पर
और कहते हैं/यह रहा काल।

× × ×

क्यों कराह रहे हो?/कोई उपचार तुम्हें मणिकर्णिका से
नहीं बचा सकता/क्यों भूलने की कोशिश कर रहे हो?
कोई भी विस्मृति/यथार्थ पर पर्दा नहीं डाल सकती....
मणिकर्णिका के नीचे/मणिकर्णिका/मिलेगी
और उसके भी नीचे/मणिकर्णिका

10 जनवरी, 1986 की डायरी में श्रीकांत जी लिखते हैं, "मगर जरा और चलो। तुम्हें मिलेगी मणिकर्णिका जहाँ मुर्दे फूँके जा रहे होंगें। और दो नहीं शायद तीन हज़ार साल से यहीं फूँके जा रहे हैं। क्या याद दिलायेगी वह तुम्हें? यही कि कुछ भी स्थायी नहीं। भाइयों, कुछ भी टिकाऊ नहीं, अमर नहीं, अजर नहीं। सबक लो, सीखो, सिर झुकाओ, महाकाल के आगे।" श्रीकांत जी की कविताओं-खासकर उनकी परवर्ती कविताओं और डायरियों में जो एक प्रकार की निस्संग तटस्थता और एक अवसाद है उसका कारण यही मृत्युबोध है। यह बोध किसी कवि या कविता की कमज़ोरी नहीं है बल्कि उसे अतिरिक्त रचनात्मक ऊर्जा देने वाली है। वर्तमान का ध्वंस श्रीकांत जी को अतीत के खंडहरों की ओर ले जाता है पर इसमें उनका कालबोध भी कम प्रेरक नहीं होता। एक सिरे पर काल है तभी दूसरे सिरे पर मनुष्य की सार्थकता का सवाल है। एक ओर वर्तमान का ध्वंस है तभी दूसरी ओर अतीत की कल्पना और पश्चाताप :

ओगो सुदूर विपुल सुदूर
तुमि ये बाजाओ व्याकुल बाँसरी
मोर आना नाई, आछि एक ठाई
से कथा ये माई पाँसरि।

श्रीकान्त वर्मा के **मगध** की कविताओं की मनोभूमि गंभीर, चिंतन की मनोभूमि है। शांत, स्थिर ! जैसे किसी ने काफी कुछ गँवाने के बाद आत्ममंथन किया हो। इन कविताओं में व्यंग्य, विडम्बना है, वक्रोक्ति है, मगर तेवर आक्रामक नहीं है। ऊपर की हलचल नहीं है। गहराई की शांति है। क्रांति का हुहुमाता माहौल नहीं है। विनयशीलता है। इन कविताओं में पछतावा है मगर शहादत, उत्सर्ग या आत्मपीड़न के अंदाज में नहीं। कवि प्रदर्शन नहीं करना चाहता, रचता है:

चाहता तो बच सकता था/मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा/कैसे रचेगा
पहले मैं झुलसा/फिर धधका/चिटखने लगा
कराह सकता था/मगर कैसे कराह सकता था
जो कराहेगा/कैसे निबाहेगा
न यह शहादत थी/न यह उत्सर्ग था/न यह
आत्मपीड़न था/न यह सजा थी/तब क्या था यह
किसी के मत्थे मढ़ सकता था/मगर कैसे मढ़
सकता था/जो मढ़ेगा कैसे गढ़ेगा

कवि का अन्दाज़ इतना सहज है कि कहीं भी सम्प्रेषण का संकट नहीं पैदा होता। अनुभव का मंथन इतना प्रौढ़ और पूर्ण है कि काव्य भाषा अत्यन्त सहज हो गई है। कवि जिस शैली का सहारा लेता है वह संबोधन और वार्तालाप की है। संग्रह की हर कविता में कवि सामने उपस्थित है। वह प्रश्न पूछ रहा है, उत्तर दे रहा है, संशय व्यक्त कर रहा है, समाधान माँग रहा है। कहीं कहीं वह व्यास की भाषा में भी बोलने लगता है:

मैं फिर कहता हूँ/धर्म नहीं रहेगा, तो कुछ नहीं
रहेगा/मगर मेरी कोई नहीं सुनता/हस्तिनापुर में
सुनने का रिवाज़ नहीं

श्रीकांत जी के **मगध** के विरोध में बहुत कुछ कहा जा सकता है, लेकिन कविता के ढाँचे के भीतर और आलोचना के दायरे में आपत्तियों की गुंजाइश बहुत ज्यादा नहीं होती। एक बात तो यह कि **मगध** का कवि बार बार एक ही बात को इस तरह कहता है जैसे वह निश्चयपूर्वक न कही जा रही हो। कवि बार बार रास्ते की बात करता है। 'आवागमन' शीर्षक एक कविता ही है उसकी। इसका मनोविज्ञान चाहे जो हो लेकिन इतना स्पष्ट है कि वह बार-बार सन्देह और अनिश्चय की स्थितियाँ पैदा करता है। वह बार बार कहता है कि यह रास्ता अमुक जगह नहीं जाता। वह बार बार कहता है कि यह अमुक स्थान नहीं है। एक ही चीज़ को वह सार्थक भी कहता है निरर्थक भी, उन्नति भी कहता है, अवनति भी। बार बार कहता है कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता:

उज्जयिनी जाने को इच्छुक यात्रियों से निवेदन है
यह रास्ता उज्जयिनी को नहीं जाता/और यह कि
यही रास्ता उज्जयिनी को जाता है

× × ×

आधे मानते हैं, आधा/होना उतना ही/सार्थक है,
जितना पूरा होना/आधों का दावा है, उतना ही
निरर्थक है पूरा/होना, जितना आधा होना

× × ×

सुखी है आम्रपाली कि हरेक/उसे जानता है/
दुखी है आम्रपाली कि कोई/उसे नहीं जानता/

यह द्विविधा की मन:स्थिति कवि की कविताओं में बराबर बनी रहती है। यह कवि की प्रचलित शैली है जो उसकी इन कविताओं में रूढ़ि बन गई है। उसकी नाटकीयता, उसकी वक्रोक्ति, उसके व्यंग्य सब एक रूढ़ि की तरह बार बार इस्तेमाल होते हैं। एक ही तरह की, एक ही भावभूमि की ये कविताएँ एकरसता पैदा करती हैं क्या यह आज की व्यवस्था और जीवन की प्रतिच्छवि है? एक अनिश्चय और पहेली और भुलभुलैया में डालने वाली ये कविताएँ क्या आज की राजनीति, व्यवस्था और आज के प्रजा-मन का बिम्ब प्रस्तुत करती हैं? इतिहास का छद्म प्रस्तुत करने वाली इन कविताओं की लय क्या इतिहास के छद्म जैसी ही नहीं है?

31 दिसम्बर 1984 की डायरी में श्रीकान्त जी लिखते हैं, "मेरी कविताएँ भी तो स्वप्न और स्वप्नसंग का एक अजीबोगरीब, एक नाटकीय, एक जादुई मिलन है।" दरअसल गंभीर राजनीतिक आशयों वाली, लोक और तंत्र की विडम्बनाओं को उद्घाटित करने वाली श्रीकांत वर्मा के मगध की कविताएँ स्वप्न और स्वप्नसंग का एक जादुई मिलन है। एक मिथक और यथार्थ का नाम है 'मगध'। मृत्यु और जीवन, सत्ता और अतीत के द्वन्द्व का नाम है 'मगध'। 'मगध' कोई एक कविता या कोई एक कविता संग्रह नहीं है बल्कि एक कवि के परवर्ती मन की मुकम्मल बनावट का नाम है 'मगध'।

1. गरूड किसने देखा है पृ. 88
2. दस्तावेज-31/32 पृ. 27
3. दिनमान, 21 अक्तूबर 73 पृ. 11
4. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 84
5. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 86
6. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 104
7. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 117
8. गरूड़ किसने देखा है, पृ. 118

10- अदम्य सजेनात्मक ऊजा

नेमिचन्द्र जैन

युवा कवि धूमिल की असामयिक मौत हिन्दी कविता की रचना-जगत के लिए एक बड़ी दुखद दुर्घटना है। एक ऐसी आवाज़ अचानक थम गयी जिसने पहले ही हल्ले में अपनी ताकत और विशिष्ट व्यक्तित्व से समकालीन कविता-लेखन में अलग पहचान पैदा कर ली थी। अभी उनकी काव्य-यात्रा की शुरूआत ही हुई थी और उनकी प्रतिभा और उसकी बैचेनी को देखते हुए उनसे और बहुत आगे जाने की आशा की जाती थी। धूमिल का बस एक ही संग्रह 1972 में प्रकाशित हुआ **संसद से सड़क तक**, जिसमें छोटी-बड़ी पच्चीस कविताएँ हैं। उसके बाद कुछेक ही कविताएँ इधर-उधर पत्रिकाओं में दिखाई पड़ी हैं : **कविता के भ्रम में** (लहर, जुलाई 70), **कविता श्रीकाकुलम** (आवेग 8, नवंबर 71), **मुक्ति का रास्ता, गुफ्तगू** (सर्वनाम, जून-जुलाई 73), **प्रस्ताव, खून का हिसाब** (पुरूष-1 मई 74), **शब्द जहाँ' सक्रिय हैं** (वाम-3 अगस्त 74), **नींद के बाद** (युवा, अक्तूबर 74) और **वापसी, नौजवान, रोटी और संसद** (दिनमान 23-2-75-विचार मंच, मिर्जापुर से उद्धृत)। मगर इतनी कम रचनाओं की बुनियाद पर भी उनकी रचनात्मक प्रतिभा की एक बड़ी अविस्मरणीय छाप समकालीन हिन्दी कविताओं और उसके पाठकों पर मौजूद है। इसलिए उनकी कविताओं के इस असर के स्रोतों की जाँच-पड़ताल, एक दिवंगत कवि को श्रद्धांजलि के लिए ही नहीं, उनके कृतित्व के माध्यम से समकालीन कविता के मिजाज के एक खास तेवर को पहचानने के लिए भी ज़रूरी है।

धूमिल की कविता आज़ादी के बाद होश सम्हालने वाले एक संवेदनशील नौजवान की अपने देश और समाज और उसमें आदमी की विसंगतिपूर्ण हालत को समझने-पहचानने की कोशिश को ज़ाहिर करती है। यह कोशिश उसे एक ओर दहशत से और दूसरी ओर खीझ, छटपटाहट और गुस्से से भर देती है। **संसद से सड़क तक** में, और बाद में प्रकाशित कविताओं में भी, इस कोशिश से गुज़रने की प्रक्रिया, अनुभव और अभिव्यक्ति के कई रूपों और पर्तों में दिखाई पड़ती है। इस अनुभव का प्रारंभिक दौर शायद एक तलाश का, अपने चारों ओर की हालत को देखकर उठने वाले सवालों का है: 'क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है/जिन्हें एक पहिया ढोता है/या इसका कोई खास मतलब होता है?' (**बीस साल बाद**)। मगर जल्दी ही ऐसे सवालों के उत्तर के बारे में कोई भ्रम नहीं रहता: 'उस मुहाविरे को समझ गया हूँ/जो आजादी और गांधी के नाम पर चल रहा है/जिससे न भूख मिट रही है न मौसम/बदल रहा है/' (**अकालदर्शन**)। इस समझ में धीरे-धीरे

कड़वाहट घुलने लगती है और जहाँ कभी सरकटे मुर्ग की तरह फड़कते हुए जनतंत्र में सुबह' 'सिर्फ चमकते हुए रंगों की चाल बाजी' लगती थी, वहाँ जल्दी ही यह जाहिर हो जाता है कि 'अपने यहाँ जनतंत्र/एक ऐसा तमाशा है/जिसकी जान मदारी की भाषा है।' (**पटकथा**) और फिर असलियत का यह तीखा दहशत भरा अहसास: 'एक चमकदार गोल शब्द/'-जनतंत्र'/जिसकी रोज़ सैकड़ों बार हत्या होती है/और हर बार/वह भेड़ियों की जुबान पर ज़िन्दा है।' (**शहर में सूर्यास्त**)। ऐसे जनतंत्र में देशभक्ति एक धोखा है: 'रोटी के टुकड़े पर/किसी भी भाषा में देश का नाम लिख कर/खिला देने से/कोई देशभक्त नहीं होता है।' (**भाषा की रात**)। इसी कारण यह गुस्से भरी खीझ कि 'इस देश की मिट्टी में/अपने जांगर का सुख तलाशना/अंधी लडकी की आँखों में/उससे सहवास का सुख तलाशना है।' (**पतझड़**)।

इस प्रकार धूमिल की कविता अपने देश में फैले हुए व्यापक भ्रष्टाचार, ढोंग, पाखंड और आपाधापी, खासकर सत्ताधारी 'सुराजियों' के धोखे के प्रति तीखा असंतोष और आक्रोश जाहिर करती है। उसमें आम तौर पर इस स्थिति के लिए जिम्मेदार व्यक्तियो और वर्गों के प्रति नफरत और गुस्सा है और उसके शिकार होने वालों के लिए हमदर्दी, बल्कि उनके साथ तादात्मय भी। वह एक ऐसे संवेदनशील कवि के मन की यातना को सूचित करती है जो आत्मलीन नहीं है, जिसका भावतंत्र अपने चारों ओर की ज़िन्दगी के प्रति खुला और जागरूक है और इसीलिए उसकी करवटों और बेचैनी की कई लहरों को अंकित करता है। धूमिल की इन आवेगपूर्ण प्रतिक्रियाओं में सहज स्वत: स्फूर्तता है और किसी पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तवादी कट्टरता का आभास उनसे नहीं होता। ज्यादातर कविताओं में स्वर की उग्रता और तल्खी के बावजूद जुझारू अंदाज बहुत नहीं है, बल्कि बीच-बीच में एक तरह की निराशा भी कवि को घेर लेती है।

आवेग के उतार-चढ़ाव का एक दिलचस्प रूप धूमिल की महत्वपूर्ण लम्बी कविता **पटकथा** में मिलता है जिसमें काव्य-नायक 'मैं' की सपने में एक 'हमशक्ल' से भेंट होती है जो और कोई नहीं हिन्दुस्तान है। स्वप्न और जागृति की इस बुनावट और कविता में अनुभव के खास ढंग के फैलाव से मुक्तिबोध की फंतासियों की याद आती है, पर शायद शिल्प के अलावा अनुभव का रूप और उसको व्यक्त करने वाला भाषाई मुहाविरा धूमिल का अपना है।

पटकथा आज के हिन्दुस्तान में एक नौजवान कवि की अपने देश को और उसमें अपने आपको पहचानने की यात्रा-कथा है। शुरू में कवि 'संस्कार के/वर्जित इलाकों में/अपनी

आदतों का शिकार/होने से पहले ही/बाहर चला आता है जहाँ 'हवा थी/धूप थी/घास थी/मैंने कहा आजादी-'। और फिर वहाँ 'इस तरह जो था उसे मैने/जी भर कर प्यार किया/और जो नहीं था/उसका इंतजार किया/' और 'मैं इंतज़ार करता रहा/-खुद को-समझाता रहा जो मैं चाहता हूँ-/वही होगा। होगा-आज नहीं तो कल/मगर सब कुछ सही होगा'। इस मासूम विश्वास को तो एक दिन टूटना ही था। 'मगर एक दिन मैं स्तब्ध रह गया/यह मेरा देश है/और यह मेरे देश की जनता है/जनता क्या है?/-मैं खोयी हुई आज़ादी का अर्थ ढूँढता रहा/-मगर फिर मैं वहीं चला गया/अपने जुनून के अँधेरे में', इस अहसास के साथ कि 'उन्होंने किसी चीज को/सही जगह नहीं रहने दिया है। 'उस उलझनों के अँधेरे में' उसे दीखा कि एक 'हमशक्ल खड़ा है/-तुमने पहचाना नहीं-मैं हिन्दुस्तान हूँ/' और वह कहता है, 'सुनो! तुम चाहे जिसे चुनो/मगर इसे नहीं/इसे बदलो/-मैं पूरी तत्परता से उसे सुन रहा था-मैं खुद को कुरेद रहा था/-अचानक, उसने मेरा हाथ पकड़ कर/खींच लिया और मैं/-धड़ाम से-गड़गच्च अँधेरे में गिर पड़ा/नींद के भीतर यह दूसरी नींद/-तभी किसी/ने उसे मेरी ओर उछाल दिया/और मेरा हमशक्ल/मेरे पैरों के पास/मूर्च्छित-सा/पड़ा था'-उसने कहा, 'तुम मेरी चिन्ता मत करो/उनके साथ/चलो। इससे पहले कि वे/गलत हाथों के हथियार हों/-तब से आज तक/-मैने कई रातें जाग कर गुज़ार दी हैं/-अपनी परेशानी के निर्मम अकेले और बेहद अनमने क्षण जिये हैं/और हर बार मुझे लगा है कि कहीं/कोई खास फर्क नहीं है/ज़िन्दगी उसी पुराने ढर्रे पर चल रही है/जिसके पीछे कोई तर्क नहीं है/-हर तरफ/शब्द-भेदी सन्नाटा है/-घृणा में/डूबा हुआ सारा का सारा देश/पहले की ही तरह आज भी/मेरा कारागार है।

देश की और अपनी ऐसी बेरहम तस्वीर इतनी बेबाकी से उतार सकना एक समर्थ सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा ही संभव है, और उचित ही यह कविता धूमिल को समकालीन कवियों में एक अलग, खास और ऊँचा दर्जा देती है। **पटकथा** शायद पिछले दस-पंद्रह बरस की कविताओं में एकदम बेजोड़ है। उसमें एक ऐसे कवि का आत्म-साक्षात्कार है जो समाज से बहुत-से सूत्रों से जुड़ा है और उसकी हलचल, कशमकश और यातना का सहभागी है, उसके बदले जाने और बदलने के काम में हिस्सा लेता है और उसे कविता का जरूरी धर्म मानता है, मगर फिर भी जो अपने अनुभव को किसी चालू या परिचित नारे की बजाय एक सर्वथा निजी मुहावरे में व्यक्त करता है।

जिन्दगी का ऐसा डरावना अहसास दूसरी कविताओं में भी है। 'किस तरह मकानों की आड़ में/छिपे हुए मकान/दरवाजों में चाकू छिपाकर/आदमी का इंतज़ार कर रहे हैं।'

(**मकान**)। यह किसी सरलीकृत रोमेंटिक आशावाद से सहलाने वाली भाषा नहीं है बल्कि बड़ी सख्ती के साथ सच्चाई के सामने ढकेलने वाली भाषा है। 'सच्चाई / हमें अक्सर अपराध की सीमा/पर छोड़ जाती है।' (**सच्ची बात**) धूमिल की कविता एक नये ढंग से आदमी को अपने जमाने के बारे में खबरदार करती है और इसीलिए आने वाली या मौजूद लड़ाई के लिए तैयार भी करती है। 'तुम वापस चले जाओ/हत्यारी संभावनाओं के नीचे/सहनशीलता का नाम/आज भी हथियारों की सूची में नहीं है/रात खत्म हो चुकी है/और वह सुरक्षित नहीं है जिसका नाम हत्यारों की सूची में नहीं हैं।' (**हत्यारी संभावनाओं के नीचे**)।

धूमिल समकालीन काव्य-दृश्य के उन इक्का-दुक्का कवियों में से थे जो किसी हद तक अपने अनुभव का अतिक्रमण करके ज़िंदगी के अन्तर्विरोधों से उत्पन्न विसंगतियों को आवेगपूर्ण तल्खी के साथ-साथ एक बड़े संदर्भ से जोड़ पाते थे। मगर ऐसा अक्सर नहीं होता। ज्यादातर उनकी कविता में स्थिति की हैवानियत का तीखा अहसास व्यापक और गहरे असंतोष और आम परिवर्तन की चाह को तो सूचित करता है, क्रांतिकारी परिवर्तन की संभावना या उसकी किसी शक्ल की कोई साफ चेतना उनमें नहीं मिलती; इसी से इन कविताओं को पढ़कर मन बहुत बेचैनी, कड़वाहट और गुस्से से भर जाता है, पर हालत को बदलने का कोई रास्ता है, उसे बदलने के कोई सार्थक विश्वसनीय प्रयत्न जारी हैं या नहीं, बदलने वाली ताकतें कौन-सी हैं, कैसी हैं, या बदलकर दुनिया की कौन-सी कैसी तस्वीर बनेगी, इसके कोई रूप, संकेत या व्यंजना भी उनकी कविताओं में खास नहीं मिलती। एकमात्र **प्रौढ़ शिक्षा** में ही शायद बदलने की कुछ बात है: 'बदलो-अपने आपको बदलो यह दुनिया बदल रही है/और यह रात है, सिर्फ रात-/इसका स्वागत करो/यह तुम्हें/शब्दों के नये परिचय की ओर लेकर/चल रही है।' मगर ये पंक्तियाँ उद्‌बोधन की सुपरिचित मुद्रा में हैं और कुछ खास नहीं सम्प्रेषित करतीं। धूमिल की कविता का मुख्य स्वर 'भंडाफोड़' और उससे पैदा होने वाली नफ़रत का ही है, बल्कि कई बार एक तरह की मायूसी या कम से कम बेबसी भरी उदासी बीच-बीच में ज़ाहिर होती है। **पटकथा** की अंतिम पंक्तियाँ 'घृणा में/डूबा हुआ सारा का सारा देश/पहले की ही तरह आज भी/मेरा कारागार है।' तो इस बात को बड़ी तीव्रता से रेखांकित करती ही हैं; दूसरी कविताओं में भी यह स्वर मौजूद है: 'क्रांति यहाँ के असंग लोगों के लिए/किसी अबोध बच्चे के/हाथों की जूजी है।' (**अकालदर्शन**)।

इस संदर्भ में यह बात ध्यान देने की है कि दुनिया के बेहद मक्कार, धोखेबाज, विसंगतिपूर्ण होने का अनुभव, उसके पूरी तरह लाइलाज और समस्त मानवीय प्रयास के व्यर्थ और

आत्मवंचनापूर्ण होने के एब्सर्डवादी निष्कर्ष तक भी ले जाता है। ऐसा निष्कर्ष परिवर्तन को बेकार और असंभव दोनों सिद्ध कर देता है। किसी क्रांतिकारी अथवा सामाजिक परिवर्तन की संभावना में आस्था रखने वाले रचनाकार का यह मकसद नहीं हो सकता। दरअसल आज का संवेदनशील रचनाकार जिन्दगी के एक बुनियादी अन्तर्विरोध का बड़ी तीव्रता से साक्षात्कार करने के लिए लगातार मजबूर होता है। एक ओर आज के समाज में सारे इंसानी मूल्यों के गड़मड़ हो जाने और ज़िन्दगी के लगभग बेमानीपन के कगार पर पहुँच जाने का अनुभव है जिसकी यातना में से गुज़रे बिना कोई रचनाकार किसी विश्वसनीय या प्रासंगिक रचना-संसार की सृष्टि नहीं कर सकता। उससे आँख बंद करके, उसे झुठलाकर, केवल इच्छित कल्पना-लोक की रचना हो सकती है, समाज के बदलने के कठिन और यातना भरे संघर्ष को न तो समझा जा सकता है और न उसके लिए दूसरों को तैयार किया जा सकता है। और दूसरी ओर समाज को बदलकर बेहतर, अधिक तर्कसंगत और मानवीय बनाने की जरूरत, आकांक्षा और संभावना का वजन है । उसके बिना रचना के एकदम नकारात्मक और दूसरी तरह से अप्रासांगिक होकर व्यर्थ हो जाने की संभावना है। अक्सर रचनाकार इन दोनों में कोई तालमेल नहीं बैठा पाता। धूमिल की कविता में भी समकालीन जीवन की विसंगति का अनुभव तो बड़ा तीव्र है, पर दुनिया और समाज का कोई 'विज़न' बहुत स्पष्ट नहीं मिलता।

एक तरह से यह बात उनकी कविता को एक ओर किसी झूठे या आरोपित आशावाद से, दूसरी ओर किसी वक्ती राजनैतिक कार्यक्रम की नारेबाजी से बचाती है और उनके काव्य-विवेक की सूचक भी मानी जा सकती है। पर शायद किसी हद तक यह देश में 'विरोध की राजनीति' के माहौल की उपज भी जान पड़ती है जिसमें शासकों और उनके समर्थक वर्गों तथा समुदायों के काले कारनामों को उजागर करना मात्र ही अधिकांश राजनैतिक दलों का, तथा बुद्धिजीवियों तक का, प्रमुख कार्य बन गया है। 'इस वक्त सचाई को जानना/विरोध में होना है' (मुनासिब कार्रवाई)। धूमिल की कविता में राजनीति मुख्यत: और अधिकतर इसी रूप में है और उसे सिर्फ इस सीमित अर्थ में ही राजनैतिक कविता कहा जा सकता है कि परिस्थितियों के कुछेक राजनैतिक रूपों और परिणामों का ज़िक्र उसमें अक्सर आता है। खासकर 'आज़ादी', 'जनतंत्र' जैसी अवधारणाओं का धीरे-धीरे अवमूल्यन होते जाने की बड़ी तीखी चेतना उनकी कविताओं में मिलती है। **पतझड़** में 'जनवादी मुद्रा में/शाखों पर चढ़ी हुई नकचढ़ी हवा' तथा 'समकालीनता के जनसंघी नुस्खों' का ज़िक्र है और शांति पाठ में अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर भी प्रतिक्रिया है: 'मैं देख रहा हूँ एशिया में दायें हाथों की मक्कारी ने/विस्फोटक सुरंगें बिछा दी हैं।' इससे कुछ

अधिक स्पष्ट राजनैतिक चेतना **संसद से सड़क तक** के बाद छपी एक-दो कविताओं में है। जैसे, **नींद के बाद** में: 'सोये हुए बच्चे के होंठ/हल्की हँसी से रंगे हैं/पिता की आँखों में फैसले की नमी है/और पूरब में फैली हुई लालिमा/उसके विचारों का रंग बन चुकी है।' ('युवा'-अक्तूबर 1974); या 'अपनी बैलौस आवाज़ में उसने/आखिरी बार पूरी आजादी और/नये पाठ्यक्रम की माँग की है।' - **नौजवान** दिनमान' 232-75)

संभवत: पिछले दिनों धूमिल अधिक उग्रतावादी राजनैतिक विचारधारा की ओर मुड़ते जा रहे थे। इसका कुछ अनुमान नक्सलपंथी आंदोलन के बारे में उनके बदलते हुए रूख से लगाया जा सकता है। संग्रह की कविता **नक्सलबाड़ी** नक्सलपंथियों के 'विपक्ष' में होने को सही मानते हुए भी उन्हें खास समर्थन नहीं देती। उनकी बहुचर्चित विवादास्पद रचना कविता श्रीकाकुलम भी (जो कई पत्रिकाओं में छपी) नक्सलपंथी रास्ते को ठीक मानती नहीं जान पड़ती: 'कायरता/एक खाली तमंचा फेंक कर/भाग गयी है और साहस/चंद पके हुए बालों के साथ/आगे बढ़ गया है/अंधेरे में।' इसके बारे में 'आवेग' (नवम्बर 1971) में उन्होंने लिखा भी था कि 'आततायी को अपदस्थ करने के लिए भाषा का समझ से भरपूर और कारगर हस्तक्षेप कविता में बदल जाता है।' मगर बाद की कविताओं में स्वर बदला हुआ है: 'पहली बार आत्महीनता के खिलाफ हिंसा ने पहल की है।' (प्रस्ताव- 'पुरूष', मई 1974) या 'अगवा बंदूक की निशानदेही पर/कविता ने ढूँढ लिया है अपनी मुक्ति का रास्ता/दुश्मन की छाती के खून भरे छेद से।' (**मुक्ति का रास्ता**-'सर्वनाम', जून-जुलाई 1973)। और, शब्द/जहाँ सक्रिय हैं भूख का सिलसिला/छापामार सीटियाँ बजाने लगा है। (**शब्द जहां सक्रिय हैं** - 'वाम' 3, अगस्त 1974)। धूमिल की हमदर्दी की यह दिशा अन्तत: 'विरोध' और 'भंडाफोड़' की राजनीति की बड़ी स्वाभाविक परिणति है और उनके जीवन 'विजन' की व्यापकता या सूक्ष्मता या उसकी अधिक पुष्टता को नहीं सूचित करती। उनकी तमाम या ये भी कविताएँ फिर भी अगर असर डालती हैं तो अपनी निश्छलता तथा आवेग की ऊर्जा के कारण ही।

दृष्टि के अपेक्षया इकहरेपन और आवेगात्मक ऊर्जा के तनाव की बड़ी अच्छी मिसाल उनकी बहुचर्चित कविता **मोचीराम** है। बेशक शिल्प के लिहाज से **मोचीराम** समकालीन कविता की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। पूरी कविता की बुनावट में व्यापक सामाजिक सरोकार और सर्जनात्मक कल्पनाशीलता की बड़े नये ढंग की घुलावट है। एक मोची के एकालाप द्वारा एकदम अछूते प्रकार की बिम्ब योजना और मुहावरे में कवि ने अपने समाज के कुछ अन्तर्विरोधों पर टिप्पणी की है। मोची के सामने तरह-तरह के इंसान जूतों के रूप में मरम्मत के लिए आते हैं। 'हर आदमी एक जोड़ी जूता है/जो मेरे सामने/मरम्मत

के लिए खड़ा है।' या 'जूते/और पेशे के बीच कहीं न कहीं एक अदद आदमी है।' दरअसल मोची के पेशे के तरह-तरह के औज़ारों, सामानों और उसकी भाषा के कल्पनाशील संयोजन से कविता के पूरे निर्वहण में बड़ी ताज़गी भरी लाक्षणिकता आ गयी है जो कवि के वक्तव्य को एक साथ कई स्तरों पर ध्वनित करती है: 'वसंत.....दिन को ताँत की तरह तानता है/पेड़ों पर लाल-लाल पत्तों के हजारों सुखतल्ले/धूप में, सीझने के लिए/लटकाता है/.....उस समय/राँपी की मूठ को हाथ में सँभालना/मुश्किल हो जाता है/आँख कहीं जाती है/हाथ कहीं जाता है'

मगर कुछ और सूक्ष्मता से देखें तो अन्ततः इस कविता का काव्य दो तरह के आदमियों का समक्षीकरण मात्र है जो ज्यादा-से-ज्यादा एक अस्पष्ट से वर्ग भेद को सूचित करता है। 'चकतियों की थैली' जैसे जूते को पहननेवाला जिसके चेहरे को 'चेचक ने चुग लिया/उस पर उम्मीद की तरह देती हुई हँसी है/जैसे टेलीफून के खम्भे पर/कोई पतंग फँसी है/और खड़खड़ा रही है', और दूसरा जिसके हाथ में घड़ी है/उसे कहीं जाना नहीं है/मगर चेहरे पर/बड़ी हड़बड़ी है/वह कोई बनिया है/या बिसाती है/मगर रोब ऐसा कि हिटलर का नाती है/जो घण्टे भर खटवाता है/मगर नामा देते वक्त/साफ नट जाता है।' कवि की हमदर्दी ज़ाहिर है पहले आदमी के साथ है और उसका निष्कर्ष है: 'और बाबू जी! असल बात तो यह है कि ज़िन्दा रहने के पीछे/अगर सही तर्क नहीं है/तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की/दलाली करके रोजी कमाने में/कोई फर्क नहीं है।' इस वक्तव्य का तीखापन और व्यंग्य तथा उक्ति की चमक बहुत असरदार होते हुए भी उसकी व्यंजना में कोई खास फैलाव नहीं है। शायद कविता का अधिक सार्थक अंश उसका अन्त है जहाँ मोचीराम पीछे छूट जाता है, धूमिल खुद बोलने लगते हैं, और ऐसी बात कहते हैं जो कई अर्थों में महत्वपूर्ण है : 'भविष्य गढ़ने में', 'इनकार से भरी हुई एक चीख' और 'एक समझदार चुप', 'अपनी अपनी जगह एक ही किस्म से/अपना-अपना फर्ज अदा करते हैं।' कुल मिलाकर मोचीराम जैसे अनोखे चरित-नायक के रूप में कवि की इस यात्रा में, उसे पेश करने की युक्ति और उसके पीछे भावना की ऊर्जा के कारण, कविता के शिल्प में निस्सन्देह बड़ी तराश तो आ गयी है, पर पटकथा जैसा अनुभव का फैलाव और यातना भरे आत्म-साक्षात्कार की सघनता नहीं है। अमानवीय वर्ग-भेद के प्रति कवि की तीखी प्रतिक्रिया अपने आप में मूल्यवान होते हुए भी बहुत आगे नहीं ले जाती।

धूमिल की मानसिक बनावट का एक और रूप इन कविताओं में औरत के बारे में कवि की प्रतिक्रियाओं में देखा जा सकता है। धूमिल के यहाँ रोज़-मर्रा के जाने-पहचाने औरत-मर्द के रिश्ते बहुत ही कम हैं: जैसे **अकालदर्शन** में 'मेरी माँ का चेहरा/झुर्रियों

की झोली बन गया है'; या पत्नी का उदास और पीला चेहरा/मुझे आदत सा आँकता है।' (कवि 1970); या 'बीबी! क्या बच्चे सो गये?/.....पास आओ और सुनो.....? (गुफ्तगू-'सर्वनाम' जून-जुलाई 1973)। वास्तव में ज्यादातर उनकी कविता में औरत के साथ कोई भी रिश्ता सीधे-सीधे या मुख्य अनुभव के रूप में नहीं आता। बाहरी दुनिया की विसंगतियों से जूझते हुए कवि से इसकी कोई शिकायत भी खास ज़रूरी नहीं। मगर यह बात कुछ अटपटी लगती है कि इन कविताओं में औरत का ज़िक्र बहुत जगह है, पर वह हमेशा कुछ उसी अन्दाज में हुआ है जैसा अधिक वहशी रूप में अकवितावादियों में मिलता था। 'हर लड़की/तीसरे गर्भपात के बाद/धर्मशाला हो जाती है', 'पागल और गाभिन पेट की तरह', 'गर्भ-गद्‌गद् औरतों में अजवाइन का सत और मिस्सी बाँट रहा हूँ', 'औरतें/योनि की सफलता के बाद/गंगा का गीत गा रही हैं', 'मासिक धर्म रुकते ही सुहागिन औरतें/सोहर की पँक्तियों का रस/नये सिरे से सोखने लगती हैं', आदि-आदि।

यौन प्रतीक भी धूमिल की अनेक कविताओं में हैं और वे प्राय: सभी अकविताई मुहाविरे में हैं। जैसे, 'मासिकधर्म में डूबे हुए लत्ते-सा/खड़खड़ाता हुआ दिन', 'बलात्कार के बाद की आत्मीयता', 'आज़ादी – इस दरिद्र परिवार की बीस साला बिटिया/मासिक धर्म में डूबे हुए क्वाँरेपन की आग से/अन्धे अतीत और लँगड़े भविष्य की चिलम भर रही है', 'तुम्हारी मातृभाषा/उस महरी की तरह है, जो/महाजन के साथ रातभर/सोने के लिए/एक साड़ी पर राजी है', आदि। स्त्री के बारे में ऐसी प्रतिक्रियाएँ एक क्रान्तिवादी या क्रान्तिकारी कवि की नहीं, समाज के 'लुपेन' उठाइगीर हिस्से की जहनियत होती है। ऐसा लगता है कि धूमिल की कविता ने अकविता के दौर में होश सम्भाला और उससे उनकी संवेदना मूलत: भिन्न होने और अपनी ओर से सजग रूप से उसके मुहाविरे से बचने की कोशिशों के बावजूद, उसके कुछेक रूझान उनकी कविताओं में अनजाने ही आ गये हैं। यों भी अगर कवि पूरी तरह होशियार या उसके अनुभव तन्त्र की बुनावट बिल्कुल भिन्न न हो, तो उग्रता का 'रेटारिक' बड़ी आसानी से योनिवादी रेटारिक के गढ़े में गिर सकता है। मगर धूमिल का अपना सहज सामाजिक और काव्यगत विवेक उन्हें इस खतरे से बचाता है। और वैचारिक पृष्ठभूमि की कमज़ोरी के कारण एक प्रकार की सँकीर्ण विरोधवादिता और अन्तत: हिंसा की ओर बढ़ने के बावजूद, उनके बुनियादी लगाव मानवीय और प्रासंगिक बने रहते हैं।

काव्य-रूप और शिल्प के मामले में धूमिल की कविता में कई बातें ऐसी हैं जो उन्हें अपने सभी समकालीनों से अलग और विशिष्ट दर्जा देती हैं, बल्कि शायद इनके कारण ही ये कविताएँ इतनी अधिक असरदार साबित हुई हैं। इन तत्वों में सबसे खास है धूमिल की

भाषा। छठे-सातवें दशक में देशव्यापी मोहभंग की प्रक्रिया से उत्पन्न तल्खी और गुस्से को धूमिल ने एक अलग तरह की चुनौती देती, ललकारती हुई, दबंग भाषा दी जिसमें व्यंग्य और ऊर्जा का बड़ा प्रभावी मिश्रण है। मगर साथ ही उसकी एक अपनी विशिष्ट निजी पहचान है और वह इस दौर की दूसरी अनेक कविताओं और कवियों की चरित्रहीनता से अभिशप्त नहीं है। धूमिल इस दौर के जिस विसंगति भरे परिवेश को अपनी कविताओं में पेश करते हैं उसके अन्तर्विरोधों का बहुत-सा तनाव उनकी नाटकीय तनाव-भरी भाषा में जाहिर होता है। उसमें बड़ी अनिवार्यता, एक तरह की बरजस्तगी है, जो पढ़ने या सुननेवाले को चौंकाती है, चमत्कृत करती है और उसके आगे कविता की व्यंजना के अप्रत्याशित स्तर अचानक ही, नाटकीय चरमबिन्दु (क्लाइमेक्स) या द्रुतलय के संगीत में अचानक आनेवाले समय सम की तरह, कौंधा देती है।

इसमें धूमिल ने तुर्कों का बड़ा सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है। भाषा में/भदेश हूँ/इस कदर कायर हूँ/कि उत्तर प्रदेश हूँ' या 'निष्ठा का तुक विष्ठा से मिला दूँ' में सिर्फ चौंकानेवाली तुकें ही नहीं बल्कि दो सर्वथा अप्रत्याशित या विपरीत या विरोधी वस्तुओं या स्थितियों के समक्षीकरण द्वारा विसंगति की अभिव्यक्ति भी है; साथ ही अनुभव के अलग-अलग दायरों के जुड़ने से टिप्पणी की आँच दूर-दूर तक फैल जाती है। पहले भी कुछेक कवियों ने तुकों का ऐसा इस्तेमाल किया है, पर धूमिल की कविताओं में वे जितनी विस्फोटक रूप में कारगर हुई हैं वैसी और किसी के यहाँ नहीं। यह ठीक है कि तुकों के प्रयोग से एक तरह का बनावटीपन पैदा होता है, पर कुछ संयम बरतने पर (जैसा कि अक्सर धूमिल में हैं) कविता को आम पाठक या श्रोता तक पहुँचाने में उससे मदद मिलती है और कथ्य का भारीपन या उसकी नीरसता कम होती है। कम-से-कम धूमिल की कविताओं में तुकों का प्रयोग बहुत कारगर और कथ्य के उपयुक्त ही है। उनकी हाल की कविताओं में तुकों का प्रयोग नहीं है और उसके कारण एकाध अपवाद के अलावा उनमें कोई सूक्ष्मता बढ़ने के बजाय उनकी सहज सम्प्रेषणीयता कुछ कम ही हुई है।

एक और स्तर पर भी धूमिल की भाषा में बड़ी नाटकीयता है। यानी भाषा की स्थिति और चरित्र के साथ अनुरूपता। **मोचीराम** में मोची के पेशे की शब्दावली के कल्पनाशील प्रयोग की बात पहले कही गयी है। पर एक और तरह की चरित्रानुरूपता ऐसे प्रयोगों में है: इशे बांद्धो, उशे काट्टो, हियाँ ठोक्को, वहाँ पीट्टो/घिश्शा दो, अंइशा चमकाओ, जुत्ते को ऐना बनाओ/.....ओफ्फ बड़ी गर्मी है।' (**मोचीराम**); या 'वह हँसता है-ऐसी हँसी कि दिल/दहल जाता है/कलेजा मुँह को आता है/और मैं हैरान हूँ/यहाँ आओ/मेरे पास आओ/मुझे छुओ/मुझे जियो/मेरे साथ चलो/मेरा यकीन करो/इस दलदल से/बाहर

निकलो/सुनो!/तुम चाहे जिसे चुनो/मगर इसे नहीं/इसे बदलो, मुझे लगा आवाज़/जैसे किसी चलते हुए कुएँ से/आ रही है।' (**पटकथा**); या 'ओ देश के पोर-पोर में दुखते हुए गूँगे जनून!/क्रोध की अकेली मुद्रा में/उफनते हुए सात्विक खून/आ, बाहर आ,/मैं एक अदना कवि-तेरी भाषा का मुँहताज/मुझे अपनी बोली में शरीक कर। (**भाषा की रात**)। यह प्रसंग, सन्दर्भ और चरित्र के साथ बदलती और उससे लिपटकर चलती भाषा धूमिल की कविता को खास किस्म की प्रामाणिकता और शक्ति देती है जो उनके किसी समकालीन कवि में इस रूप में नहीं दिख पड़ती। यह विशेषता धूमिल ने अपनी काव्य-भाषा में बोलचाल के मुहाविरे के बड़े गहरे और सूक्ष्म संवेदनशील रचाव के द्वारा पैदा की है। हिन्दी के अपने जीवन्त और सटीक मुहाविरे का ऐसा निर्दोष और कारगर इस्तेमाल शायद ही किसी अन्य आधुनिक हिन्दी कवि ने किया हो।

यही बात लय के इस्तेमाल के बारे में कहीं जा सकती है। धूमिल की प्राय: सभी कविताएँ छन्द में या छन्द जैसी लयवाले गद्य में है। मगर उसकी रवानी में कोई बनावट नहीं है, बल्कि ऐसी सहज अनिवार्यता है कि पढ़ने या सुननेवाला उसमें अनायास बहता जाता है। इस निरन्तरता और प्रवाह के लिए धूमिल वाक्य को झटके के साथ अप्रत्याशित जगह बीच से तोड़कर एक के बाद दूसरी पंक्ति में फैलाते जाते हैं जिससे विचार एक पँक्ति से दूसरी तक अनिवार्य रूप से बहता जाता है और पँक्तियाँ एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई लगती हैं।

धूमिल की काव्य-भाषा के सिलसिले में उनके बिम्बों-प्रतीकों का भी कुछ जिक्र ज़रूरी है। अकविताई ढँग के कुछ यौन प्रतीकों का ज़िक्र ऊपर किया गया। कुछेक प्रतीक और बिम्ब उन चरित्रों के परिवेश से आये हैं जिनको कवि-कथ्य का माध्यम बनाया गया है। मोचीराम के सारे बिम्ब ऐसे ही हैं। **मुनासिब कार्रवाई** में ऐसा ही एक और बिम्ब है 'असली अपराधी का/नाम लेने के लिए/कविता, सिर्फ उतनी ही देर सुरक्षित है/जितनी देर, कीमा होने से पहले/कसाई के ठीहे और तनी हुई गँडास के बीच/बोटी सुरक्षित है।' इसमें और इसी तरह के अनेक बिम्बों-प्रतीकों में एक ओर बड़ी सूक्ष्मता है, और दूसरी ओर जिस क्षेत्र से बिम्ब या प्रतीक आया है उसकी ब्यौरेबार जानकारी। धूमिल की कविताएँ बड़ी मौलिक और उर्वर कल्पनाशीलता वाले कवि व्यक्तित्व को जाहिर करती हैं, और उनकी दुनिया के संकीर्ण होने के बावजूद उनके इतने प्रभावी होने का यह भी एक कारण है। बल्कि अधिकतर बिम्बों के चुनाव के द्वारा ही धूमिल अपने अनुभव के दायरे को फैलाते हैं और उसमें महसूस होनेवाला फैलाव बहुत-कुछ इसी से पैदा होता है।

साथ ही लगता है कुछेक बिम्ब या प्रतीक धूमिल को बेहद प्रिय हैं जिनका वे बार-बार इस्तेमाल करते हैं। जैसे 'जंगल' के प्रतीक का लगभग हर कविता में तरह-तरह के अर्थों में प्रयोग हुआ है, कहीं एक दुश्मन, प्रतिपक्षी या बाधा के रूप में जैसे, 'चमड़े की शराफ़त के पीछे/कोई जंगल है जो आदमी पर/पेड से वार करता है' (**मोचीराम**); या 'वह जरा-सी गफलत होती है और जंगल/आदमी की गिरफ्त से छूटकर/दीवारों की कवायद में शरीक/हो जाता है' (**मकान**); या 'और एक जंगल है-/मतदान के बाद खून में अँधेरा पँछीटता हुआ। (जंगल मुखबिर है)।' (**नक्सलबाड़ी**); या 'और भूल जाओ/कि नींद में पेड़ के लिए/ तुमने जंगल में बहस की है' (**हत्यारी सम्भावनाओं के बीच**); या 'जिनका आधे से ज्यादा शरीर/भेड़ियों ने खा लिया है/वे इस जंगल की सराहना करते हैं/भारत वर्ष नदियों का देश है।' (**अकालदर्शन**); या 'वे आँखे वापिस लौट आयी हैं/जिनसे मैंने पहली बार जंगल देखा है/हरे रंग का एक ठोस सैलाब जिसमें सभी पेड़ डूब गये हैं।' (**बीस साल बाद**); **पटकथा** में 'जनतान्त्रिक जंगल' और 'नींद और नींद के बीच का जंगल काटते हुए' का ज़िक्र है। इसके ठीक विपरीत एक दोस्त या हथियार या ज़रूरी चीज़ के रूप में भी, या किसी शक्ति या ज़िन्दगी की विराटता, रहस्यमयता या सामूहिकता के अर्थ में भी 'जंगल' का इस्तेमाल हुआ है। जैसे, **पटकथा** में ही 'नफ़रत और रोशनी/सिर्फ़ उसके हिस्से की चीज़ है/ जिसे जंगल के हाशिये पर/जीने की तमीज़ है/ इसलिए उठो और अपने भीतर/सोये हुए जंगल को/ आवाज दो', और 'वह आहिस्ता-आहिस्ता कह रहा है/ जैसे किसी जले हुए जंगल में/पानी का ठण्डा सोता बह रहा है'; या **राजकमल चौधरी के लिए** में 'राख और जंगल से बना हुआ वह /एक ऐसा चरित्र था/जिसे किसी भी शर्त पर/राजकमल होना था', और कविताओं/को कौन-सा अर्थ/देने के लिए/किस जंगल/किस समुद्र किस शहर के अँधेरे में जाकर/गायब हो गया है।' हाल की कविताओं में 'जंगल' को हथियार/बन्द क्रान्तिकारियों की व्यंजना के लिए इस्तेमाल किया गया है। जैसे, **शब्द जहाँ सक्रिय हैं** में प्राय: तीन तरह से: 'वह सहसा उठा/और अपने हिस्से की रोटी के साथ जंगल को चला गया', नदी के मुहाने पर हलचल है और जंगल अपना रास्ता बदल रहा है'; और मेरे छप्पर का एक नन्हा तिनका जंगल की शाखा होने का सपना देखने लगा है।' कहीं-कहीं केवल मुहाविरे के रूप में भी इसका इस्तेमाल है। जैसे, 'उसे जंगल में पेड़ की तलाश थी', 'शब्दों के जंगल में हम एक दूसरे को काटते थे,' 'इस ससुरी कविता को जंगल से जनता तक ढोने से क्या होगा?' मुझे लगा है कि हाँफते हुए दलदल की बगल में जंगल होना आदमी ही आदत नहीं अदनी लाचारी है।

एक ही शब्द के इतने सारे सन्दर्भों में प्रयोग से जहाँ धूमिल में भाषा के बड़े कल्पनाशील

सूक्ष्म अन्वेषण की क्षमता बोलचाल के मुहावरे की जानकारी का अहसास होता है, वहीं प्रतीकों की पुनरावृत्ति और एकरसता' से एक तरह की अनुभव की सीमा और एक खाँचें में फँस जानेवाली अभिव्यक्ति का भी असर मन पर पड़ता है। कुछ कम मात्रा में दुहरावट के साथ 'मासिक धर्म', 'घर' 'व्याकरण' आदि के बिम्ब-प्रतीक भी इन कविताओं में आते हैं। फिर भी यह बात बेझिझक कही जा सकती है कि धूमिल की कविता में प्रतीकों-बिम्बों की पुनरावृत्ति नगण्य है। पाठक इनकी अनोखी नवीनता से, बेमिसाल टटकेपन से ही आकर्षित, प्रभावित और चमत्कृत होता है।

दरअसल, धूमिल के कवि-स्वभाव में स्वत: स्फूर्तता और सजगता का बड़ा दिलचस्प समन्वय है। एक ओर बड़ी सहजता से वह अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं दूसरी ओर आज के इस दौर में कविता और कवि-कर्म की सार्थकता को लेकर बार-बार प्रश्न उठाते हैं। **संसद से सड़क तक** में और उसके बाद भी सीधे-सीधे कविता के बारे में उनकी कम से कम छह कविताएँ हैं: **कविता, कवि 1670, मुनासिब कार्रवाई, कविता के भ्रम में, मुक्ति का रास्ता, शब्द जहाँ सक्रिय हैं।** कई अन्य कविताओं में भी जगह-जगह अभिव्यक्ति और भाषा को लेकर कई तरह के वक्तव्य हैं। उनकी कवि-दृष्टि का एक विपर्यय यह भी है कि वह कविता को क्रिया का, क्रान्तिकारी 'ऐक्शन' का पर्याय मानते जान पड़ते हैं जब कि कविता 'होना' नहीं, 'होने' की अनुभूति की पुनर्सृष्टि है। इसलिए जब भी वह अपने कवि की इस स्वनिर्धारित भूमिका के बाहर आकर अपनी कवि क्षमता को जीवन के अनुभव को मूर्त करने देते हैं तो उनकी रचना में एक सच्चे कवि से साक्षात्कार होता है। धूमिल की कविता मूलत: आत्मालाप की कविता है जिसमें आवेग की ऊर्जा है और एक तरह की अन्त:प्रज्ञा पर आधारित दिशा-बोध है, और सहज प्रभावी अभिव्यक्ति भी है। यह असम्भव नहीं था कि वे वक्त के साथ स्पष्ट जीवन-दृष्टि और वैचारिक पृष्ठभूमि भी हासिल कर लेते और इस प्रकार एक अत्यन्त सक्षम समृद्ध काव्य-जगत की रचना करने में सफल होते। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि ऐसा होने के पहले ही उनका जीवन समाप्त हो गया। मगर जो कुछ वह छोड़ गये हैं वह समकालीन कविता की एक उपलब्धि मानी जाती रहेगी इसमें सन्देह नहीं।

11- नागार्जुन

जीवन परिचय

नागार्जुन का जन्म 1911 ई० में बिहार के दरभंगा जनपद के तरौनी नामक गाँव के एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके बचपन का नाम वैद्यनाथ मिश्र था। इनके पिता किसानी के साथ ही पुरोहिती का कार्य भी करते थे। कम उम्र में विवाह हो जाने के बाद भी इन्होंने आसानी से गृहस्थ जीवन स्वीकार नहीं किया। बाद में वाराणसी और कलकत्ता रहकर इन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की। आरंभ में ये 'यात्री' उपनाम से मैथिली और हिंदी में कविताएँ लिखा करते थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन से सम्पर्क होने के बाद इनके जीवन में विशेष परिवर्तन आया। उन्हीं के प्रभाव से इन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। पालि और प्राकृत के माध्यम से इन्होंने बौद्ध साहित्य और दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। इसके लिए इन्होंने लाहौर से लेकर श्रीलंका, तिब्बत, बर्मा आदि विभिन्न देशों का भ्रमण किया। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के बाद इन्होंने अपना वैद्यनाथ और यात्री उपनाम छोड़कर नागार्जुन नाम धारण कर लिया। 1937 से 1941 तक ही बौद्ध भिक्षु के रूप में इन्होंने जीवन-यापन किया। 1941 के बाद इन्होंने पुनः गृहस्थ जीवन स्वीकार कर लिया। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में अपने नागार्जुन नाम को ही कायम रखा।

अपनी गहन सामाजिक चेतना और शोषित-उत्पीड़ित जनता के प्रति गहरी सहानुभूति के कारण ही नागार्जुन का झुकाव मार्क्सवादी चिंतन की ओर हुआ। प्रसिद्ध कृषक नेता स्वामी सहजानन्द के सम्पर्क में आने के बाद बिहार के बहुत से किसान आंदोलनों में इन्होंने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। फलस्वरूप स्वाधीनता पूर्व अंग्रेज़ी सरकार से लेकर स्वाधीन भारत की सरकार की जेलों की भी इन्हें हवा खानी पड़ी है। 1976 के प्रसिद्ध जे.पी. (जयप्रकाश नारायण) आंदोलन में सक्रिय भागीदारी के लिए इन्हें जेल की सलाखों में बंद किया गया था। अतः कविताओं में ही नहीं वरन् अपने व्यावहारिक जीवन में भी इन्होंने अपने विद्रोह, अपनी क्रांतिकारिता का पूर्ण परिचय दिया है।

नागार्जुन के व्यक्तित्व की एक बहुत बड़ी विशेषता रही है कि जीवन पर्यन्त उन्होंने कोई नौकरी, व्यवसाय या सरकारी-गैरसरकारी संस्थान का आश्रय नहीं लिया। गाँव-परिवार में कृषिकार्य लायक पर्याप्त ज़मीन भी नहीं थी। अतः इन्हे जीवन पर्यन्त मसिजीवी ही बने रहना पड़ा। इसके संबंध में 'एक मित्र को पत्र' शीर्षक कविता में इन्होने लिखा है :

कलग घिसुओं का हमारा यह नया संसार
किसी भी श्रीमत से क्या मांगता है भीख?

लेखनी ही है हमारा फार
धरा है पट, सिंधु है मसिपात्र
तुच्छ से आते तुच्छ जन जीवनी पर हम लिखा करते
कहानी, काव्य, रूपक, गीत ।

अपनी लेखनी के सहारे अत्यंत अभावग्रस्तता में जीवन बिताने वाले नागार्जुन ने भी किसी के सामने सिर नहीं झुकाया। शासन व्यवस्था द्वारा अपनायी गयी हर जन विरोधी नीति का इन्होंने विरोध किया है। भारतीय शोषित उत्पीड़ित जनता का इतना बड़ा पक्षधर कवि हिन्दी में दूसरा नहीं हुआ। इनका निधन एक लम्बी बीमारी के बाद 1998 ई. में हुआ।

साहित्यिक योगदान

नागार्जुन की काव्यचेतना पूरे भारत को समग्रता के साथ अपने में समाहित किए हुए है। मिथला जनपद से जुड़े होने के कारण उस अंचल की सोंधी गंध के साथ ही, उसके खेत खलिहान और किसानी ग्रामीण जनता के प्रमुख उत्पीड़क बड़े जमींदारों की सामंती प्रकृति पर भी कवि ने गिन गिन कर चोटें की हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल में नागार्जुन का सर्वाधिक महत्व इनकी राजनीतिक कविताओं के माध्यम से उजागर हुआ है। स्वाधीन भारत के शासक वर्ग का कोई भी बड़ा नेता या कोई भी महत्वपूर्ण घटना नागार्जुन की कविता की परिधि से बाहर नहीं रह पायी है।स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के प्रामाणिक इतिहास की जानकारी के लिए नागार्जुन की कविताओं से अधिक सार्थक अन्य कोई माध्यम नहीं है। विश्व राजनीति के घटनाक्रम और उसके नेतृत्वकारी व्यक्तियों पर भी नागार्जुन्ने खुलकर अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं।

नागार्जुन के काव्य की एक अन्य विशेषता है, साहित्य जगत के विशिष्ट व्यक्तियों पर लिखी उनकी कविताएं । इसके अंतर्गत कालिदास से लेकर रवि ठाकुर भारतेन्दु, निराला, त्रिलोचन आदि बहुत सारी हस्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

शोषित उत्पीडित किसानी जीवन के प्रति लगाव,गहन सामाजिक प्रतिबद्धता,प्रखर राजनीतिक चेतना की कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही प्रकृति के प्रति नागार्जुन का गहरा आकर्षण रहा है। हरे भरे खेतों, आंचलिक नदी नालों के साथ ही कवि ने प्रातः, संध्या, बादल धूप,वर्षा, चांदनी आदि के मोहक रूप को अत्यंत कुशलता के साथ अपने काव्य में अंकित किया है। इसके साथ ही सागर के विस्तार और पर्वतीय अंचल की अनुपम सुषमा को भी कवि ने भाव विभोर होकर चित्रित किया है। बादल को घिरते देखा है, 'बरफ पड़ी', 'मेघ बजे', 'धनकुरंग', 'फूले कदंब', फिसल रही चांदनी', 'बच्चा चिनार का', 'सोनिया समंदर आदि कविताएँ इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

नागार्जुन ने कवि-कलाकार की वांछनीयता की सबसे बड़ी कसौटी उसकी मनुष्यता को स्वीकार किया है। यह मनुष्यता ही किसी कवि को छोटा या बड़ा सिद्ध करती है। इस संबंध में इन्होंने मनुष्य हूँ शीर्षक अपनी कविता में लिखा है :

कवि हूँ, सच है। इसीलिए क्या आतप वर्षा हिम भी
मुझसे दब जाएँगे? इसीलिए क्या वात पित्त कफ
शांत रहेंगे? नहीं, नहीं सो कैसे होगा! कवि हूँ
पीछे, पहले तो मैं मानव ही हूँ।'

अपनी कविताओं में इस मानवता का परिचय नागार्जुन ने अत्यंत कुशलता के साथ दिया है। लोकोन्मुखी कवि होने के कारण नागार्जुन के काव्य की शिल्प-संरचना में भी लोकप्रियता का तत्व विशेष रूप से समाविष्ट हुआ है। प्रकृति के मोहक चित्रों और गंभीर भावों की अभिव्यक्तियों के लिए कवि ने संस्कृतनिष्ठ परिमार्जित हिंदी भाषा का प्रयोग किया है। लेकिन साधारण जन-जीवन के दुख-सुख पर लिखते हुए उसने सहज-सरल बोलचाल के मुहावरे की शब्दावली का ही अधिक प्रयोग किया है।

जहाँ तक कलात्मक शैली का प्रश्न है, प्रगतिशील कविता पर नीरस, सपाटबयानी और अकलात्मकता का दोष मढ़ा गया है। कम से कम नागार्जुन के संबंध में इस प्रकार का आरोप नितांत मिथ्या है। इनकी बहुत सारी कविताओं में कलात्मक शैली का जो उत्कर्ष प्रकट हुआ है, नयी कविता और उसके प्रमुख कवियों में उसका नितांत अभाव है। 'सिंदूर तिलकित गोल 'बादल को घिरते देखा है', 'एक मित्र को पत्र', 'मनुष्य हूँ', 'कालिदास सच-सच बतलाना' 'रवि ठाकुर' आदि कविताएँ इस तथ्य का साक्षात प्रमाण हैं। फिर भी प्रगतिशील कविता पर अकलात्मकता के आरोप से नागार्जुन ने विचलित होकर लिखा था

कैसे अमृत रस बरसाऊँ।
चाँदी का हल और फाल सोने का कैसे जुतवाऊँ।

बदहाल किसान-मजदूर जनता का चित्रण करते हुए अलंकृत भाषा में लालित्य-योजना करना उनका एक तरह से अपमान करना है। अतः विषय वस्तु जहाँ से ली जाए, वहीं से शब्दावली भी लेनी पड़ती है। यही भाषा और शैली की विषयानुकूलता का आग्रह भी है।

नागार्जुन के काव्य-शिल्प की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है, उनकी व्यंगात्मक शैली। कबीर के बाद कविता में व्यंग्य का इतना सार्थक प्रयोग अन्य किसी भी कवि ने नहीं किया है। शैली की दृष्टि से यह व्यंग्यात्मक नागार्जुन को आधुनिक कवियों के बीच एक निजी पहचान से मंडित करती है। इस प्रकार कलात्मकता के परम्परागत मानदण्ड से लेकर,

विषयानुकूलता, प्रभवोत्पादकता आदि सभी दृष्टियों में नागार्जुन एक सार्थक और कुशल काव्य शिल्पी के रूप में हमारे सामने आते हैं। नागार्जुन की कुल रचनाएँ निम्नलिखित है :

कविता संग्रह : 'युगधारा', 'सतरंगे पंखों वाली', 'प्यासी पथरायी आँखें', 'तालाब की मछलियाँ', 'वंदना, 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 'तुमने कहा था', 'पुरानी जूतियों का कोरस', 'हजार हजार बाहों वाली', 'भस्माकुर (खण्ड काव्य') 'चित्रा', 'पत्रहीन नग्न गाछ (मैथिली काव्य संग्रह) तथा 'धर्मलोक शतकम' (संस्कृत काव्य) आदि।

उपन्यास - 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसर नाथ', दुख मोचन, वरूण के बेटे, 'पारो' तथा 'नयी पौध' आदि।

कालिदास

कालिदास, सच-सच बतलाना !
इंदुमती के मृत्युशोक से
अज' रोया या तुम रोये थे ?
कालिदास, सच-सच बतलाना !

शिवजी की तीसरी आँख से
निकली हुई महाज्वाला में
घृतमिश्रित सूखी समिधा-सम
कामदेव जब भस्म हो गया
रति का क्रन्दन सुन आँसू से
तुमने ही तो दृग धोये थे ?
कालिदास, सच-सच बतलान
रति रोई या तुम रोये थे ?

वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका
प्रथम दिवस आषाढ़ मास का
देख गगन में श्याम घन घटा
विधुर यक्ष का मन जब उचटा
खड़े-खड़े तब हाथ जोड़कर
चित्रकूट के सुभग शिखर पर
उस बेचारे ने भेजा था

जिनके ही द्वारा संदेशा
उन पुष्करावर्त मेघों का
साथी बनकर उड़नेवाले
कालिदास, सच-सच बतलाना
परपीड़ा से पूर-पूर हो
थक-थक कर और चूर-चूर हो
अमल-धवल गिरि के शिखरी पर
प्रियवर, तुम कब तक सोये थे ?
रोया यक्ष कि तुम सोये थे ?
कालिदास, सच-सच बतलाना !

---

1 दशरथ के पिता

बादल को घिरते देखा है

अमल धवल गिरि के शिखरों पर,
बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को,
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है,
बादलों को घिरते देखा है।

तुंग हिमालय के कंधों पर
छोटी बड़ी कई झीलें हैं,
उनके श्यामल नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल
तिक्त-मधुर बिसतंतु[1] खोजते
हंसों को तिरते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

---

1 पानी में पैदा होने वाले पौधे

सिंदूर तिलकित भाल

घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल !
याद आता तुम्हारा सिंदूरतिलकित भाल !
कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज ?
कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरे से काज ?
चाहिए किसको नहीं सहयोग ?
चाहिए किसको नहीं सहवास ?
कौन चाहेगा कि उसका शून्य में टकराय यह उच्छ्वास ?
हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण
जिसको डाल दे कोई कहीं भी
करेगा वह कभी कुछ न विरोध
करेगा वह कुछ नहीं अनुरोध
वेदना ही नहीं उसके पास
फिर उठेगा कहाँ से निःश्वास
मैं न साधारण, सचेतन जंतु
यहाँ हाँ-ना-किंतु और परंतु
यहाँ हर्ष-विषाद-चिंता-क्रोध
यहाँ है सुख-दुख का अवबोध
यहाँ है प्रत्यक्ष और अनुमान
यहाँ स्मृति-विस्मृति के सभी के स्थान
तभी तो तुम याद आती प्राण,
हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण !
याद आते स्वप्न
जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख
स्मृति-विहंगम की कभी थकने न देगी पाँख
याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आती लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान[1]
याद आते शस्य-श्यामल जनपदों के
रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गए वे नाम
याद आते वेणुवन वे नीलिमा के निलय, अति अभिराम

---

1 पानी में होने वाला एक प्रकार का पद्म

धन्य वे जिनके मृदुलतम अंक
हुए थे मेरे लिए पर्यंक
धन्य वे जिनकी उपज के भाग
अन्न-पानी और भाजी-साग
फूल-फल औ' कंद-मूल, अनेक विध मधु-मांस
विपुल उनका ऋण, सधा सकता न मैं दशमांश
ओह, यद्यपि पड़ गया हूँ दूर उनसे आज
हृदय से पर आ रही आवाज़-
धन्य वे जन, वही धन्य समाज
यहाँ भी तो हूँ न मैं असहाय
यहाँ भी हैं व्यक्ति और समुदाय
किंतु जीवन भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय !
मरूँगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल
समय चलता जाएगा निर्बाध अपनी चाल
सुनोगी तुम तो उठेगी हूक
मैं रहूँगा सामने (तसवीर में) पर मूक
सांध्य नभ में पश्चिमांत-समान
लालिमा का जब करुण आख्यान
सुना करता हूँ, सुमुखि उस काल
बाद आता तुम्हारा सिंदूरतिलकित भाल

'अकाल और उसके बाद'

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकश्त

दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद

खुरदरे पैर

खुब गए
दूधिया निगाहों में
फटी विवाइयोंवाले खुरदरे पैर

धँस गए
कुसुम -कोमल मन में
गुट्ठल घट्ठोवाले कुलिश कठोर पैर

दे रहे थे गति
रबड़ विहीन ठूँठ पैडलों को
चला रहे थे
एक नहीं दो नहीं, तीन तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैसे को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला
घंटों के हिसाब से ढोए जा रहे थे।

देर तक टकराए
उस दिन इस आँखों से वे पैर
भूल नहीं पाऊँगा फटी बिवाइयाँ
खुब गई दूधिया निगाहों में
धँस गई कुसुम कोमल मन में

पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने

शुरू-शुरू कातिक में
निशा शेष ओस की बूँदियों से लदी है
अगहनी धान की दुद्धी मंजरियाँ
पाकर परस प्रभाती किरणों का
मुखर हो उठेगा इनका अभिराम रूप...
टहलने निकला हूँ 'परमान' के किनारे-किनारे
बढ़ता जा रहा हूँ खेत की मेड़ों पर से, आगे
वापस मिला है अपना वह बचपन
कई युगों के बाद आज
करेगा मेरा स्वागत
शरद् का बाल रवि
चमकता रहेगा घड़ी-आधी घड़ी
पूर्वांचल प्रवाही परमान की
द्रुत-विलंबित लहरों पर
और मेरे ये अनावृत्त चरण युगल
करते रहेंगे -चहल-कदमी
सैकत पुलिन पर

छोड़ते जाएँगे सादी-हलकी छाप
और फिर आएगी, हँसी, मुझे अपने आप पर
उतर पड़ूँगा तत्क्षण पंकिल कछार में
बुलाएँगे अपनी ओर भारी खुरों के निशान
झुक जाएगा यह मस्तक अनायास
दुधारू भैंसो की याद में

यह लो, दूर कहीं शीशम की झुरमुट से
उड़ता आया है नीलकंठ
गुजर जाएगा ऊपर-ही उपर
कहीं जाकर बैठेगा?
इधर पीछे जवान पाकड़ की फुनगी पर?
या कि, उस बूढ़े की पीपल की बदरंग डाल पर?
या कि, उड़ता ही जाएगा
पहुँचेगा विष्णुपुर के बीचोंबीच
मंदिर की अँगनई में मौलसिरी की

सघन पत्तियों वाली टहनियों की ओट में
हो जाएगा अदृश्य, करेगा वहीं आराम!
जाने भी दो,
आओ तुम मेरे साथ रत्नेश्वर
देखेंगे आज जी भरकर
उगते सूरज का अरूण-अरूण पूर्ण-बिम्ब
जाने कब से नहीं देखा था शिशु भास्कर
आओ रत्नेश्वर, कृतार्थ हों हमारे नेत्र!
देखना भई, जल्दी न करना
लौटना तो है ही
मगर यह कहाँ दिखता है रोज़-रोज़
सोते ही बिता देता हूँ शत-शत प्रभात
छूट-सा गया है जनपदों का स्पर्श
(हाय रे आंचलिक कथाकार!)
आज मगर उगते सूरज को
देर तक देखेंगे, जी भरकर देखेंगे
करेंगे अर्पित बहते जल का अर्घ
गुनगुनाएँगे गद्‌गद होकर-
ओं नमो भगवते भुवन-भास्कराय
ओं नमो ज्योतिरीश्वराय
ओं नमो सूर्याय सवित्रे ...।
देखना भई रत्नेश्वर जल्दी न करना !
लौटेंगे इत्मीनान से
पछाड़ दिया है आज मेरे आस्तिक ने मेरे
नास्तिक को
साक्षी रहा तुम्हारे जैसा नौजवान'पोस्ट-ग्रेजुएट
मेरे इस'डेविएशन' का !
नहीं ? मैं झूठ कहता हूँ !
मुकर जाऊँ शायद कभी
कहाँ ! मैंने तो कभी झुकाया नहीं था यह
मस्तक !
कहाँ ! मैंने तो कभी दिया नहीं था अर्घ
सूर्य को !
तो तुम रत्नेश्वर, मुसकुरा भर देना मेरी
मिथ्या पर ...

शासन की बंदूक

खड़ी हो गई चाँपकर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट-सी शासन की बंदूक

उस हिटलरी गुमान पर सभी रहे हैं थूक
जिसमें कानी हो गई शासन की बंदूक

बढ़ी बधिरता दसगुनी, बने विनोबा मूक
धन्य-धन्य वह, धन्य वह, शासन की बंदूक

सत्य स्वयं घायल हुआ, गई अहिंसा चूक
जहाँ तहाँ दागने लगी शासन की बंदूक

जली ठूँठ पर बैठकर कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक।

चंदू मैंने सपना देखा

चंदू मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनी सा
चंदू मैंने सपना देखा, अमुआ से हूँ पटना लौटा
चंदू मैंने सपना देखा, तुम्हें खोजते बद्री बाबू
चंदू मैंने सपना देखा, खेल कूद में हो बेकाबू।

चंदू मैंने सपना देखा, कल परसों ही छूट रहे हो
चंदू मैंने सपना देखा, खूब पतंगें लूट रहे हो
चंदू मैंने सपना देखा, लाये हो तुम नया कलैण्डर
चंदू मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर मैं हूँ बाहर
चंदू मैंने सपना देखा, अमुआ से पटना आये हो
चंदू मैंने सपना देखा, मेरे लिए शहद लाए हो

चंदू मैंने सपना देखा, फैल रहा है सुयश तुम्हारा
चंदू मैंने सपना देखा, तुम्हें जानता भारत सारा
चंदू मैंने सपना देखा, तुम तो बहुत बड़े डाक्टर हो
चंदू मैंने सपना देखा, अपनी ड्यूटी में ऊपर हो

चंदू मैंने सपना देखा, इम्तिहान में बैठे हो तुम
चंदू मैंने सपना देखा, पुलिस यान में बैठे हो तुम
चंदू मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर मैं हूँ बाहर
चंदू मैंने सपना देखा, लाए हो तुम नया कलैण्डर

मनुष्य हूँ

नहीं कभी क्या मैं थकता हूँ?
अहोरात्र क्या नील गगन में उड़ सकता हूँ?

मेरे चितकदर पंखों की भारवर छाया
क्या न कभी स्तम्भित होती है
.हरे धान की स्निग्ध छटा पर?
-उड़द गूँग की निविड़ जटा पर?
आखिर में भी तो मनुष्य हूँ..

उरूरहित सारथि है जिसका
एक मात्र पहिया है जिसमें
सात सात घोड़ा का वह रथ नहीं चाहिए
मुझको नियत दिशा का वह पथ नहीं चाहिए
पृथिवी ही मेरी माता है
इसे देखकर हरित भारत, मन कैसा प्रमुदित हो जाता है
मुझे है इस पर
जीव जन्तु नाना प्रकार के
तृण-तरू लता गुल्म भी बहुबिधि
चन्द्र सूर्य है
गहमण भी है
शत-सहस्र संख्या में बिखरे तारे भी हैं
सब हैं इस पर
कालकूट भी यहीं पड़ा है
अमृतकलश भी यही रखा है
नहीं ग्रीवावाले उस मृत्युञ्जय का भी बाप यहीं है
अमृत-प्राप्ति के हेतु देवगण
नहीं दुबारा
अन टग सकते
दानव-कुल को

राहु-केतु का शिर-कबन्ध वह जुड़ा, देख लो
सुधा स्निग्ध इन अँगुलियों के स्पर्श मात्र से
नहीं, तुम्हारे ही युग का यह चमत्कार है
श्रेय मुझे भी तो लेने दो
आखिर मैं भी तो मनुष्य हुँ ...

कवि हूँ, सच है
किन्तु षट्पदों जैसा क्या मैं
फूल सूँघ कर रह सकता हूँ?
कवि हूँ, सच है
पर अशोक के कोमल किसलय
पहन ओढ़ कर ही कैसे मैं रह सकता हूँ
कवि हूँ, सच है
किन्तु, किस तरह
स्वर्ण किरण की
वाष्प और विद्युत से रक्षा कर पाऊँगा ?
कवि हूँ, सच है
किन्तु, क्षणिक तथ्यों को यों अवहेलित करके
शाश्वत का सीमान्त कभी क्या छू पाऊँगा ?
कवि हूँ सच है
इसीलिए क्या
आतप वर्षा हिम भी मुझसे दब जायेंगे ?
इसीलिए क्या वात पित्त कफ शान्त रहेंगे ?
नहीं, नहीं, सो कैसे होगा!
कवि हूँ पीछे, पहले तो मैं मानव ही हूँ
अतिमानव या लोकोत्तर किसको कहते हैं-
नहीं जानता!
कैसे जानूँ

कविताओं के बारे में

पाठ्यक्रम में नागार्जुन की नौ कविताएँ है।विभिन्न कालखंडों में कवि ने इन कविताओं को रचा है। कालिदास 1938 ई0 में 'बादल को घिरते देखा' 1939 ई0 में, 'सिंदूर तिलकित भाल' 1943 ई0 में, 'अकाल के बाद' 1952 ई0 में, 'खुरदरे पैर' 1961 ई0 में, 'शासन की बंदूक' 1965 ई0 में, तथा 'चंदू मैंने सपना देखा' 1976 ई0 में प्रकाशित हुई थी। नागार्जुन मुख्यतः ग्रामीण जीवन के कवि हैं। उनके काव्य-संसार का बड़ा हिस्सा ग्रामीण संवेदना में लिपटा हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने समकालीन जीवन की दैनिक घटनाओं को आधार बनाकर काव्य सृजन किया है।

कालिदास कविता का मूल प्रतिपाद्य यह है कि कविकर्म जीवन के अनुभवों से स्वायत्त नहीं होता है। कवि के व्यक्तिगत सामाजिक अनुभवों से ही काव्यानुभवों की संरचना निर्मित होती है। कवि का कहना है कि कालिदास की आत्मपीड़ा से ही उनके काव्य के पात्रों की रचना हुई है। रचनाकार के अनुभव की छाया उसकी सर्जनात्मक कृतियों में प्रस्तावित होती है। नागार्जुन की कविता में प्रकृति और मनुष्य का सहचरत्व है। उनकी कविता में बादल का घिरना भाव के उभरने का प्रतीक है। भाव वहीं उभरते हैं जहाँ व्यक्तित्व अमल और धवल होते है।। भाव मोती जैसे तरल होते हैं उसमें जल की शीतलता होती है। मानसरोवर हृदय का प्रतीक है। हृदय में भाव प्रकट होते हैं और आँखों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। बादल का घिरना महज प्रकृति का चित्र न होकर मनुष्य के हृदय का भावचित्र बन जाता है।

नागार्जुन में अपने जनपद के प्रति आत्मीयता है। यह आत्मीयता कहीं कहीं नॉस्टेलजिक बोध में रूपांतरित हो गई है।'संदूर तिलंति भाल' कविता में कवि इसी बोध को अभिव्यक्त करता है। इस कविता में एक प्रवासी की पीड़ा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। नगर और ग्राम जीवन का अंतर करते हुए कवि ने ग्रामीण जीवन का बड़ी सहृदयता से स्मरण किया है। नगर में व्यक्ति संबंधहीन हो गया है। ग्राम जीवन में व्यक्ति और समाज का संबंध बना हुआ है। मनुष्य प्रकृति के पूरे परिवेश के साथ जीता है। कवि को केवल सिंदूर तिलकित भाल की स्मृति ही नहीं आती है। उसके साथ साथ मिथिला के कुमुदिनी मरवान, लीची और आम की भी उन्हें याद आती है। 'अकाल और उसके बाद' कविता में अकाल का भयानक चित्र है। आठ पंक्तियों में कवि ने गृहस्थ जीवन के सम्पूर्ण अभाव की कहानी, कह दी है। आँगन में धुआँ उठने का मतलब है कि खाना पकाया जा रहा है। अकाल पीड़ितों के लिए चूल्हा जलना एक चमत्कारिक घटना हो जाती है। अन्न के दाने का महत्व कितना बड़ा होता है। यह अकाल में तबाह लोग ही जान सकते हैं । किसान केवल मनुष्य के लिए ही नहीं सम्पूर्ण सृष्टि के लिए महत्वपूर्ण है। उसके श्रम के बिना कुत्ते और चूहे भी अपना पेट नहीं भर सकते है।

नागार्जुन की कविता में शोषितों और पीड़ितों के प्रति गहरी सहानुभूति है। कुली और मजदूर को देखकर कवि को कैसा लगता है इसका बड़ा कारूणिक दृश्य 'खुरदरे पैर' कविता में मिलता है। फटी बिवाइयों वाले खुरदरे पैर कवि के कोमल मन में बस जाते हैं श्रमिक के श्रम को कवि पूजाभाव से देखता है। 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' कविता में गहरा द्वन्द्व और धनीभूत भावुकता है। इस भावुकता में अपने आंचलिक जीवन के प्रति प्रेम का भाव है। किसान के मन में धान की मंजरी से लदे पौधे को देखकर सहज ही आनंद की अनुभूति होती है। इस कविता के आरंभ में कार्तिक मास की सुबह का चित्र है। पूरी कविता में आवेग है। कवि के मानस में आंचलिक जीवन की स्मृति का चित्र अंकित है। नागार्जुन की कविता में एक प्रकार की आत्मालोचना की निर्ममता है जिससे स्वयं का परीक्षण करने की ताकत है।

'शासन की बंदूक' कविता में कवि व्यवस्था को चुनौती देता है। व्यवस्था बंदूक के बल पर जनता पर शासन नहीं कर सकती है। जनता के प्रतिरोध के सामने बंदूक की ताकत नगण्य हो जाती है। 'चंदू मैंने सपना देखा' कविता में कवि ने फंतासी शिल्प का प्रयोग करते हुए जीवन की घटनाओं पर आधारित मध्यवर्गीय आंकाक्षाओं का बड़ा ही सटीक चित्र खींचा है। मध्यवर्ग में ऊँचा बनने की बहुत सारी आकांक्षाएं होती है।बड़ा आदमी बनना, डाक्टर बनना और पुलिस थाने में बैठना यह सभी कुछ उसके स्वप्न की छवियाँ है। 'मनुष्य हूँ' कविता में कवि ने सर्वप्रथम अपने को मानव के रूप में प्रस्तावित किया है। मानव होने के कारण उसकी कल्पना भी कुण्ठित होती है।वह सर्जनात्मकता से चूकता भी है। कवि होने के कारण शेष सृष्टि के साथ वह आत्मीय संबंध का अनुभव भी करता है। यह जीवन के दुख सुख की प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करता है। लेकिन कवि भी मनुष्य है। उसकी भी भौतिक आवश्यकताएं हैं। यह अपनी भौतिक जरूरत के लिए संघर्षरत है और उसी संघर्ष से कविता को रूपाकार देता है। वह वर्तमान क्ष्ज्ञण को शाश्वत में बदलने का प्रयत्न करता है।लौकिकता के माध्यम से ही वह लोकोत्तर को पाने का प्रयास करता है।

नागार्जुन की संवेदना के केन्द्र में गाँव है। कवि किसानी जीवन को अपनी कविता का आधार बनाता है। उनके काव्यके प्रकृति चित्रण में कहीं मिथिला की अमराइयों का वर्णन है, कहीं तालाब में खिलता कुमुदिनी का चित्र है, कहीं अगहनी धान की दुद्धी मंजरियों का चित्र है। और कहीं कछार में भैंस के खुरों के निशान है। कवि ने प्रकृति का वर्णन लोकजीवन से ही ग्रहण किया है।जहाँ तक भाषा का सवाल है तो नागार्जुन ने जनभाषा में ही कविता की रचना की है। कविता में मुख्य ताकत तदभव शब्दों की है। लेकिन देशज शब्दों को उन्होंनें नहीं छोड़ा है। भाषा प्रवाह में आए हुए शब्दों को वे सहज ही अपनाते है। उनकी कविता में शब्दों का अभिजात्य नहीं है। उन्होंने साहित्य में श्रम सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है। फटी बिवाइयों वाले पैर को वे अपनी सहानुभूति अर्पित करते है। इसी प्रकार प्रवृत्ति चित्रण में

गुलाब और जुही की जगह धान के पौधे और बरगद के पेड का वर्णन करते है। उनकी कविता का शिल्प-विधान बहुत ही लचीला है। शिल्प के स्तर पर वे एक साथ कई प्रयोग करते है। क्लासीकल शैली, वार्तालाप की शैली और आंचलिक लोकजीवन की शैली भी उनकी कविता में देखी जा सकती है।। सहज वार्तालाप की शैली में कविता लिखना बडे जोखिम का काम है। लेकिन नागार्जुन रार्जनात्मक स्तर पर इस तरह के जोखिम अवसर उठाते हैं।

नागार्जून की कविता में जनसामान्य का दुख दर्द और उल्लटा है। उनकी कविता का पढकार यह अनुभव होता है कि लोकजीवन और प्रकृति के बीच एक अटमट संबंध है। इ प्रकृति में रूप रस 'राम' और रंग के साथ विद्रोह भी है। उनकी कविता में स्थानीयता का बोध है। यह बोध मिट्टी में गहराई तक जगा हुआ है।। नागार्जुन की कविता में भावो का ट है। यह द्वंद्व कविता में प्रखर नाटकीयता पैदा करता है। पछाढ दिया मेरे आस्तिक ने कविता में लोकजीवन के प्रति आकर्षण और सम्मोहन है और दूसरी ओर उसमें आत्मालोच का विवक भी है। वे कला को जीवन के अर्थ में स्टीकार करते है। उनके लिए कला ओर जीवन में अंतरगता है। उन्होने 'कलिदास' कविता में इस बात को गढाना चाहा है। उनकी कविता में जनसामान्य तथा शोषितों के प्रति गहरी करूणा है। अकाल के बाद वा खरदरे पैर में उनके इस मानवीय बोध को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अमानवीय व्यवस्था के प्रति उनमें आक्रोश है। और उन्हे जन सामान्य की सामूहिक शक्ति में विश्वास है। शास की बंदूक कविता में वे इस विचार को अभिव्यजित करते है। शिल्प के स्तार पक्त नागार्जुन निपुणता को महत्व नहीं देते है। उनकी कविता में तथ्य इतने शक्तिशाली है कि वे सहज ही नया शिल्प गढ लेते है। उनकी काव्यभाषा और बिंबों में ताजगी है

व्याख्या

घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है.....याद आते हैं स्वप्न

नागार्जुन छायावादोत्तर कविता में प्रगतिशील धारा के कवि है। उनकी कविता में जनजीवन की संवेदना है। सिदूर तिलकित भाल कविता में कवे एक प्रवासी की मानसिक वेदना का वर्णन करता है। अपने सामाजिक जीवन से अलग होकर मनुष्य बेघरपन का अनुभव करता है। व्यवस्था ने मनुष्य के सदैव को तोडकर रख दिय है कवि इस मीडा को बहुत ही गहराइ से अनुभव करता है। ये अनुभ्सव कवि के द्वारा भोगे गए हैं

परिस्थितियों ने कवि को निर्जन जगह में डाल दिया है। ऐसे क्षणों में उसे पत्नी याद आती है। सिंदूर के रंग में रंगे हुए पत्नी के माथे का बिंब कवि के मानस में चमक उठता है अकेलेपन के क्षणों में प्रेम की अभिलाषा नवीन होकर कवि में बेचैनी पैदा करती है। जीवन संघर्ष के बीच रागमय जीवन के सघन चित्र कवि को जीने के लिए और शघर्ष करने के लिए प्रेरित करते है। मानव संबंधों में जीना चाहता है। इन संबंधो के कारण ही उसमें भाव

का सृजन होता है। मनुष्य एक समुदाय में जीता है जिसमें उसकी सामान्य आस्था और विश्वास होता है। हर मनुष्य को जीने के लिए एक समाज की आवश्यकता होती है और वह दूसरों से सहयोग की अपेक्षा रखता है। वह अपने को समाज से अलग रखकर नहीं जी सकता है। कवि अकेलेपन की इस अमानवीयता को तोड़ना चाहता है। वह पत्थर नहीं है, वह सचेतन मानव है, इसलिए उसमें प्रतिरोध की क्षमता है। कवि इन जड़ परिस्थितियों से वेद्रोह करना चाहता है।

वेदना मूल मानवीय मनोभाव है। व्यथा और वेदना को समझकर हम मानवीय मूल्यों को समझ सकते हैं। वेदना मनुष्य में सहानुभूति के भाव पैदा करती है। उसमें जीने का विश्वास भरती है। साधारण सचेतन प्राणी प्रश्न नहीं करते हैं। प्रश्न वही करते हैं जिनमें यथार्थ को ग्रहण करने की शक्ति होती है। यह यथार्थ बोध ही मानव को साधारण प्राणी से विशिष्ट बनाता है। हर्ष-विषाद, दुख-सुख, चिंता और क्रोध मानवीय आवेग हैं। बिना समाज के इन मूलभूत भावावेशों की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यथार्थ, कल्पना, स्मृति, विस्मृति और स्वप्न सभी कुछ भाव के कारण ही मनुष्य में उपलब्ध हैं। भाव सामाजिक जीवन से निकलते हैं। कवि में पत्थर की जड़ता नहीं है, इसलिए उसे अपने स्वप्न का स्मरण हो आता है।

विशेष

1) कविता में यथास्थिति का प्रतिरोध मिलता है।
2) अस्तित्ववादी कविता में जिस अकेलेपन की अवधारणा को विशेष महत्व दिया गया था, उस धारणा को इस कविता में खंडित किया गया है।
3) मुक्त छंद में काव्य को रचा गया है।
4) तुक के माध्यम से काव्य में आंतरिक लय का संगठन किया गया है।

12- सच्चिदानंद हीरानंद वात्सयायन 'अज्ञेय'

जीवन परिचय

अज्ञेय का जन्म देवरिया जनपद (उ.प्र.) के कसया (कुशीनगर) स्थान पर 7 मार्च 1911 को हुआ था। इनका पूरा नाम सच्चिदानंद वात्सयायन 'अज्ञेय' है, जिसमें पिता का नाम हीरानंद भी इन्होंने जोड़ लिया था। अज्ञेय के पिता श्री हीरानंद पुरातत्व विभाग में उच्च पदाधिकारी थे, जो उस समय खुदायी शिविर में रह रहे थे। वहीं 'अज्ञेय' का जन्म हुआ। पिता के साथ इन्हें श्रीनगर, लाहौर, पटना, नालंदा, लखनऊ, बड़ौदा, मद्रास, उटकमंड आदि बहुत से स्थानों के भ्रमण का मौका मिला। फलस्वरूप इनकी शिक्षा भी व्यवस्थित रूप से किसी एक स्थान पर नहीं हुई। इन्होंने 1925 में पंजाब से हाई स्कूल तथा मद्रास से इंटर की परीक्षा साइंस विषय में दी। लाहौर से बी.एस.सी.की परीक्षा इन्होंने 1929 में उत्तीर्ण की। स्वाध्याय से इन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी भाषा और साहित्य का भी 'अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था।

1937 ई. में अज्ञेय को सैनिक पत्रिका और पुनः कलकत्ता से निकलने वाले 'विशाल भारत' के संपादन का दायित्व मिला। इसी पत्र के माध्यम से ये सच्चिदानंद वात्सयायन 'अज्ञेय' के नाम से साहित्य जगत में प्रतिष्ठित हुए। सन 1939 में इन्होंने आल इण्डिया रेडियो में नौकरी कर ली, लेकिन इस उबाऊ काम से मुक्ति प्राप्त कर वे 1943 ई. में सेना में भर्ती हो गये। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय उन्हें कुछ दिनों तक असम और बर्मा के मोर्चों पर भी रहना पड़ा। 1946 में इन्होने सेना की नौकरी छोड़ दी और 1947 में प्रतीक नामक हिन्दी पत्र का सम्पादन शुरू किया। 1955 में ये यूनेस्को के आमंत्रण पर पश्चिमी यूरोप की यात्रा पर गये। तभी से इनकी विदेश यात्राओं का दौर शुरू हुआ। 1961 में इन्हें कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति और साहित्य के अध्यापक के रूप में नियुक्ति मिली। यहाँ से इन्होंने पूरे अमेरिका का भ्रमण किया। 1966 ई. में इन्होंने रूमानिया, यूगोस्लाविया, मंगोलिया, रूस आदि देशों की यात्राएं की। 1965 में इन्हीं हिन्दी के प्रसिद्ध पत्र दिनमान का संपादक नियुक्त किया गया। कुछ समय तक इन्होंने जोधपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के निदेशक पर पर भी कार्य किया। इस प्रकार साहित्य के साथ ही अज्ञेय ने हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

राहुल सांकृत्यायन के बाद अज्ञेय ने हिन्दी के साहित्यकारों में सबसे अधिक यात्राएं की है। इनके लेखन और व्यक्तित्व पर इन यात्राओं का गहरा प्रभाव पड़ा था। आंगन के पार द्वार पर इन्हें 1964 में साहित्य अकादमी और 1978 में कितनी नावों पर कितनी बार शीर्षक काव्य ग्रन्थ पर भारतीय ज्ञान पीठ का सर्वोच्च पुरस्कार मिला।

अज्ञेय की काव्य-चेतना का मूल स्वर आत्मनिष्ठ और व्यक्तिवादी है। सैनिक सेवा और किसान आंदोलन से जुड़े रहकर भी वे सामान्य जनजीवन के साथ अपने को जोड़ नहीं पाए। सामाजिक जीवन से गहन रागात्मकता उनके काव्य में कहीं दिखाई नहीं देती।

अज्ञेय के प्रथम काव्य-संग्रह 'भग्नदूत' में प्रणय की अतृप्त आकांक्षा भविष्य की 'अंधेरे की चिंताएँ' बनकर प्रकट हुई है। 1942 में प्रकाशित काव्यकृति 'चिंता' प्रसाद की 'कामायनी' के चिंता सर्ग की गहरी छाप लिए हुए है। इसमें 'अज्ञेय' ने पुरुष और नारी के परस्पर संबंध को पति-पत्नी के सामाजिक संबंध तक सीमित न रखकर चिरंतन पुरुष और चिरंतन नारी के गतिशील संबंध के रूप में स्वीकार किया है। 'इत्यलम्' की भी लगभग यही स्थिति है।

'हरी घास पर क्षण भर' (1949), 'बावरा अहेरी' (1954) और 'इन्द्रधनु रौंदे हुए' (1957) रचनाओं में अज्ञेय की व्यक्ति-चेतना निरंतर एक दर्शन के रूप में संघनित होते हुए दिखाई देती है। 'आंगन के पार द्वार' (1961) तक आते-आते 'अज्ञेय' का व्यक्ति चिंतन भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की तत्व-विचार संबंधी अवधारणाओं के सार को अपने मनोनुकूल ढालकर एक नया दर्शन खड़ा करता है। इस संग्रह की 'असाध्य वीणा' शीर्षक कविता में कवि ने बौद्ध कालीन परिवेश की सृष्टि कर जगतव्यापी मौन की एकात्मकता का प्रतिपादन किया है। इस कविता का वीणावादक 'केश कंबली' भारतीय दर्शन का प्रसिद्ध अजित केशकंबली है, जो भौतिकवादी और सामाजिक विषमता को रेखांकित करने के लिए विख्यात है। लेकिन उसे 'अज्ञेय' ने अपनी व्यक्तिवादी चेतना की पुष्टि के लिए सामाजिक समता का अग्रदूत बना दिया है। उसकी वीणा की झंकृति से राजा-रानी, किसान-मजदूर, जनता, तिजोरियाँ भरकर रखने वाले सेठ साहूकार और रंक-भिखारी सभी समान रूप से आह्लादित होते हैं। सत्यान्वेषण की यह छद्म प्रकृति अज्ञेय के काव्य में प्रायः दिखाई पड़ती है।'असाध्य वीणा' के साथ ही 'यह दीप अकेला' 'नदी के द्वीप', 'सोन मछली', 'एक बूँद' आदि कविताओं में उनकी व्यक्तिवादी अद्वितीयता की भावना समान रूप से व्यक्त हुई है।

जिस उच्च मध्यवर्गीय वैयक्तिक चेतना को अज्ञेय ने अपने काव्य की विषयवस्तु बनाया है, उसका सीधा असर उनकी कविताओं के संरचना-शिल्प पर भी पड़ा है। भाषा की दृष्टि से अज्ञेय ने प्रायः सामान्य बोल-चाल की भाषा के शब्दों का ही प्रयोग अधिक किया है। लेकिन इन साधारण शब्दों में एक विशेष प्रकार की सांकेतिकता, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, बिम्बधर्मिता आदि का समावेश किया है, वह इनकी काव्य-प्रतिभा का सशक्त प्रमाण है।'कलँगी बाजरे की' शीर्षक कविता में नये उपमानों की आवश्यकता रेखांकित करते हुए अपने समूचे काव्य में इन्होंने नवनिर्मित उपमानों के प्रयोग का जो कौशल दिखलाया है, वह पाठक को पूरी तरह चमत्कृत कर देता है।'पति-सेवारत/ सांझ/ उचकता देख पराया चाँद/

ललाकर ओट हो गयी।' 'उड़ गयी चिड़िया/ काँपी फिर/ थिर/ हो गयी पत्ती।', -चांद चितेरा/ आंक रहा है शरद नभ में/ एक चीड़ का खाका' इस प्रकार के प्रतीकों, बिंबों और लाक्षणिक प्रयोगों से अज्ञेय ने अपनी शैली को अत्यंत आकर्षक बनाया है। शिल्प के संबंध में अज्ञेय की सबसे बड़ी विशेषता है, मौन का प्रयोग। यद्यपि यह विशेषता उन्होंने पाश्चात्य काव्यधारा के प्रभाव से ग्रहण की है, फिर भी अपनी कविता में अवकाश-अंतराल छोड़कर मौन का अत्यंत मौलिक और कुशल प्रयोग भी किया है।'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' शीर्षक काव्य संग्रह में इस सन्नाटे या मौन का अत्यंत सफल प्रयोग अज्ञेय ने किया है। सब मिलाकर इनके काव्य का संरचना-शिल्प अत्यंत आकर्षक और प्रभावशली है, जो इन्हें एक सजग रूपवादी कलाकार सिद्ध करता है।

लगातार यायावरी (यात्राओं) के कारण'अज्ञेय' किसी एक स्थान पर स्थिर न रह पाने के बावजूद निरंतर साहित्य-रचना में निरत रहे। हिंदी में सर्वाधिक रचना का श्रेय इन्हें प्राप्त है। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं :

काव्य : 'भग्नदूत', 'चिंता', 'इत्यलम', 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करूणा प्रभामय', 'आंगन के पार-द्वार', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ', 'सागर मुद्रा', 'महावृक्ष के नीचे', 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ'।
उपन्यास : 'शेखर : एक जीवनी' (दो भागों में), 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी'।
कहानी संग्रह : 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'शरणार्थी', 'जय दोल', 'ये तेरे प्रति रूप' आदि।
गीति-नाट्य : 'उत्तर प्रियदर्शी'।
निबंध-संग्रह : 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'हिंदी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', 'सबरंग और कुछ राग', 'भवन्ती', 'अंतरा', 'लिखि कागद कोरे', 'जोग लिखी', 'अद्यतन', 'आल बाल', 'संवत्सर' आदि।
यात्रा-वृत्त : 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूँद सहसा उछली'।
अनुवाद : 'त्याग पत्र' (जैनेन्द्र) और 'श्रीकांत' (शरदचन्द्र) उपन्यासों का अंग्रेज़ी में अनुवाद।

कलगी बाजरे की

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।

अगर मैं तुम को ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई,
टटकी कली चम्पे की, वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।

बल्कि केवल यही : ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।

कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।
मगर क्या तुम नहीं पहचान पाओगी :
तुम्हारे रूप के - तुम हो, निकट हो, इसी जादू के -
निजी किस सहज, गहरे बोध से, किस प्यार से मैं कह रहा हूँ -
अगर मैं यह कहूँ -
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की?

आज हम शहरातियों को
पालतू मालंच' पर सँवरी जुही के फूल से
सृष्टि के विस्तार का - ऐश्वर्य का - औदार्य का -
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा एक प्रतीक
बिछली घास है,
या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर दोलती कलगी अकेली
बाजरे की।

और सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है -
और मैं एकान्त होता हूँ समर्पित।

शब्द जादू हैं -
मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है?

यह दीप अकेला

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इस को भी पंक्ति को दे दो।

यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा?

यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इस को भी पंक्ति को दे दो।

यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग-संचय,
यह गोरस : जीवन-कामधेनु का अमृत-पूत पय,
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय,
यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुत : इस को भी शक्ति को दे दो।
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इस को भी पंक्ति को दे दो।

यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा,
वह पीड़ा, जिस की गहराई को स्वयं उसी ने नापा;
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़ुवे तम में
यह सदा-द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखंड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय, इस को भक्ति को दे दो
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इस को भी पंक्ति को दे दो।

सागर-मुद्रा-6

सागर के किनारे
हम सीपियाँ-पत्थर बटोरते रहे,
सागर उन्हें बार-बार
लहर से डुलाता रहा, धोता रहा।

फिर एक बड़ी तरंग आयी
सीपियाँ कुछ तोड़ गयी,
कुछ रेत में दबा गयी,
पत्थर पछाड़ के साथ बह गये।
हम अपने गीले पहुँचे निचोड़ते रह गये,
मन रोता रहा।

फिर, देर के बाद हम ने कहा : पर रोना क्यों?
हम ने क्या सागर को इतना कुछ नहीं दिया?
भोर, साँझ, सूरज-चाँद के उदय-अस्त,
शुक्र तारे की थिर और स्वाती की कँपती जगमगाहट,
दूर की बिजली की चदरीली चाँदनी,
उमस, उदासियाँ, धुन्ध,
लहरों में से सनसनाती जाती आँधी.....
काजल-पुती रात में नाव के साथ-साथ
सारे संसार की डगमगाहट :
यह सब क्या हम ने नहीं दिया?

लम्बी यात्रा में
गाँव-घर की यादें,
सरसों का फूलना,
हिरनों की कूद, छिन चपल छिन अधर में टँकी-सी,
चीलों की उड़ान, चिरौटों-कौओं की ढिठाइयाँ,
सारसों की ध्यान-मुद्रा, बदलाये ताल के सीसे पर अँकी-सी,
वन-तुलसी की तीखी गन्ध,
ताजे लीपे आँगनों में गोयठों पर
देर तक गरमाये गये दूध की धुईली वास

जेठ की गोधूली की घुटन में कोयल की कूक,
मेड़ों पर चली जाती छायाएँ,
खेतों से लौटती भटकती हुई तानें
गोचर में खंजनों की दौड़,
पीपल-तले छोटे दिवले की
मनौती-सी ही डरी-सहमी लौ-
ये सब भी क्या हम ने नहीं दीं?

जो भी पाया, दिया :
देखा, दिया :
आशाएँ, अहंकार विनतियाँ, बड़बोलियाँ,
ईर्ष्याएँ, प्यार, दर्द, भूले अकुलाहटें,
सभी तो दिये :
,जो भोगा, दिया; नहीं भोगा, वह भी दिया;
जो सँजोया, दिया
जो खोया, दिया
इतना ही तो बाकी था कि कह सकें
जो बताया वह भी दिया?

कि अपने को देख सके
अपने से अलग हो कर
अपनी इयत्ता माप सके
...और सह सके?

हरी घास पर क्षण भर

आओ बैठें
इसी ढाल की हरी घास पर।
माली-चौकीदारों का यह समय नहीं है,
और घास तो अधुनातन मानव-मन की भावना की तरह
सदा बिछी है - हरी, न्यौतती, कोई आ कर रौंदे।

आओ, बैठो।
तनिक और सट कर, कि हमारे बीच स्नेह-भर का व्यवधान रहे, बस,
नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की।

चाहे बोलो, चाहे धीरे-धीरे बोलो, स्वगत गुनगुनाओ
चाहे चुप रह जाओ-
हो प्रकृतस्थ : तनो मत कटी-छँटी उस बाड़ सरीखी,
नमो, खुल खिलो, सहज मिलो
अन्तःस्मित, अन्तःसंयत हरी घास-सी।

क्षण-भर भुला सकें हम
नगरी की बेचैन बुदकती गड्ड-मड्ड अकुलाहट -
और न मानें उसे पलायन;
क्षण-भर देख सकें आकाश, धरा, दूर्वा, मेघाली,
पौधे, लता दोलती, फूल, झरे पत्ते, तितली-भुनगे,
फुनगी पर पूँछ उठा कर इतराती छोटी-सी चिड़िया-
और न सहसा चोर कह उठे मन में-
प्रकृतिवाद है स्खलन
क्यों कि युग जनवादी है।

क्षण-भर हम न रहें रह कर भी :
सुनें गूँज भीतर के सूने सन्नाटे में किसी दूर सागर की लोल लहर की
जिस की छाती की हम दोनों छोटी-सी सिहरन हैं-
जैसे सीपी सदा सुनी करती है।

छड़ भर लय हो- मैं भी तुम भी,
और न सिमटे सोच कि हम ने
अपने से भी बड़ा किसी भी अपर को क्यों माना?

क्षण भर अनायास हम याद करें
तिरती नाव नदी में,
धूल भरे पथ पर असाढ़ की भभक, झील में साथ तैरना,
हँसी अकारण खड़े महा वट की छाया में,
बदन धाम से लाल, स्वेद से जमी अलक लट
चीड़ों का वन, साथ साथ दुलकी चलते दो घोड़े,
गीली हवा नदी की फूले नथुनें भर्रायी सीटी स्टीमर की,
खंडहर ग्रथित अंगुलियाँ बाँसे का मधु
डाकिये के पैसे की चाँप,
अधजानी बबूल की धूल मिली सी गन्ध,
झरा रेशम शिरीष का कविता के पद
मसजिद के गुम्बद के पीछे सूर्य डूबता धीरे धीरे
झरने के चमकीले पत्थर मोर मोरनी घुँघरू
सन्थाली झूमुर का लम्बा कसक भरा आलाप
रेल का आह की तरह धीरे धीरे खिंचना लहरें
ऑधी पानी,
नदी किनारे की रेती पर बिते भर की छाँह झाड़ की
अंगुल अंगुल नाप नाप कर तोडे तिनकों का समूह
लू,
मौन।

याद कर सके अनायास और न माने
हम अतीत के शरणार्थी हैं
स्मरण हमारा - जीवन के अनुभव का प्रत्यवलोकन
हमें न हीन बनावे प्रत्यमिमुख होने के पाप बोध से।
आओ बैठो - क्षण भर
यह क्षण हमें मिला है नहीं नगर सेठों की फैयाजीय से
हमें मिला है यह अपने जीवन की निधि से ब्याज सरीखा।

आओ बैठो क्षण भर तुम्हें मिलाऊँ ।
अपनी जानी एक एक रेखा पहनाऊँ।
चेहरे की आँखों की - अन्तर्मन की
और - हमारी साड़ी की अनगिन स्मृतियों की
तुम्हें निहारूँ
झिझक न हो कि निरखना दबी वासना की विकृति है।

धीरे धीरे
धुँधले में चेहरे की रेखाएँ मिट जायें
केवल नेत्र जगे : उतनी ही धीरे
हरी घास की पत्ती पत्ती भी मिट जाये लिपट झाड़ियों के पैरों में
और झाड़ियां भी घुल जायवे क्षिति रेखा के भषृण ध्वान्त में
केवल बना रहे विस्तार - हमारा बोध
मुक्ति का,
सीमाहीन खुलेपन का ही।

चलो, उठें अब,
अब तक हम थे बन्धु सैर को आये -
(देखे है। क्या कमी घास पर लोट पोट होते सतभैये शोर मचाते?)

और रहे बैठे तो लोग कहेंगे
धुँधले ने दुबके प्रेमी बैठे है।

वह हम हों भी तो वह हरी घास ही जाने ।
(जिस के खुले निमन्त्रण के बल जग ने सदा उसे रौंदा है
और वह नहीं बोली)
नहीं सुने हम वह नगरी के नागरिकों से
जिन की भाषा में अतिशय चिकनाई है साबुन की
किन्तु नहीं है करूणा।

उठो चलें, प्रिय ।

असाध्य वीणा

आ गये प्रियवंद! केशकम्बली! गुफा-गेह!
राजा ने आसन दिया। कहा :
'कृतकृत्य हुआ मैं तात! पधारे आप।
भरोसा है अब मुझ को
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी!

लघु संकेत समझ राजा का
गण दौड़े। लाये असाध्य वीणा,
साधक के आगे रख उस को, हट गये।
सभी की उत्सुक आँखें
एक बार वीणा को लख, टिक गयीं
प्रियवंद के चेहरे पर।

'यह वीणा उत्तराखण्ड के गिरि-प्रान्तर से
-- घने वनों में जहाँ तपस्या करते हैं व्रतचारी --
बहुत समय पहले आयी थी।
पूरा तो इतिहास न जान सके हम :
किन्तु सुना है
वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस
अति प्राचीन किरीट-तरु से इसे गढ़ा था --
उस के कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने
कन्धों पर बादल सोते थे,
उस की करि-शुण्डों-सी डालें
हिम-वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थीं परित्राण,
कोटर में भालू बसते थे,
केहरि उस के वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे।
और - सुना है - जड़ उस की जा पहुँची थी पाताल लोक
उस की ग्रन्थ-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि सोता था।
उसी किरीटी-तरु से वज्रकीर्ति ने
तेरा जीवन इसे गढ़ा :
हृष्ट साधना यही थी उस साधक की --
वीणा पूरी हुई, साथ साधना, साथ ही जीवन-लीला।

राजा रुके साँस लम्बी ले कर फिर बोले
'मेरे हार गये सब जाने-माने कलावन्त,
सब की विद्या हो गयी अकारथ, दर्प चूर,
कोई ज्ञानी गुणी आज तक इसे न साध सका।
अब यह असाध्य वीणा ही खगत हो गयी।
पर मेरा अब भी है विश्वास
कृच्छ्र-तप वज्रकीर्ति का व्यर्थ नहीं था।
वीणा बोलेगी अवश्य, पर तभी
इसे जब सच्चा-स्वरसिद्ध गोद में लेगा।
तात! प्रियवंद! लो, यह सम्मुख रही तुम्हारे
वज्रकीर्ति की वीणा,
यह मैं, यह रानी, भरी सभा यह :
सब उदग्र, पर्युत्सुक,
जन-मात्र प्रतीक्षमाण!

केशकम्बली गुफा-गेह ने खोला कम्बल।
धरती पर चुप-चाप बिछाया।
वीणा उस पर रख, पलक मूँद कर, प्राण खींच,
कर के प्रणाम,
अस्पर्श छुअन से छुए तार।
धीरे बोला : राजन्! पर मैं तो
कलावन्त हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ -
जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी।
वज्रकीर्ति!
प्राचीन किरीटी-तरु!
अभिमन्त्रित वीणा!
'ध्यान-मात्र इन का तो गद्गद विह्वल कर देने वाला है!

चुप हो गया प्रियवंद।
सभा भी मौन हो रही।

वाद्य उठा साधक ने गोद रख लिया।
धीरे-धीरे झुक उस पर, तारों पर मस्तक टेक दिया।
सभा चकित थी - अरे, प्रियवंद क्या सोता है?
केशकम्बली अथवा हो कर पराभूत
झुक गया वाद्य पर?
वीणा सचमुच क्या है असाध्य?

पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साथ रहा था बीणा-
नहीं स्वयं अपने को शौंध रहा था।
सघन निविड में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी तरू को।
कौन प्रियवद है कि दम्भ कर
इस अभिमंन्त्रित कारूवाद्य के सम्मुख आवे?
कौन बजाये
वह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही?·
भूल गया था केशकम्बली राज सभा कोः
कम्बल पर अभिमन्त्रित एक अकेलेपन में डूब गया था
जिस में साक्षी के आगे था।
जीवित वही किरीटी तरू
जिस की जड़ वासुकि के कण पर थी आधारित
जिस के कन्धों पर बादल सोते थे
और कान में जिस के हिमगिरि कहते थे अपने रहस्य।
सम्बन्धित कर उस तरू को, करता था
नीरव एकालाप प्रियवंदा।

ओ विशाल तरू।
शत सहस्र पल्लवन पतझरों ने जिस का नित रूप सँवारा
कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी,
दिन भर भौंरे कर गये गुँजरित,
रातों में झिल्ली ने
अनकथ मंगल गान सुनाये,
साँझ सवेरे अनगिन
अनचीन्हे खग कुल की माँद भरी क्रीड़ा काकलि
डाली डाली को कँपा गयी -
ओ दीर्घकाय।
ओ पूरे झारखण्ड के अग्रज
तात, सखा, गुरू, आश्रय,
त्राता महच्छाय,
ओ व्याकुल मुखरित वन ध्वनियों के
वृन्दगान के मूर्त रूप,

मैं तुझे सुनूँ
देखूँ ध्याऊँ
अनिमेष, स्तब्ध, संयत, संयुत निर्वाक,
कहाँ साहस पाऊँ
छू सकूँ तुझे ।
तेरी काया को छेद, बांध कर रखी गयी जीवन को
किस स्पर्धा से
हाथ करे आघात
छीनने को तारों से
एक चोट में वह संचित संगीत जिसे रचने में
स्वयं न जाने कितनी के स्पन्दित प्राण रच गये।

नहीं नहीं! वीणा यह मेरी गोद रखी है रहे
किन्तु मैं ही तो
तेरी गोदी बैठा माँद भरा बालक हूँ
ओ तरू-तात! सँभाल मुझे
मेरी हल किलक
पुलक में डूब जाय
मैं सुनूँ
सुनूँ
विस्मय से भर आँके
तेरे अनुभव का एक एक अन्तस्वर
तेरे दोलन की लोरी पर झूमूँ मैं तन्मय
गा तू :
तेरी लय पर मेरी साँसे
भरे पुरे रीते, विश्रान्ति पाये।

गा तू:
यह वीणा रखी है : तेरा अंग अपंग।
किन्तु अंगी, तू अक्षत, आत्म भरित
रस बिन्दु
तू गा
मेरे अंधियारे अन्तस में आलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का -

'हाँ, मुझे स्मरण है
बदली - कौंध - पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पट-पट।
घनी रात में महुए का चुप-चाप टपकना।
चौंके खग-शावक की चिहुँक।
शिलाओं को दुलराते धन-झरने के
द्रुत लहरीले जल का कल-निदान।
कुहरे में छन कर आती
पर्वती गाँव के उत्सव-ढोलक की थाप।
गड़रियों की अनमनी बाँसुरी।
कटफोड़े का ठेका। फुलसुँघनी की आतुर फुरकन :
ओस-बूँद की टरकन - इतनी कोमल, तरल, कि झरते-झरते मानो
हरसिंगार का फूल बन गयी।
भरे शरद् के ताल, लहरियों की सरसर-ध्वनि।
कूँजों का क्रेंकार। काँद लम्बी टिट्टिभ की।
पंख-युक्त सायक सी हंस-बलाका
घीड़-वनों में गन्ध-अन्ध उन्मद पतंग की जहाँ-तहाँ टकराहट
जल-प्रपात का प्लुत एकस्वर।
झिल्ली-दादुर, कोकिल-चातक की झंकार पुकारों की यति में
संसृति की साँय-साँय।

'हाँ, मुझे स्मरण है:
दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़
हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा हो युथ।
घरघराहट चढ़ती बहिया की।
रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप।
झंझा की फुफकार, तप्त,
पेड़ों का अररा कर टूट-टूट कर गिरना।
ओले की कर्री चपत।
जमे पाले से तनी कटारी-सी सूखी घासों की टूटन।
एठी मिट्टी का स्निग्ध घास में धीरे-धीरे रिसना।
हिम-तुषार के फाहे धरती के घावों को सहलाते चुप-चाप।
घाटियों में भरती
गिरती चट्टानों की गूँज --
काँपती मन्द्र गूँज -- अनुगूँज -- साँस खोयी-सी, धीरे-धीरे नीरव।

'मुझे स्मरण हैं
हरी तलहटी में, छोटे पेड़ों की ओट ताल पर
बँधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर-तृप्त पुकारें :
गर्जन, घुर्घुर, चीख, मूँक, हुक्का, चिचियाहटें।
कमल-कुमुद-पत्रों पर चोर-पैर द्रुत धावित
जल-पंछी की चाप।
थाप दादुर की चकित छलाँगों की।
पन्थी के घोड़ें की टाप अधीर।
अचंचल धीर थाप भैंसों के भारी खुर की।

'मुझे स्मरण है :
उझक क्षितिज से
किरण भोर की पहली
जब तकती है ओस-बूँद को
उस क्षण की सहसा चौंकी-सी सिहरन।
और दुपहरी में जब
घास-फूल अनदेखे खिल जाते हैं
मोमाखियाँ असंख्य झूमती करती हैं गुंजार --
उस लम्बे विलमे क्षण का तन्द्रालस ठहराव।
और साँझ को
जब तारों की तरल कँपकँपी
स्पर्शहीन झरती है –
मानो नभ में तरल नयन ठिठकी
निःसंख्य सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद --
उस सन्धि-निमिष की पुलकन लीयमान।

'मुझे स्मरण है :
और चित्र प्रत्येक
स्तब्ध, विजड़ित करता है मुझ को।
सुनता हूँ मैं
पर हर स्वर-कम्पन लेता है मुझ को मुझ से सोख
वायु-सा नाद-भरा मैं उड़ जाता हूँ।.....
मुझे स्मरण है -
पर मुझ को मैं भूल गया हूँ :

सुनता हूँ मैं --
पर मैं मुझ से परे, शब्द में लीयमान।

'मैं नहीं, नहीं! मैं कहीं नहीं!
ओ रे तरु! औ वन!
ओ स्वर-संभार!
नाद-मय संसृति!
ओ रस-प्लावन!
मुझे क्षमा कर - भूल अकिंचनता को मेरी --
मुझे ओट दे - ढँक ले - छा ले --
ओ शरण्य!
मेरे गूँगेपन को तेरे सोये स्वर-सागर का ज्वार डुबा लो
आ, मुझे भुला,
तू उतर बीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा --
अपने खग-कुल को मुखरित कर
अपनी छाया में पले मृगों की चौकड़ियों को ताल बाँध,
अपने छायातप, वृष्टि-पवन पल्लव-कुसुमन की लय पर
अपने जीवन-संचय को कर छन्दयुक्त,
अपनी प्रज्ञा को वाणी दे!
तू गा, तू गा --
तू सन्निधि पा - तू खो
'तू आ - तू हो - तू गा। तू गा!'

राजा जागे।
समाधिस्थ संगीतकार का हाथ उठा था --
काँपी थीं उँगलियाँ।
अलग अँगड़ाई ले कर मानों जाग उठी थी वीणा
किलक उठे थे स्वर-शिशु
नीरव पदा रखता जालिक खयायी
सधे करों से धीरे धीरे धीरे
डाल रहा था जाल हेम-तरो का !

सहसा वीणा झनझना उठी --

संगीतकार की आँखों में ठण्डी पिघली ज्वाला-सी झलक गयी –
रोमांच एक बिजली-सा सब के तन में दौड़ गया।
अवतरित हुआ संगीत
स्वयम्भू
जिस में सोता है अखण्ड
ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय।

डूब गये सब एक साथ।
सब अलग-अलग एक की पार तिरे।

राजा ने अलग सुना :
जय देवी यशःकाय
वरमाल लिये
गाती थी मंगल-गीत,
दुन्दुभी दूर कहीं बजती थी,
राज-मुकुट सहसा हलका हो आया था, मानो हो फूल सिरिस का
ईर्ष्या, महदाकांक्षा, द्वेष, चाटुता
सभी पुराने लुगड़े से झर गये, निखर आया था जीवन-कांचन
धर्म-भाव से जिसे निछावर वह कर देगा।

रानी ने अलग सुना :
छँटती बदली में एक छौंध कह गयी –
तुम्हारे ये मणि-माणक, कण्ठहार, पट-वस्त्र,
मेखला-किंकिणि –
सब अन्धकार के कण हैं ये! आलोक एक है
प्यार अनन्य! उसी की
विद्युल्लता घेरती रहती है रस-भार मेघ को,
थिरक उसी की छाती पर उस में छिप कर सो जाती है
आश्वस्त, सहज विश्वास-भरी।
रानी
उस एक प्यार को साधेगी।

सब ने भी अलग-अलग संगीत सुना।
इस को

वह कृपा वाक्य था प्रभु जी का ।
उस को
आतंक-मुक्ति का आश्वासन ।
इस को
वह भरी तिजोरी में सोने की खनक।
उसे
बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की साँधी खुशबू।
किसी एक को नयी वधू की सहमी सी पायल ध्वनि।
किसी दूसरे को शिशु की किलकारी।
एक किसी को जाल फँसी मछली की तड़पन -
एक अपर को चहक मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की।
एक तीसरे को मण्डी की ठेलमठेल ग्राहकों की आस्पर्धा भरी बोलियाँ
चौथे को मन्दिर की ताल युक्त घण्टा ध्वनि ।
और पाँचवें को लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटे।
और छठे को लंगर पर कसमसा रही नौका पर लहरों की अविराम थपक।
बटिया पर चमरौधे की रूँधी चाप सातवें के लिए -
और आठवें को कुलिया की कटी मेड़ से बहते जल की छुल-छुल।
इसे गमक नट्टिन की एड़ी के घुँमरू की ।
उसे युद्ध का ढोल ।
इसे संझा-गोधूली की लघु टुन-टुन -
उसे प्रलय का डमरू-नाद।
इस को जीवन की पहली अँगडाई।
पर उस को महाजृम्भ विकराल काल!
सब डूबे तिरे, डिपे, जागे -
हो रहे वंशवद, स्तब्ध :
इयत्ता सब की अलग अलग जागी,
संघीत हुई
पा गयी विलय।

वीणा फिर मूक हो गयी।

साधु, साधु !

राजा सिंहासन से उतरे -
रानी ने अर्पित की सतलड़ी माल,
'हे स्वरजित्! धन्य! धन्य!!'

संगीतकार
वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक - मानो
गोदी में सोये शिशु को पालने डाल कर मुग्धा माँ
हट जाय, दीठ से दुलराती --
उठ खड़ा हुआ।
बढ़ते राजा का हाथ उठा करता आवर्जन,
बोला :
'श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में --
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था --
सुना आप ने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
'सब में गाता है।'

नमस्कार कर मुड़ा प्रियवंद केशकम्बली।
ले कर कम्बल गेह-गुफा को चला गया।
उठ गयी सभा। सब अपने-अपने काम लगे।
युग पलट गया।

प्रिय पाठक! यों मेरी वीणा भी
मौन हुई।

हिरोशिमा

एक दिन सहसा
सूरज निकला
अरे क्षितिज पर नहीं,
नगर के चौक :
धूप बरसी
पर अन्तरिक्ष से नहीं,
फटी मिट्टी से।

छायाएँ मानव-जन की
दिशाहीन
सब ओर पड़ीं - वह सूरज
नहीं उगा था पूरब में, वह
बरसा सहसा
बीचों-बीच नगर के :
काल-सूर्य के रथ के
पहियों के ज्यों अरे टूट कर
बिखर गये हों
दसों दिशा में।

कुछ क्षण का वह उदय-अस्त!
केवल एक प्रज्वलित क्षण की
दृश्य सोख लेने वाली दोपहरी।
फिर?
छायाएँ मानव-जन की
नहीं मिटीं लम्बी हो-हो कर :
मानव ही सब भाप हो गये।
छायाएँ तो अभी लिखी हैं
झुलसे हुए पत्थरों पर
उजड़ी सड़कों की गच पर।

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बना कर सोख गया।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है।

मैंने देखा, एक बूँद

मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रंग गयी क्षण-भर
ढलते सूरज की आग से।

मुझ को दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से!

सोन-मछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली।

रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

कितनी नावों में कितनी बार

कितनी दूरियों से कितनी बार
कितनी डगमग नावों में बैठ कर
मैं तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी-सी ज्योति!
कभी कुहासे में तुम्हें न देखता भी
पर कुहासे की ही छोटी-सी रुपहली झलमल में
पहचानता हुआ तुम्हारा ही प्रभा-मण्डल।
कितनी बार मैं,
धीर, आश्वस्त, अक्लान्त --
ओ मेरे अनबुझे सत्य! कितनी बार.....
और कितनी बार कितने जगमग जहाज़
मुझे खींच कर ले गये हैं कितनी दूर
किन पराये देशों की बेदर्द हवाओं में
जहाँ नंगे अँधेरों को
और भी उघाड़ता रहता है
एक नंगा, तीखा, निर्मम प्रकाश --
जिस में कोई प्रभा-मण्डल नहीं बनते
केवल चौंधियाते हैं तथ्य, तथ्य -- तथ्य --
सत्य नहीं, अन्तहीन सच्चाइयाँ.....
कितनी बार मुझे
खिन्न, विकल, संत्रस्त --
कितनी बार!

कतकी पूनो

छिटक रही है चाँदनी मंदमाती उन्मादिनी
कलगी मोर सजाव ले कास हुए है। बावले
पकी ज्वार से निकल शशी की जोड़ी गयी फलाँगती -
सन्नाटे में बांक नदी की जगी चमक कर झाँकती ।

कुहरा झीना और महीन, झर-झर पड़े अकासनीम
उजली-लालिम मालती गन्ध के डोरे डालती,
मन में दुबकी है हुला ज्यों परछाई हो चोर की
तेरी बाट अगोरते वे आँखें हुई चकोर की।

बावरा अहेरी

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ
छोटी-छोटी चिड़ियाँ, मँझोले परेवे, बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले डौल के बेडौल
उड़ने जहाज़,
कलस-तिसूल वाले मन्दिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल धुस्सों वाली उपयोग-सुन्दरी
बेपनाह काया को :
गोधूली की धूल को, मोटरों के धुएँ को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-खची तन्वि रूप-रेखा को
और दूर कचरा जलाने वाली कल की उद्दंड चिमनियों को, जो
धुआँ यों उगलती हैं मानों उसी मात्र से अहेरी को हरा देंगी!

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है :
एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़ कर क्या तू चला जायगा?
ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडर की शिरा-शिरा छेद दे आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा दाह कर दूह भर कर दे :
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे से ये कनक-तार तेरे –
बावरे अहेरी।

कविताओं के बारे में

अज्ञेय की बारह कविताओं का अध्ययन हम इस पाठ्यक्रम में करेंगे। 'नदी के द्वीप', 'कलगी बाजरे की', 'हरी घास पर क्षण भर' और 'कतकी पूनो' कविताएँ 'हरी घास पर क्षण भर' नामक काव्य संग्रह से ली गई हैं। इस काव्य कृति का प्रकाशन काल 1949 ई0 है। 'बावरा अहेरी' और 'यह दीप अकेला' कविता 'बावरा अहेरी' काव्य-संग्रह से ली गई है। इस काव्य-संग्रह का प्रकाशन काल 1954 ई0 है। 'हिरोशिमा', 'मैंने देखा एक बूँद' तथा 'सोन मछली', 'अरी ओ करुणा प्रभामय' काव्य सग्रह की कविताएँ हैं। यह काव्य संग्रह 1957 ई0 में प्रकाशित हुआ था। 'असाध्य वीणा' लंबी कविता है। 'आँगन के पार द्वार' काव्य संग्रह में यह कविता संकलित है।'कितनी नावों में कितनी बार' कविता भी है और इसी नाम का एक काव्य-संग्रह भी है, जो 1967 में प्रकाशित हुआ था।

व्यक्ति परंपरा और समाज अज्ञेय के काव्य चिंतन के केन्द्र में हैं। 'नदी के द्वीप' कविता में कवि समाज और व्यक्ति के संबंधों की खोज करता है। सामूहिक जीवन के बीच कवि समाज का महत्व वहीं तक स्वीकारता है जहाँ तक वह व्यक्ति के विकास में सहायक होता है। सामूहिक जीवन के बीच व्यक्ति की निजी अस्मिता को सुरक्षित रखने की अभिलाषा कवि में है। वह अपनी सुरक्षित निजता से ही समाज को पहचानने की कोशिश करता है। कवि की इस कविता में समूह से व्यक्ति के अलग होने की आत्मपीड़ा और नैतिक परेशानी की व्यथा नहीं मिलती है।

'कलगी बाजरे की' कविता में अज्ञेय काव्य-भाषा पर अपनी चिंता प्रकट करते हैं। वस्तुतः अज्ञेय भाव की वास्तविकता को कविता का केन्द्र बिंदु मानते हैं। भाव की सही अभिव्यंजना तभी हो सकती है जब हम भाव को गहरी आत्मीयता से अनुभव करेंगे। भाव का अनुभव हमेशा नया होता है इसलिए कविता में हमेशा नई भाषा की तलाश की आवश्यकता होती है। पुरानी भाषा में नये अनुभवों को नहीं रचा जा सकता है, कविता में भाषा जब अधिक कहती है तो भाव की उपेक्षा हो जाती है। आधुनिक जीवन की शैली ने भाषा को भ्रष्ट बनाया है। कवि का संपूर्ण समर्पण भाव के प्रति है जो भाषा को गढ़ता है।

'हरी घास पर क्षण भर' कविता प्रकृति बोध की कविता है। कविता में प्रकृति से टूटते मानवीय रिश्तों के प्रति दर्द है। अज्ञेय की कविता में प्रकृति का रंग मानव-मन से अलग नहीं है। प्रकृति को बाहर से रौंदने पर मानव के भीतर के भाव नष्ट होते हैं। प्रकृति के प्रति मानवीय होने की आकांक्षा कविता में है। प्रकृति को कवि पलायन के क्षणों में अपनाना नहीं चाहता है। उसके प्रति उसमें सहज आकर्षण है। वह जीवन की सहजता को विकसित करने पर बल देता है। शिष्टता और औपचारिकता ने जीवन को कृत्रिम बना दिया है। कवि इस कृत्रिमता को जीवन से हटाने का पक्षधर है। कविता में जितने भी चित्र और बिंब हैं, वे सूक्ष्म

है और मन को अकर्षित करने वाले हैं।प्रकृति का स्मरण करना अतीतगामी होना नहीं है। प्रकृति का निरीक्षण करते हुए कवि ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाता है जहाँ प्रकृति भाषा और काल के बीच अंतर नहीं रह जाता है। वह उसके साथ एकाकार हो जाता है। कवि चिकनाई युक्त भाषा की जगह मानवीय करूणा के स्पंदन को कविता में प्रतिष्ठित करना चाहता है। 'कतकी पूनो' कविता में श्रेष्ठ प्राकृतिक बिंब देखने को मिलते है।। कवि कास के फूटने का चित्र प्रस्तुत करता है। वस्तुतः कवि सृजनात्मक संभावना के बीच जीवन के उल्लास को पहचानता है कवि इस सृजनात्मक संभावना की अभिव्यंजना के लिए ऐसे बिंबों का प्रयोग करता है जो अकेले और स्वतंत्र रूप में गतिशील है। भावों के कुहासे के बीच कवि रचनात्मक संभावना की बाट जोहता है।

'बावरा अहेरी' समय की गति का प्रतीक है। वह काल का प्रतीक है जिससे सृष्टि को गति मिलती है। उसकी महागति के सामने कुछ भी अवध्य नहीं है। कवि उसके सामने समर्पित है। 'यह दीप अकेला' कविता अज्ञेय के चिंतन की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है और कवि के व्यक्तिवादी दर्शन को प्रतिफलित करती है। व्यक्ति को कवि समाज के सारभूत रूप में प्रस्तुत करता है। यह व्यक्ति समाज से निरपेक्ष और आत्मसुरक्षित है।

'हिरोशिमा' कविता में कवि अणु बम से पैदा हुई भयावहता का वर्णन करता है। हिरोशिमा शहर में अणुबम गिराया गया था। अणु के विस्फोट से आग का गोला प्रकट हुआ और समूचा शहर उसमें जल उठा। अणु बम से उत्पन्न विभीषिका को आज भी उस शहर में देखा जा सकता है। मानव ने परमाणु बम बनाया और यह बम संपूर्ण मानवीयता को सोख गया। हिरोशिमा के जले हुए शहर मानव की इस क्रूरता के गवाह हैं। 'मैने देखा एक बूँद' कविता में कवि क्षण के महत्व को प्रतिपादित करता है।सागर की लहरों के बीच एक बूँद एक इकाई है। कवि उस समय की इकाई में आनंदित होकर जीना चाहता है। समय के प्रवाह में कवि पूर्ण क्षण की खोज करता है । जीवन का पूर्ण क्षण नश्वरता के विरूद्ध खड़ा होता है। उसका एक कालातीत आयाम है। 'सोन मछली' कविता में कवि आंतरिक वास्तविकता को प्रस्तावित करता है, अन्तर्मन की जिजीविषा के महत्व को प्रतिष्ठित करता है। कविता का मूल भाव है कि सर्जनात्मक कर्म में रूप और अर्थ का तनाव होता है।

'असाध्य वीणा' कविता जापानी लोककथा पर आधारित है। असाध्य वीणा की संक्षेप में कहानी यह है कि एक राजा के पास वज्रकीर्ति द्वारा निर्मित एक ऐसी वीणा है जिसे कोई साध नहीं पाता था। अंततः उसके निमंत्रण पर एक बार प्रियंवदा केशकंबली नामक एक साधक उसकी सभा में उपस्थित हुआ, उसने वीणा को साधकर दिखला दिया। उसके उत्तर में सभा में उपस्थित सभी व्यक्तियों ने अपना अपना सत्य पाया। असाध्य वीणा की रचना किरीट तक से की गई थी।यह वृक्ष भव्य और दिव्य जीवन का प्रतीक था। इसे बजाने के

लिए सच्चा स्वरसिद्ध चाहिए। कवि ने असाध्य वीणा में सर्जनात्मक रहस्य को समझाने का प्रयत्न किया है।संपूर्ण समर्पण के क्षणों में श्रेष्ठ रचना संभव है। वैयक्तिक अर्ह का विस्मरण कर जब साधक सृष्टि के साथ लय हो जाता है तब रचनात्मक चमत्कार पैदा होता है। प्रियंवद के वीणा साधे जाने पर जो संगीत अवतरित होता है, उसका प्रभाव व्यापक है। वह एक ही समय में अनेक व्यक्तियों के लिए अलग अलग रूपों को अभिव्यक्ति देता है। अंत में साधक कहता है शून्य और मौन के द्वारा वीणा को साधना संभव हुआ। अज्ञेय के लिए रचना की बड़ी सार्थकता उस गरिमा में निहित है जो मौन और शून्य से फूटती है।

'कितनी नावों में कितनी बार' कविता जीवन यात्रा के बीच प्राप्त किए गये अनुभव सत्य की कहानी कहती है।कवि की प्रवृत्ति अन्वेषण की रही है। उसने सत्य को प्राप्त करने के लिए कई डगमग नावों में यात्रा की है। नाव की डगमगाहट विचारों का स्खलन है। अपने भाव के बीच वह छोटी सी ज्योति को प्राप्त करता है। यह ज्योति उसके अपने भाव सत्य और अनुभव सत्य का पुंज है। कवि को जीवन में कितने ही विचारों ने आकर्षित किया। पराये देश की बेदर्द हवाओं की तरह ये विचारउसमें संत्रास पैदा करते थे। इन विचारों का ठोस सत्य कवि में पैठता नहीं था। एक समय के गुजरने के बाद उसकी सीमाएँ सामने आ जाती थीं। कवि शाश्वत अनुभूति से अपना सत्य निर्मित करना चाहता है। इतिहास के सत्य को कवि अपना सत्य नहीं बनाना चाहता है, क्योंकि वह विकल और संत्रस्त है।

काव्य भाषा के प्रति गहरी चिंता अज्ञेय काव्य में है।सही और सार्थक भाषा की पहचान की ओर सदा वे सचेष्ट रहे। उनकी काव्य भाषा की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनका बल तदभव शब्दों के चुनाव पर है। तदभव शब्द ग्रामीण जीवन की प्रामाणिक बिंब माला को उपस्थित करते हैं। 'कलगी बाजरे की' कविता में टटकी कली चंपे की का जिक्र हुआ है। इसी प्रकार 'बावरा अहेरी' और 'असाध्य वीणा' आदि कविताओं में तदभव शब्दों के प्रयोग से अर्थ की विराटता को प्रस्तावित किया गया है। कवि संज्ञा और विश्लेषणों मे ही तदभवता पर बल नहीं देता है। वह कियापदों में भी तदभव को चुनता है। उदाहरण के लिए पेड़ों का अरराकर टूट-टूटकर गिरना। पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गयी फलाँगति। अज्ञेय की भाषा में संस्कृत निष्ठ तत्सम शब्दों का प्रयोग है। परन्तु कहीं भी वे दुरूह नहीं है। 'असाध्य वीणा' में स्तब्धता के लिए वे चार शब्दों का प्रयोग करते है। अनिमेष, स्तब्ध, संयत संयुत। निर्वाक आदि स्थिति की जड़ता को बताते हैं कवि ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से भाषा में अर्थ ध्वनन की क्षमता पैदा करता है। उदाहरण के तौर पर इन पंक्तियों को देख सकते है। 'एक बूँद सहसा उछली सागर के झाग से, पंक्तियों पर वर्षा बूँदों की पट पट, घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना आदि। दृश्य विंब हो, अथवा ध्वनि बिंब अज्ञेय की कविता उसमें अद्वितीय है। अज्ञेय शब्दों का संयोजन इस प्रकार से करते हैं कि कविता लयात्मक हो जाती है। उसमें नाद सौंदर्य की छाया मिलती है।

अज्ञेय की कविता में रोमांटिक बोध है परंतु वह छायावादी कविता की तरह रोमानी नहीं है उनकी काव्य कला में अदभुत आत्म संयम और अनुशासन है, जो उनके रोमांटिक भाव बोध को बिखरने नहीं देता है। अज्ञेय की कविता में अराजकता नहीं है। अज्ञेय के काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि वह प्रक्रियाधर्मी नहीं है। इसलिए उनकी कविता में जिस अकेलेपन की चर्चा मिलती है उसका यातनामय साक्ष्य प्रामाणिक ढंग से विवेषित नहीं होता है। कवि के अकेलेपन की टीस और वेदना हमें साझा करने को उत्प्रेरित नहीं करती है, 'यह दीप अकेला' अथवा 'नदी के दीप' कविता का अनुभव हमें शंकालु नहीं बनाता है। काव्य भाषा और सृजनात्मक बोध के प्रति अज्ञेय हमेशा सजग रहे। सृजन को बचाना उनके काव्य की एक नैतिक चुनौती है। नया बोध, नई संवेदना के लिए नई भाषा को वे कविता में प्रस्तावित करते रहे। भाषा में ऐसे ऐसे बिंबों की उन्होंने खोज की, जिसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया गया था। अज्ञेय सृजन कर्म में संवेदनात्मक भोंथरेपन से लगातार जूझते हैं । वह उनके कवि कर्म की सार्थकता है।

व्याख्या

पर उस स्पनिदत सन्नाटे में ..... नरीव एकालाप प्रियंवदा ।

अज्ञेय की अंतर्दृष्टि सर्जन के रहस्य की गुत्थियों को खोलती हुई प्रतीत होती है। असाध्य वीणा' कविता में कवि सर्जन कर्म के उन्हें अनसुलझे रहस्यां को समझाने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः रचनात्मक कर्म संपूर्ण समर्पण की माँग करता है। संपूर्ण समर्पण के बाद ही उच्च कोटि की कलात्मक संभावना को प्रस्तुत किया जा सकता है। कलाकार जिन कलात्मक मूल्यों को अपनी कला में रचता है वह उसे आत्मदान के बाद ही मिलता है। कलाकार का सीमित व्यक्तित्व जब विराट सृष्टि के साथ आत्मीयता अनुभव करता है, तब कलात्मक संवदेना जागृत होती है।

कविता में कहानी इस प्रकार से है कि एक राजा के पास वज्र कीर्ति द्वारा निर्मित एक वीणा थी। उस वीणा को कोई कलाकार नहीं बजा पाता है। प्रियंवद केशकंबली उस वीणा को बजाने का प्रयत्न कर रहा है। कवि ने उसके वीणा बजाने क प्रक्रिया को बड़ी ही गहराई से रचा है। कवि ने उसकी मानसिक दशा और उसके आंतरिक अनुभव को संवेदनात्मक ढंग से रखा है। वह वीणा इस तन्मयता से बजाता है कि वीणा और कलाकार के बीच का अंतर समाप्त हो जाता है। कवि ऐसे ठहरे हुए क्षण की परिकल्पना करता है। जिसमें कला और कलाकाल के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। वहाँ केवल कला का मूल्य और महत्व रह जाता है। प्रियंवद मौन होकर साधना कर रहा है। इस क्षण में वह कला को साध रहा है और स्वयं को शोध रहा है। स्वयं को शोधना आत्मालोचना करना है। बिना आत्मालोचना के सर्जनात्मक श्रेष्ठता को हासिल नहीं किया जा सकता है।

कवि ने कला के इस क्षण को सघन और निविड़ कहा है। सघन और निविड़ शब्दों का बड़ा सुंदर और रचनात्मक प्रयोग है। शांति के क्षण में शून्यता है, उसे कलात्मक कार्यों से भरा जा रहा है। इसलिए उस क्षण में सघनता है। उसमें कहीं भी फाँक नहीं है। वह एकाग्र और सग्रंथित है। इस क्षण में केशकंबली स्वयं की सत्ता को किरीट तरु को सौंप रहा है। किरीट तरु के जितने विशाल अनुभव हैं, उस अनुभव का वह आत्मसाक्षी होना चाहता है। कलाकार प्रियंवद अपने अहं से मुक्त होकर ही किरीट तरु के अनुभव का साक्षी हो सकता है। असाध्य वीणा के निर्माण में वज्रकीर्ति ने भगीरथ प्रयत्न किया था। उसकी जीवनपर्यन्त की साधना के फलस्वरूप वीणा निर्मित हुई थी। उसकी वीणा के समक्ष वज्रकीर्ति जैसा समर्पण होने पर ही स्वर संधान किया जा सकता है।

केशकंबली स्वयं को भूलकर अकेलेपन में डूब गया। यह उसके लिए स्मृति का क्षण है। जिसमें किरीट तरु से उसका जीवित साक्षात्कार होता है। वह जैविक रूप से उन अनुभवों को आत्मसात करता है, जो किरीट तरु के पास है। उस किरीट तरु की जड़ वासुकि के फन पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि परंपरा में वह वृक्ष गहरा धँसा हुआ था। उसके कंधों पर बादल सोते थे। बादल अनुभूति के प्रतीक हैं। वह जीवनवृक्ष अनुभूति से आप्लावित था। उसके कान में हिमगिरि अपने रहस्य कहते थे। उसमें विशिष्ट प्रकार की उदात्तता और गंभीरता भी थी। ऐसे किरीट तरु से केशकंबली का नीरव एकालाप संवाद होता है। यह संवाद उसकी परंपरा को जानने के लिए होता है। परंपरा से सीधा संवाद स्थापित करने के बाद ही प्रियंवद कला सृजन में लीन होता है।

विशेष

1) कविता में सृजनात्मक क्षण के अनुभव को रेखांकित किया गया है।
2) कवि साधक की ध्यानावस्था का रेखांकन करता है।
3) कविता में इस स्थल पर भाषा का स्वर तत्सम प्रधान है।
4) कविता की शब्दावली में एकांत जीवन की शब्दावली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है।
5) आंतरिक लय से कविता सजी हुई है।
6) कविता में दृश्य बिंबों के माध्यम से किरीट तरु की विराटता को अभिव्यंजित किया गया है।

13. शमशेर बहादुर सिंह

जीवन परिचय

शमशेर बहादुर सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश के देहरादून नगर में 3 जनवरी, 1911 को एक जाट परिवार में हुआ। इनकी प्रारंभिक शिक्षा देहरादून में हुई। बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इन्होंने 1933 में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1930 में इनका विवाह हुआ था, लेकिन चार-पाँच वर्ष के अंदर ही पत्नी का देहान्त हो गया। इन्होंने पुनर्विवाह से इनकार कर दिया। कला-विद्यालय से चित्रकला की ओर इनका झुकाव भी हुआ और चित्रकला की समुचित शिक्षा भी प्राप्त की। लेकिन बाद में काव्य-रचना की ओर इनकी प्रवृत्ति बढ़ गई। डॉ. रामविलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान के सम्पर्क में आने के बाद इनका झुकाव मार्क्सवादी चिंतन की ओर हुआ, जिससे ये प्रगतिशील काव्यांदोलन के साथ जुड़ गए।

काशी से प्रकाशित'हंस', बम्बई से प्रकाशित'नया साहित्य' पत्रों में काम करते हुए शमशेर भारतीय साम्यवादी दल से जुड़े रहे। ये दिल्ली में हिंदी-उर्दू कोश की निर्माण योजना में भी काफी समय तक कार्यरत रहे। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में भी इन्होंने काफी समय तक काम किया। उर्दू और अंग्रेज़ी साहित्य के प्रति भी इनका गहरा लगाव रहा है। सहज, संकोचशील स्वभाव के कारण ये आत्म-प्रचार से काफी दूर रहे हैं। गंभीरता, सहनशीलता और शान्त स्वभाव इनके व्यक्तित्व की मूल विशेषता रही है। वाद-विवाद और अन्य झंझटों से दूर रह कर इन्होंने गहन अध्ययन में ही अपने को लगाए रखा है। अन्य कवियों की तुलना में इन्होंने कविताएँ कम ही लिखीं हैं, लेकिन एक-एक कविता के शिल्प को तराशने में इन्होंने अपने कौशल का पूर्ण परिचय दिया है।

शमशेर की कविता, उनकी उदारवादी और अतिशय रागात्मक प्रकृति के कारण प्रायः आत्मपरक होती गई है। आरंभ में'बात बोलेगी, हम नहीं, भेद खोलगी बात हीं' जैसी कविताओं में इन्होंने'एक जनता का अमर वर - एकता का स्वर / अन्यथा स्वतंत्र्य इति' के माध्यम से जनता की एकता और उसकी वास्तविक स्वतंत्रता की अनिवार्यता को रेखांकित किया था - वैसा स्वर बाद में कम ही मिलता है। लेकिन इसके पीछे उनकी कला-संबंधी अवधारणा का विशेष स्थान है। अपनी अमन का राग' शीर्षक कविता में इन्होंने हिन्दी के तमाम कवियों के साथ-साथ ही विश्व के महत्वपूर्ण कवियों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि देते हुए विश्व-बंधुत्व की उदार भावना को प्रतिपादित किया है

शमशेर ने अन्य प्रगतिशील कवियों की भाँति प्रकृति के अनेक भावपूर्ण चित्र निर्मित किए ,हैं। उषा, शाम, नभ, दरिया, गुलाब आदि इनकी कविताओं के विषय बने हैं। मुक्तिबोध नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की भाँति शमशेर की कविताओं में विषय-वैविध्य तो

नहीं मिलता, लेकिन इनकी अभिव्यक्ति प्रणाली का वैशिष्ट्य पूरी तरह उद्घाटित होता है। लगता है इनकी कविताओं का मूल भाव'प्रेम' है - मानव-प्रेम, नारी प्रेम, प्रकृति प्रेम आदि अनेक क्षेत्रों में इसी प्रेम की व्याप्ति है।

शमशेर की कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता उनकी शिल्प संरचना है। चित्रकला के प्रति लगाव के कारण इनकी कविताओं में चित्रात्मकता का समावेश अधिक हुआ है। वस्तुतः वे शब्द शिल्पी हैं, जो शब्दों के माध्यम से चित्र-रचना करते हैं। इस विशेषता के कारण उनकी कविताओं में रूपवादी रूझान अधिक गहरा हो गया है। इससे लगता है कि वे क्या कहना चाहते हैं, इसे गौण मानकर उसे कैसे कहा जाए इसी को अधिक महत्व देते प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ :

भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)

तथा

एक पीली शाम
पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
शांत

वस्तुतः इस प्रकार के प्रभावपूर्ण चित्र, चित्रकला के सुंदर नमूने कहे जा सकते हैं लेकिन कविता के लिए जो शब्दार्थ का कलात्मक व्यापार है, उस रूप में इसे अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। शमशेर पर जो दुरूहता का आरोप लगाया गया है, वह उनके शिल्प के कारण ही है। लगता है कि रूपवादिता की गहरी गिरफ्त में आ जाने के कारण इन्होंने अनजाने ही वस्तु-तत्व की उपेक्षा की है। शमशेर ने बहुत अधिक नहीं लिखा है फिर भी उनकी निम्नलिखित रचनाएँ हैं:

कविता संकलन : 'कुछ कविताएँ', 'इतने पास सपने', 'उदिता', 'चुका भी हूँ नहीं मैं' आदि। डायरी : शमशेर की डायरी

सच्चाइयाँ
जो गंगा के गोमुख में मोती की तरह बिखरती रहती हैं
हिमालय की बर्फ़ीली चोटी पर चाँदी के उन्मुक्त नाचते
परों में झिलमिलाती रहती हैं
जो एक हज़ार रंगों के मोतियों का खिलखिलाता समंदर है
उमंगों से भरी फूलों की जवान कश्तियाँ
कि बसंत के नये प्रभात सागर में छोड़ दी गई हैं।

ये पूरब पच्छिम मेरी आत्मा के ताने-बाने हैं
मैंने एशिया की सतरंगी किरनों को अपनी दिशाओं के गिर्द
लपेट लिया
और मैं योरप और अमरीका की नर्म आँच की धूप-छाँव पर
बहुत हौले-हौले नाच रहा हूँ
सब संस्कृतियाँ मेरे सरगम में विभोर हैं
क्योंकि मैं हृदय की सच्ची सुख-शांति का राग हूँ
बहुत आदिम, बहुत अभिनव।

हम एक साथ उषा के मधुर अधर बन उठे
सुलग उठे हैं
सब एक साथ ढाई अरब धड़कनों में बज उठे हैं।
सिम्फ़ोनिक आनंद की तरह
यह हमारी गाती हुई एकता
संसार के पंचपरमेश्वर का मुकुट पहन
अमरता के सिंहासन पर आज हमारा अखिल लोक-प्रेसिडेंट
बन उठी है।
देखो न हक़ीक़त हमारे समय की कि जिसमें
होमर एक हिंदी कवि सरदार जाफ़री को
इशारे से अपने क़रीब बुला रहा है
कि जिसमें
फ़ैयाज़ ख़ाँ बिटाफ़ेन के कान में कुछ कह रहा है
मैंने समझा कि संगीत की कोई अमर लता हिल उठी
मैं शेक्सपियर का उँचा माथा उज्जैन की घाटियों में

झलकता हुआ देख रहा हूँ
और कालिदास को वैमर के कुंजों में विहार करते
और आज तो मेरा टैगोर मेरा हाफ़िज़ मेरा तुलसी मेरा
ग़ालिब
एक-एक मेरे दिल के जगमग पावर ह उस का
कुशल आपरेटर है।

आज सब तुम्हारे ही लिए शांति का युग चाहते हैं
मेरी कुटबुटू
तुम्हारे ही लिए मेरे प्रतिभाशाली भाई तेजबहादुर
मेरे गुलाब की कलियों से हँसते-खेलते बच्चो
तुम्हारे ही लिए, तुम्हारे ही लिए
मेरे दोस्तो, जिनसे जिन्दगी में मानी पैदा होते हैं
और उस निश्छल प्रेम के लिए
जो माँ की मूर्ति है
और उस अमर परमशक्ति के लिए जो पिता का रूप है।

हर घर में सुख
शांति का युग
हर छोटा-बड़ा हर नया-पुराना हर आज-काल परसों के
आगे और पीछे का युग
शांति की स्निग्ध कला में डूबा हुआ
क्योंकि इसी कला का नाम जीवन की भरी-पूरी गति है।

मुझे अमरीका का लिबर्टी स्टैचू उतना ही प्यारा है
जितना मास्को का लाल तारा
मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी में उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आए
मेरी देहली में प्रहलाद की तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की
चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं।

यह कौन मेरी धरती की शांति की आत्मा पर कुरबान हो
गया है
अभी सत्य की खोज तो बाक़ी ही थी
यह एक विशाल अनुभव की चीनी दीवार
उठती ही बढ़ती आ रही है
उसकी ईंटें धड़कते हुए सुर्ख दिल हैं
यह सच्चाइयाँ बहुत गहरी नींवों में जाग रही हैं
यह इतिहास की अनुभूतियाँ हैं
मैंने सोवियत यूसुफ़ के सीने पर कान रखकर सुना है।

आज मैंने गोर्की को होरी के आँगन में देखा
और ताज के साये में राजर्षि कुंग को पाया
लिंकन के हाथ में हाथ दिये हुए
और तालस्ताय मेरे देहाती यूपियन होठों से बोल उठा
और अरागों की आँखों में नया इतिहास
मेरे दिल की कहानी की सुर्खी बन गया
मैं जोश की वह मस्ती हूँ जो नेरुदा की भवों से
जाम की तरह टकराती है
वह मेरा नेरुदा जो दुनिया के शांति पोस्ट आफ़िस का
प्यारा और सच्चा क़ासिद
वह मेरा जोश कि दुनिया का मस्त भाशिक़
मैं पंत के कुमार छायावादी सावन-भादों की चोट हूँ
हिलोर लेते वर्ष पर
मैं निराला के राम का एक आँसू
जो तीसरे महायुद्ध के कठिन लौह पर्दों को
एटमी सूई-सा पार कर गया पाताल तक
और वहीं उसको रोक दिया
मैं सिर्फ़ एक महान विजय का इंदीवर जनता की आँख में
जो शांति की पवित्रतम आत्मा है।

पच्छिम में काले और सफ़ेद फूल हैं और पूरब में पीले
और लाल
उत्तर में नीले कई रंग के और हमारे यहाँ चम्पई-साँवले
और दुनिया में हरियाली कहाँ नहीं

जहाँ भी आसमान बादलों से जरा भी पोछे जाते हो
और आज गुलदस्तों में रंग-रंग के फूल सजे हुए है
और आसमान इन खुशियों का आईना है।

आज न्यूयार्क के स्काईस्क्रेपरो पर
शांति केड़वों और उसके राजहंसो ने
एक मीठे उजले सुख का हलका सा अँधेरा
और शोर पैदा कर दिया है
और अब वो आर्जेन्टीना की सिम्त अतलांतिक को पार कर
रहे हैं
पाल राब्सन ने नई दिल्ली से नये अमरीका की
एक विशाल सिम्फनी ब्रांडकास्ट की है
और उदयशंकर ने दक्षिणी अफ्रीका में नयी अजंता को
स्टेज पर उतारा है
यह महान नृत्य वह महान स्वर कला और संगीत
मेरा है यानी हर अदना से अदना इंसान का
बिलकुल अपना निजी।

युद्ध के नक्शों को क्रेंची से काटकर कोरियायी बच्चों ने
झिलमिली फूलपत्तों की रौशन फानूसें बना ली है
और हथियारों का स्टील और लोहा हज़ारों
देशों को एक-दूसरे से मिलाने वाली रेलों के जाल में बिछ
गया है
और ये बच्चे उन पर दौड़ती हुई रेलों के डिब्बों की
खिड़कियों से
हमारी ओर झाँक रहे हैं
वह फ़ौलाद और लोहा खिलौनों मिठाइयों और किताबों
से लदे स्टीमरों के रूप में
नदियों की सार्थक सजावट बन गया है
या विशाल ट्रैक्टर-कम्बाइन और फ़ैक्टरी-मशीनों के हृदय में
नवीन छंद और लय का प्रयोग कर रहा है।

यह सुख का भविष्य शांति की आँखों में ही वर्तमान है
इन आँखों से हम सब अपनी उम्मीदों की आँखें सेक
रहे हैं

ये आँखें हमारे दिल में रौशन और हमारी पूजा का
फूल हैं
ये आँखें हमारे क़ानून का सही चमकता हुआ मतलब
और हमारे अधिकारों की ज्योति से भरी शक्ति हैं
ये आँखें हमारे माता-पिता की आत्मा और हमारे बच्चों
का दिल हैं
ये आँखें हमारे इतिहास की वाणी
और हमारी कला का सच्चा सपना हैं
ये आँखें हमारा अपना नूर और पवित्रता हैं
ये आँखें ही अमर सपनों की हक़ीक़त और
हक़ीक़त का अमर सपना हैं
इनको देख पाना ही अपने-आपको देख पाना है, समझ
पाना है।

हम मनाते हैं कि हमारे नेता इनको देख रहे हों।

उषा

प्रातः नम था बहुत नीला शंख जैसे

भोर का नभ

राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)

बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गयी हो

स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने

नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह
जैसे हिल रही हो ।

और .....
जादू टूटता है इस उषा का अब
सूर्योदय हो रहा है।

आओ

1

क्यों यह धुकधुकी, डर—
दर्द की गर्दिश यकायक साँस के तूफान में गोया।
छिपी हुई हाय-हाय में
सकून
की तलाश।

बर्फ के गालों में है खोया हुआ
या ठंडे पसीने में खामोश है
शबाब।

तैरती आती है बहार
पाल गिराए हुए
भीने गुलाब - पीले गुलाब
के।

तैरती आती है बहार
ख़ाब के दरिया में
उफ़क़ से
जहाँ मौत के रंगीन पहाड़
हैं।

ज़ाफ़रान
जो हवा में है मिला हुआ
साँस में भी है।

मुँद गई पलकों में कोई सुबह
जिसे खून के आसार कहेंगे।
खो दिया है मैंने तुम्हें।

2

कौन उधर है ये जिधर घाट की दीवार.....है?
वह जल में समाती हुई चली गई है;

लहरों की बूंदों में
करोड़ों किरनों
की ज़िन्दगी
का नाटक सा : वह
मैं तो नहीं हूँ।

फिर क्यों मुझे (अंगों में सिमिट कर अपने)
तुम भूल जाती हो
पल में :
तुम कि हमेशा होगी
मेरे साथ,
तुम भूल न जाओ मुझे इस तरह

एक गीत मुझे याद है।
हर रोम के नन्हे से कली-मुख पर कल
सिहरन की कहानी मैं था,
हर ज़र्रे में चुम्बन के चमक की पहचान।
पी जाता हूँ आँसू के कनी सा वह पल।

ओ मेरी बहार!
तू मुझको समझती है बहुत-बहुत — तू जब
यूँ ही मुझे बिसरा देती है।

खुश हूँ कि अकेला हूँ,
कोई पास नहीं है --
बजुज़ एक सुराही के,
बजुज़ एक चटाई के,
बजुज़ एक ज़रा-से आकाश के,
जो मेरा पड़ोसी है मेरी छत पर
(बजुज़ उसके, जो तुम होतीं -- मगर हो फिर भी
यहीं कहीं अजब तौर से।)

तुम आओ, पर आना है
मेरे दीदों की वीरानी बसाओ,

शेर में ही तुमको समाना है अगर
ज़िन्दगी में आओ, मुजस्सिम.....
बहरतौर चली आओ।
यहाँ और नहीं कोई, कहीं भी,
तुम्हीं होगी, अगर आओ,
तुम्हीं होगी अगर आओ, बहर तौर चली आओ अगर।
(मैं तो हूँ साये में बँधा सा
दामन में तुम्हारे ही कहीं, एक गिरह-सा
साथ तुम्हारे।)

तुम आओ, तो खुद घर मेरा आ जाएगा
इस कोनो-मकाँ में,
तुम जिसकी हवा हो,
तय हो।

उस ऐन ख़ामोशी की - हया-भरी,
इन सिम्तों की पहनाइयाँ मुझको
पहनाओ!
तुम मुझको
इस अन्दाज़ से अपनाओ
जिसे दर्द की बेगानारवी कहे
बादल की हँसी कहें,
जिसे कोयल की
तूफान-भरी सर्दियों की
चीखें,
कि जिसे 'हम-तुम' कहें।

(वह गीत तुम्हें भी तो
याद होगा?)

एक पीली शाम

एक पीली शाम
पतझर का ज़रा अटका हुआ पत्ता
शान्त
मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल
कृश म्लान हारा-सा
(कि मैं हूँ वह
मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं?)

वासना डूबी
शिथिल पल में
स्नेह काजल में
लिये अद्भुत रूप-कोमलता

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में।

एक नीला दरिया बरस रहा

1

एक नीला दरिया बरस रहा है
और बहुत चौड़ी हवाएँ हैं
मकानात हैं मैदान
किस क़दर ऊबड़ खाबड़
मगर
एक दरिया
और हवाएँ
मेरे सीनें में गूँज रही हैं

एक रोमान
जो कहीं नहीं है मगर जो मैं
हूँ....हूँ
एक गूँज ऊबड़ खाबड़
लगातार
आँख जो कि अँखुआए हुए
उगाज आयी हो बहुत ही करीब बहुत
ही करीब

2

एक सुतून
फिर हुआ खड़ा
वहीं
जहाँ कि वह शुरू से था खड़ा
एक जुनून
जो कि एक महज़ नाम था
फिर हुआ
जुनून

सब तुकें एक हैं
यानी कि मेरा
खून।

अजब बेअदबी है ज़माने की - कि
कि
अक्स है इन्तिहाई गहरा
वही दरिया.....
और वो मुझे ले गया डुबा
जहाँ इन्तिहाई गहराइयों के सिवा
और कुछ न था
एक इन्तिहाइयत.....हाइयत
जो कि महज़ महज़ महज़
मैं हूँ – और
कुछ नहीं
यहाँ

3

मगर
मेरी पसली में हैं -- गिन लो
व्यंजन : और उनके बीच में है
स्वर
(उसे मेरा ही कहो -- फिलहाल :
अहा, तुम कितने अच्छे हो कि मूर्ख हो – महात्मा मूर्ख
-- इस ज़माने के स्वाँग में उतरे हुए
.....एक आदिम तम देवता : स्थिर तम)
नहीं नहीं नहीं
वह
स्वर :

एक ही हाथ : बायें आकाश को उठाये हुए है
एक गोल गति इक करोड़ लाख बार घूम घूम
कर
मुझे लील जाती है
समूचा
अथाहों के दरिया में
अपने अक्स समेत
सच्च
वह स्वर

तब मेरे लिए पहाड़ अरावली के
पुरातन-राग
खोद खोद डाले गये होंगे
सदैव के एक भविष्य में अभी से
नग्नतम बिवाइयाँ दरारें
धरती के सीने में अन्दर तक चली गयी हुई
घूम घूम कर
एक स्थिर चक्कर में
कविता की पंक्तियों की तरह -
अभी से
- हाँ मगर
वह
स्वऽ
र
एक फ़नल
धुआँवाता
विशाल आकाश में

और वहीं
मैं
सीढ़ियों के से
उलझे-पुलझे पथों से
चढ़ रहा हूँ उतर रहा हूँ चढ़ रहा....
तर रहा....
हूँ
और वहीं
एक
बड़ा नन्हा सा
बड़ी गहराइयों वाला
अणु है अणु
नहीं मालूम? अणु

गूजता हुआ
एक व्यर्थ का अभ्युदय
याकि
व्यर्थ का तुक --
क्षण का
निरन्तर --
एक बूँद लहू
और लो मेरा आविर्भाव
कि भवता
कि है -- हो -- था
अभी तक
वही मैं कोई
एक कविता

6

एक विलयनवादी काव्य जो कि केवल
मैं लिखता -- लिख सकता -- हमेशा नहीं --
वैसा काव्य। जैसा कि इनमें
ध्वनित -- अध्वनित :
स्वऽ
--
--
--
-- इत्यादि।
समय के
चौराहों के चकित केन्द्रों से
उद्भूत होता है कोई : 'उसे - व्यक्ति - कहो' :
कि यही काव्य है।
आत्मतम।
इसलिए उसमें अपने को खो दिया
जाना गवारा करता हूँ
क्योंकि वहाँ मेरा एक महीन युग-भाव हैं
वहीं -- शायद मेरे लिए....मात्र। शायद
मेरे ही अनेक बिंबों के लिए मात्र।

जिन्हें 'मेरे पाठक कहा जाय' मात्र।
तो। इसमें और कुछ नहीं।
कोई संगीत नहीं। केवल प्रलाप।
केवल तम।
केवल प्रलाप। केवल मैं और आप। अनाप शनाप।

7

शराब
यानी इन्सानियत की तलछट का छोड़ा हुआ
स्वाद।
मुझे दो।
मगर पैमाना हो
फ़ोनिमिक्स
उन भाषाओं का, पश्चिम और पूर्व की, जो
मिलन सीमा को
आर्गनित
करती हैं,
बस
वहीं मेरा कवि
तुम्हारा अन्यतम व्यक्ति।

नश्शा मुझे नहीं होता। नहीं होता।
मुझे पीने वालों को
होता
है - मेरी कविता को
अगर वो उठा सकें और एक घूँट
पी सकें
अगर।
इसलिए बस
मुझे वही शराब दो। बस।
(-- मुझे नश्शा नहीं चाहिए।)

कविताओं के बारे में

पाठ्यक्रम में शमशेर की छः कविताओं को लिया गया है। 'आओ' कविता 1949 में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में रोमांटिक भाव की अभिव्यंजना हुई है। 'अमन का राग' शीर्षक कविता की रचना 1952 में हुई थी। इस कविता में विविध मानवीय संस्कृति की आधारभूत एकता को कवि परखने की चेष्टा करता है। 'एक पीली शाम' कविता की रचना 1953 में हुई थी। इस कविता में सृजनात्मक अनुभूति के प्रस्फुटन की पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। 'ऊषा' कविता में सुबह के चित्र का वर्णन है। 'एक नीला दरिया बरस रहा' कविता का रचनाकाल 1970 ई० है। इस कविता में काव्य की रचना-प्रक्रिया और काव्य की सौन्दर्यानुभूति पर चर्चा की गई है।

'आओ' कविता रोमांटिक बेचैनी की कविता है। इस कविता में कवि सौन्दर्यानुभूति के किसी गहन क्षण का स्मरण करता है। अकेलेपन में यह अनुभूति कवि में दर्द पैदा करती है। यह दर्द प्रेम और सौन्दर्य को न पा सकने का है। सौन्दर्य कवि का साधन भी है और साध्य भी है। कवि अपनी इस अनुभूति को अतीत और भविष्य की वर्तमानता में स्वीकार करता है। 'अमन का राग' कविता में विभिन्न सृजनात्मक विधाओं और विविध संस्कृतियों के बीच जो बुनियादी एकता है उसे रेखांकित किया गया है। सर्जक जब अपने रचनाकर्म में लीन होता है तो उसके सामने विविध परंपराओं का सारभूत तत्व पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित रहता है। अनुभूति और भाव प्रसंग में मूल में मानवीय भाव ही सक्रिय हैं। इस कविता में सांस्कृतिक सामञ्जस्य पर बल दिया गया है। कविता का दूसरा संदेश यह है कि हर घर में, हर युग में, और हर देश में शांति की ज़रूरत है। कला का विकास शांति के क्षणों में ही होता है। कवि सभ्यता के विकास में योगदान की अपील करता है। लौह अयस्क से ट्रैक्टर, स्टीमर और रेलगाड़ी बनने चाहिएँ न कि तोप और बंदूक। कवि जिस यूटोपिया की रचना करता है, वह वर्तमान से परे नहीं है। वह इतिहास के ऐतिहासिक क्षणों के मर्म में स्थित है।

'एक पीली शाम' कविता में कवि नये बिंब के माध्यम से सृजनात्मक सत्य को अभिव्यंजित करने का प्रयास करता है। शाम में सूर्यास्त के समय सूर्य अतल में गिरता है। अतल में गिरने से पूर्व की भी एक अवस्था होती है। जहाँ गिरने और नहीं गिरने दोनों के बीच की स्थिति होती है। डाल में लगे पतझण के पत्ते और आँख में अटके हुए आँसू के समान वह स्थिति होती है। यह स्थिति शुद्ध संभावना की होती है। आँसू सृजन है। वह निजी भी है और नहीं भी, वह पराया भी है और नहीं भी। न तो वह बिल्कुल आत्मपरक है और न बिल्कुल वस्तुपरक। 'ऊषा' कविता में भोर होने के समय का प्राकृतिक चित्र है। यह चित्र कसमसाती हुई आँतरिक अनुभूति का चित्र है जो फूटने के लिए व्याकुल और बेचैन है। नीला रंग प्रेम का होता है। कवि का मानस नीले रंग से रंग उठा है। वह प्रेम में सराबोर है। कवि के लिए प्रेम बिलास नहीं है। वह गहन आंतरिक संघर्ष का प्रतिफल है। चौका जीवन का प्रतीक है।

राख जीवन के मंद होते हुए भाव हैं। जीवन इन्हीं मंद होते हुए भावों के बीच चमकता है। जीवन संवेदना से गीला होता है। ऊषा के आगमन के समय प्रकृति का रंग ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि काली सिल पर लाल केसर का रंग बिखेर दिया गया हो। विभिन्न भवों के बीच प्रेम की लाली इस प्रकार से फूटती दिखाई पड़ती है। कविता के अंत में जादू टूटता है जब ऊषा का सूर्योदय होता है। ऊषा काल में सूर्योदय और अंधकार एक संक्रांत बिंदु पर मिल रहे होते हैं। सृजन भी कुछ इसी प्रकार से संभव होता है।

'एक नीला दरिया बरस रहा' कविता सात खंडों में रची गई है। इस कविता के भाव बड़े ही जटिल और ग्रथित हैं। नीला रंग बहुत गहन रंग होता है। नीलापन भावों की सांद्रता है। दरिया का बरसना एक प्रतीक है दरिया बहता है। दरिया बरसता नहीं है। दरिया का बरसना भाव प्रवाह को अनुभव करना है। यह भाव उबड़-खाबड़ मकानात और मैदान के बीच पैदा होते हैं। जगत जीवन के बीच जो असमानता है उसे मिटाने के लिए हवाएँ निरंतर प्रयासरत रहती हैं। भावों की गूँज अनगढ़ सी संवेदना के रूप में आँखों में उपजती है। भाव से जुनून पैदा होता है। यह जुनून कविता में तुक को बनाता है। तुक का संचार संपूर्ण कविता में होता है। भाव की असीम गहराई में डूबकर ही कविता का व्यक्तित्व निर्मित होता है। यहाँ केवल कवि का मैं साकार होता है। स्वर और व्यंजन की ध्वनियों से कविता में अर्थ पैदा होता है। यह कविता की रीढ़ है। भाव और बोध की उस गहराई से कवि परिचित होना चाहता है जो आदिम स्थिर और सनातन है। भाव की गहराई कवि के व्यक्तित्व को संपूर्ण रूप से अपने में समाहित कर लेती है। कवि अपनी काव्य-प्रक्रिया के बीच ही अपने काव्य-सत्य की तलाश करता है। यहाँ कविता में कवि के जीवन और कविता में बहुत अधिक भेद नहीं रह जाता है। शमशेर कविता और जीवन को एक साथ अनुभव करते हैं। उनके लिए कला जीवन का पर्याय है। इसलिए कविता व्यथा का अंधकार है और प्रलाप है। कविता में नशा तब पैदा होता है जब वह जीवन से रस ग्रहण करती है। शमशेर की कविता शराब की तरह नशा देती है।

शिल्प का संबंध कवि के व्यक्तित्व से अखंड रूप में जुड़ा हुआ होता है। शमशेर की कविता के शिल्प में चित्रकार की सूक्ष्मता मिलती है। उनकी कविता में रूप रस गंध की संवेदनाएँ ही नहीं हैं, उन संवेदनाओं के बीच के अंतर का भी चित्रण मिलता है। उनके प्रतीकों में आंतरिक भावों का गहरा रंग होता है। उनकी कविता के शब्द संवेदनानुयायी हैं। वे कविता में शब्द संकेत को रंग संकेत का पर्याय मानते हैं, इसलिए कविता में अमूर्तता के भाव पैदा होते हैं। 'आओ' कविता में विविध भाव के आकार और भार को शब्दों में रखा गया है। कविता के उन शब्दों में भाव का अनुभव जीवित रूप में प्रस्तावित होता है। 'ऊषा' कविता में ऊषाकाल के चित्र को अनुभूति में रंगने का प्रयास किया गया है। शब्द चित्र में भाव की ध्वनि की गूँज मिलती है। 'एक पीली शाम' कविता में बिंब की ताज़गी है। बिंब की ताज़गी

में ही अभिव्यंजना का सौंदर्य है। 'एक नीला दरिया बरस रहा' कविता में रोमानी और यथार्थ भाव का द्वन्द्व है। इस कविता में कवि ने जीवन के संघर्ष से कविता का शिल्प तैयार किया है।

शमशेर की भाषा में उर्दू का प्रयोग अधिक मिलता है। कवि उर्दू भाषा का प्रयोग खास रोमांटिक मिजाज को अभिव्यक्ति देने के लिए करता है। उर्दू भाषा में रूमानियत को अधिक तरजीह दी गई है। भाषा शमशेर बिंबों के माध्यम से ग्रहण करते हैं। लोक जीवन में प्रयुक्त भाषा से भी वे कविता के व्यापक अर्थ की सृष्टि करते हैं। शब्दों के संतुलन, शब्दों के मौन शब्दों के विराम और बलाघात से अर्थ की अनेक भंगिमाएं रचते हैं। उनकी भाषा में विशेष प्रकार की ऐन्द्रियता है। यह गहरे आत्मानुभव की देन है। रोमांटिक अनुभूति को क्लासिकल शिल्प में व्यक्त करने की कला को शमशेर जानते हैं।

शमशेर की कविता में संवेदना की बारीकियों की सूक्ष्म पहचान है। यह विशिष्टता उनकी अपनी खोज का परिणाम है। भाव जिस प्रकार से चेतना को झंकृत करते हैं उसे उसी रूप में शब्द में रख देना शमशेर की विशेषता है। उनकी कविताओं में शुद्ध सौन्दर्य का चित्रण है। यह सौन्दर्य प्रकृति का है, भाषा का है और कला का है। नये बिंबों की खोज और प्रयोग में ये अद्वितीय हैं। सघनता और संश्लिष्टता में वे अपनी बात कहते है। शब्दों को नितांत मौलिक स्पंदन से जोड़ना और भाषा के नये विन्यास को गढ़ना एक समर्थ कवि द्वारा ही संभव हो सकता है। उनकी कविता में विश्वबंधुत्व की भावना है। 'अमन का राग' कविता में कवि शांति और समृद्धि को अहमियत देता है। वे परंपरा और विश्व की सांस्कृतिक धरोहर के प्रति अपना आदर भाव अभिव्यक्त करते है।। हिन्दी काव्य में वे सौन्दर्यवादी कवि के रूप में प्रतिष्ठित है। वे विचारधारात्मक ऊहापोह के बीच रहते हुए भी कविता में विचारधारा को हावी नहीं होने देते । विशुद्ध कला के प्रतिमान पर उनकी कविता खरी उतरती है।

व्याख्या

खुश हूँ कि अकेला हूँ। .....तुम जिसकी हवा हो लय हो।

शमशेर बहादुर सिंह दूसरे सप्तक के कवि हैं। उनकी कविता पर फ्रांसीसी प्रतीकवादी कविता का गहरा प्रभाव है। उनकी कविताएँ मन की गहरी पर्तों को सांकेतिकता और चित्रकला के माध्यम से खोलती है। संवेदनशील इंद्रियबोध और करूणा मिश्रित होकर कविता में सघनता और सूक्ष्मता रची गई है। 'आओ' कविता में कवि अपने रोमांटिक दर्द को अभिव्यक्त करता है। प्रेम भाव से अतृप्त मनुष्य में कैसी बेचैनी जागती है। यह कविता उसका बयान करती है। कविता भव की बेचैनी को रखकर प्रसंग और संदर्भ के विषय में मौन की जाती है।

कविता में इस अंश का आरंभ ही अकेलेपन की अनुभूति से हुआ है। अकेलेपन की इस अनुभूति में अस्तित्ववादी अकेलापन नहीं है। इसमें रोमांटिक अकेलापन है। इस अकेलेपन से दूर होने का स्वप्न भी वर्तमान है। कवि अपने अकेलेपन में खुश है। इस खुशी का कारण यह है कि वह अकेले होने के कारण पूरी तीव्रता और गहनता में किसी को स्मरण कर पाता है। इस प्रकार का क्षण जीवन में कम ही आता है। यह क्षण सृजनात्मक संतोष से जीवन को संपन्न करता है। स्मृति में प्रेम की पुनर्रचना करना सृजनात्मक कर्तव्य को इंगित करता है। सृजनात्मक अनुभूति कवि को आनंदित करती है।

कवि जिस तरह से बिंब को रचता है उसमें गहरी बेचारगी है। इस बेचारगी में प्रेम को पाने की जिद बरकरार है। एक सुराही, एक चटाई और जरा सा आकाश उसके जीवन के अभाव को अभिव्यंजित करते हैं। ये कवि के जीवन के संघर्ष के सूत्र को कविता में रखते हैं। सुराही, चटाई और आकाश व्यापक अर्थ में प्रतीक बन जाते हैं। सुराही भाव का, चटाई जीवन के उलझे हुए तार के क्रम विन्यास का तथा आकाश मुक्ति और स्वच्छंदता के प्रतीक हैं। कवि इन्हीं उपादानों से रचना करता है। अदृश्य और अमूर्त भाव जो रचना को प्राणवान बनाते हैं। उसे काल से कालातीत की ओर ले जाते हैं। इसलिए कवि उसे अपना पड़ोसी बनाना चाहता है।

कवि अमूर्त प्रेम को संबोधित करते हुए रचना की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है। कवि दृष्टिसंपन्न होना चाहता है। वीरान अनुभूति को त्यागकर कवि विज़न को प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। कविता और ज़िंदगी शमशेर के लिए अलग-अलग नहीं है। कला ज़िंदगी से अलग होकर अपना अर्थ खो देती है। कवि अपनी कविता को जीवन के लिए रचता है। इसलिए कविता मानवीय सुख-दुःख को अभिव्यक्त करने में सक्षम होती है। कवि कविता के किसी एक भाव को गहरी तन्मयता से रचना चाहता है। वह भाव में डूबकर उसे पूरी गहराई और गोलाई में उकेरने का प्रयत्न करता है। भावात्मक क्षणों में वह समाधि की दशा में पहुँचकर भाव को अपने में के साथ एकाकार कर देता है। इसलिए उस अमूर्त भाव से निवेदन करता है कि यहाँ और नहीं कोई, कहीं भी, तुम्हीं होगी अगर आओ। कवि अपने व्यक्तित्व को भाव के सामने समर्पित कर देता है। भाव ही कविता को स्थायित्व देता है। भाव अपने अनुसार कविता का गठन करते हैं। भाव ही कविता के वातावरण और जलवायु को निर्मित करते हैं। वे अदृश्य और अमूर्त होकर कविता की पूरी संरचना में मौजूद रहते हैं। कवि का ध्येय उन मूल भावों को प्राप्त करना है जिससे काव्य-संरचना का गठन होता है। कवि अपनी रोमांटिक बेचैनी के साथ कविता के मर्म को भी प्रस्तावित करता है।

विशेष

1) इस कविता में कवि अपने रोमांटिक दर्द के बीच कविता के दर्द की भी व्यंजना करता है।
2) भाव से शून्य होते हुए हृदय के प्रति चिंता है।
3) जीवन के अभाव और संघर्ष को भी कवि ने कविता के बिंबों में बद्ध कर दिया है।
4) भाषा में गहरी प्रतीकात्मकता है। उस प्रतीकात्मकता में काव्य-कला के मर्म का उद्‌घाटन है।
5) भाषा में उर्दू का प्रवाहशील प्रयोग मिलता है।

14. गजानन माधव मुक्तिबोध

जीवन परिचय और साहित्यिक योगदान

मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर 1917 को श्यौपुर (ग्वालियर) में हुआ। इनके पिता माधव मुक्तिबोध उज्जैन में इंस्पेक्टर पद से सेवानिवृत हुए थे। मुक्तिबोध की माँ बुंदेलखंड की थीं, ईसागढ़ के एक किसान परिवार की, शिक्षित महिला। मुक्तिबोध के घर की भाषा मराठी थी और घर से बाहर हिंदी। मुक्तिबोध चार भाई हैं। इनसे छोटे शरच्चन्द्र मराठी के प्रतिष्ठित कवि हैं। मुक्तिबोध की प्रारंभिक शिक्षा उज्जैन में हुई, वहाँ इनका सहयोगी था शांताराम, जो बाद में गश्त की ड्यूटी पर तैनात हो गया था। मुक्तिबोध उसी के साथ रात-बेरात शहर की तफरी को निकल जाते। बीड़ी पीने की आदत शायद वहीं से पड़ी। रात का भयानक सन्नाटा, पुलिस की सीटियाँ, रहस्यमयी वातावरण, जुर्मों का अंधेरा संसार जो उनकी कविता में हैं, रात की तफरी ने भी ऐसे बिंबों को सजोने में मदद की होगी। पिता चाहते थे कि बेटा पढ़-लिख कर बड़ा वकील बने, सामाजिक प्रतिष्ठा कमाए किंतु मुक्तिबोध की जिज्ञासाएँ उसे कहीं दूसरी ओर बौद्धिक हलचलों में खींच ले गईं। वह ज्ञान की तलाश में था, धन की नहीं। दास्तॉयवस्की, फ्लाबेअर और गोर्की को पढ़ने में खोया हुआ और मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र की समस्याओं मे रस खोजने वाला बीस-इक्कीस वर्ष का यह नवयुवक एक ढलती परंपरा और भविष्य के बीच खड़ा अपना रास्ता तलाशने का प्रयास कर रहा था। उसके जीवन में भयानक तूफान लाता आया एक प्रेम, मुक्तिबोध ने हिम्मत से काम लिया और जाति, कुल, सामाजिक वैषम्य के अवरोधों को एक तरफ ठेल कर प्रेम विवाह कर लिया। परिवार, सगे-संबंधियों की ओर से घोर विरोध हुआ, जो बाद में भी कम नहीं हुआ। इसी वर्ष सन् 38 में मुक्तिबोध ने इंदौर के होलकर कालिज से बी.ए. करके उज्जैन के मार्डन स्कूल में अध्यापक की नौकरी कर ली। पिता सेवानिवृत्त हो चुके थे, घर में विपन्नता थी। उज्जैन से सन 1945 में मुक्तिबोध बनारस जाकर त्रिलोचन शास्त्री के साथ 'हंस' के सम्पादन कार्य में शामिल हो गये। लेकिन यहाँ ज्यादा दिन उनका रहना नहीं हुआ। भारतभूषण अग्रवाल और नेमिचंद्र जैन कलकत्ता में थे, उन्होंने इन्हें वहाँ बुला लिया। लेकिन यहाँ भी कोई काम नहीं मिल पाया। सन 1946-47 में मुक्तिबोध कलकत्ते से जबलपुर चले गये और हितकारिणी हाई स्कूल में अध्यापक हो गये।

जबलपुर के इस दौर के प्रवास के बारे में शमशेर बहादुर सिंह लिखते हैं : "उन दिनों जबलपुर में मेरा उनसे कभी-कभी मिलना होता था और मैं देखता था - कैसी मेहनत से, हफ्तों बल्कि महीनों वे अपनी लम्बी कविता के टुकडों को धीरे-धीरे चिंतन और कल्पना की ऊर्जा से पुष्ट करते, जोड़ते और बढ़ाते, और उसकी अंतर्योजना को दृढ़ करते जाते। उनका शिल्प एक ऊँची इमारत उठाने वाले मिनार का शिल्प था। वह इमारत अनेक पुश्तों, चौकियों और बुर्जियों से सुदृढ़ किया हुआ कोई छोटा-मोटा किला होती थी, महल या मकबरा या

मंदिर नहीं। उनकी रचना से स्पष्ट लगता था कि वह और सबों से कितनी भिन्न, अनोखी कर गुम्फित भावना और कल्पना के कवि थे, यद्यपि कुछ खुरदरे। उनका कवि-व्यक्तित्व अब भी सबसे अलग और अकेला लगता था। मगर उनकी भावनाओं की जड़ें मध्यवर्गीय समाज में हम सब की समस्याओं से उलझी हुई थी।"

('चाँद का मुँह टेढ़ा है' की भूमिका में से)

जबलपुर से मुक्तिबोध नागपुर गये जहाँ रेडियो में कुछ दिन समाचार विभाग में सम्पादक रहे। नागपुर से निकलने वाले साप्ताहिक 'नया खून' में कलिंग भी लिखे', मजदूरों का पक्ष लिये। भ्रष्ट तत्वों का परदाफाश किया। इन्हीं दिनों उनकी कामायनी : एक पुनर्मूल्यांकन' महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तक निकली। 'एक लेखक की डायरी' जबलपुर से निकलने वाली 'वरध', में धारावाहिक रूप से निकलती रही। मित्रों के परामर्श से माली हालत सुधारने के लिए सन 54 में मुक्तिबोध ने हिन्दी मे एम.ए. किया। एम.ए. करने के बाद राजनाँद गाँव के कालिज में नौकरी मिल गयी और आर्थिक हालत कुछ ठीक हुई । इसी प्रकार सर्जनात्मक बेचैनी को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जिदा रखते हुए मुक्तिबोध एक लम्बी बीमारी के बाद अगस्त 64 में चल बसे। उनके जीवन काल में उनकी भरसक उपेक्षा हुई और कोई काव्य पुस्तक उनके जीवित रहते प्रकाशित नहीं हुई ।

मुक्तिबोध ने जितना भी साहित्य रचा, आज वह सब राजकमल से प्रकाशित 'मुक्तिबोध रचनावली' के छह खंडों में उपलब्ध है। फिर भी उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित है -

काव्य

- चाँद का मुँह टेढ़ा है
- भूरी भूरी खाक धूल

आलोचनात्मक

- कामायनी : एक पुनर्विचार
- भारत इतिहास और संस्कृति
- नई कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध
- नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र
- एक साहित्यिक की डायरी

कथा साहित्य

- काठ का सपना
- विधान
- सतह से उठता आदमी

पता नहीं .....

1

पता नहीं, कब, कौन, कहां किस ओर मिले,
किस साँझ मिले, किस सुबह मिले !!
यह राह जिंदगी की
जिससे जिस जगह मिले
है ठीक वही, बस वहीं अहाते मेंहदी के
जिनके भीतर
है कोई घर
बाहर प्रसन्न पीली कनेर
बरगद ऊँचा , जमीन गोली
मन जिन्हें देख कल्पना करेगा जाने क्या !!
तब बैठ एक
गंभीर वृक्ष के तले
टटोलो मन, जिससे जिस छोर मिले,
कर अपने अपने तत्व अनुभवों की तुलना
घुलना मिलना !!

2

यह सही है कि चिलचिला रहे फासले,
तेज दुपहर भूरी
सब ओर गरम धार सा रेंगता चला
काल बाँका-तिरछा,
पर हाथ तुम्हारे में जब भी मित्र का हाथ
फैलीगी बरगद छाँह वहीं
गहरी गहरी सपनीली सी
जिसमें खुलकर सामने दिखेगी उरस स्पृशा
स्वर्गीय उषा
लाखों आँखों से, गहरी अंतःकरण तृषा

तुमको निहारती बैठेगी
आत्मीय और इतनी प्रसन्न,
मानव के प्रति, मानव के
जी की पुकार
जितनी अनन्य !
लाखों आँखों से तुम्हें देखती बैठेगी
वह भव्य तृषा
इतने समीप
ज्यों लालीभर, पास बैठा हो आसमान
आँचल फैला,
अपने पन की प्रकाश वर्षा
मैं रुधिर-स्नात हँसता समुद्र
अपनी गंभीरता के विरूद्ध चंचल होगा।

3

मुख है कि मात्र आँखें हैं वे आलोकभरी,
जो सतत तुम्हारी थाह लिये होतीं गहरी,
इतनी गहरी
कि तुम्हारी थाहों में अजीब हलचल,
मानो अनजाने रत्नों की
अनपहचानी सी चोरी में
धर लिये गये,
निज में बसने कस लिये गये।

4

तब तुम्हें लगेगा अकस्मात,
.....
ले प्रतिभाओं का सार, स्फुलिंगों का समूह
सबके मन का
जो एक बना है अग्नि व्यूह
अन्तरतल में,

उस पर जो छायी हैं ठण्डी
प्रस्तर सतहें
शहसा काँपी, तड़कीं , टूटीं
और भीतर का वह ज्वलंत कोष
ही निकल पड़ा !!
उत्क्लित हुआ प्रज्वलित कमल !!
वह कैसी घटना है .....
कि स्वप्न की रचना है।

उस कमल कोष के पराग स्तर
पर खड़ा हुआ
सहसा होता है प्रकट एक
वह शक्ति पुरुष
जो दोनों हाथों आसमान थामता हुआ
आता समीप अत्यंत निकट
आतुर उत्कट
तुमको कन्धे पर बिठला ले जाने किस ओर
न जाने कहाँ व कतनी दूर !!

फिर वही यात्रा सुदूर की,
फिर वही भटकती हुई खोज भरपूर की
कि वही आत्मचेतस अन्त सम्भावना
... जाने किन खतरों में जूझे जिन्दगी !!

5

अपनी धकधक
में दर्दीले फैले फैलेपन की मिठास,
या निःस्वात्मक विकास का युग
जिसकी मानव गति को सुनकर
तुम दौड़ोगे प्रत्येक व्यक्ति के
चरण-तले जनपथ बनकर !!

वे आस्थाएँ तुमको दरिद्र करवायेंगी
कि दैन्य ही भोगोगे
पर, तुम अनन्य होंगे,
प्रसन्न होंगे !!
आत्मीय एक छवि तुम्हें नित्य भटकायेगी
जिस जगह, जहाँ जो छोर मिले
ले जायेगी...
...पता नहीं, कब, कहाँ, किस ओर मिले।

अँधेरे में

(यहाँ इस कविता का जो पाठ प्रस्तुत है वह 'कल्पना' तथा 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में प्रकाशित पाठों से भिन्न है और कवि द्वारा इन दोनों पाठों में किये गये संशोधनों पर आधारित पाण्डुलिपि के अनुसार है। सं.)

1

जिंदगी के .....
कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर
कोई एक लगातार,

आवाज पैरों की देती है सुनायी
बार-बार ... बार-बार,
वह नहीं दीखता ..... नहीं ही दीखता,
किन्तु वह रहा घूम
तिलिस्मी खोह में गिरफ्तार कोई एक,
भीत-पार आती हुई पास से,
घहन रहस्यमय अन्धकार ध्वनि सा
अस्तित्व जनाता
अनिवार कोई एक,
और मेरे हृदय की धक-धक
पूछती है वह कौन
सुनायी जो देता, पर नहीं देता दिखायी।
इतने में अकस्मात गिरते हैं भीत से
फूले हुए पलस्तर,
लिखी है चूनेभरी रेत
खिसकती है पपड़ियाँ इस तरह-
खुद व खुद
कोई बड़ा चेहरा बन जाता है,
स्वयमपि
मुख बन जाता है दिवाल पर,
नुकीली नाक और

भव्य ललाट है,
दृढ़ हनु
कोई अनजानी अन पहचानी आकृति।
कौन वह दिखायी जो देता, पर
नहीं जान जाता !!
कौन मनु ?

बाहर शहर के, पहाड़ी के उस पार, तालाब
सब तरफ अँधेरा,
प्रशान्त जल,
पर, भीतर से उभरती है सहसा
शलिल के तम-श्याम शीशे में कोई श्वेत आकृति
कुहरीला कोई बड़ा चेहरा फैल जाता है
और कुसकाता है,
पहचान बताता है,
किन्तु मैं हत्प्रभ,
नहीं वह समझ में आता ।

अरे ! अरे !!
तालाब के आस-पास, अंधेरे में वन वृक्ष
चमक चमक उठते हैं हरे-हरे अचानक
वृक्षों के शीश पर नाच-नाच उठती है बिजलियाँ,
शाखाएँ, डालियाँ झूमकर झपटकर
चीख, एक दूसरे पर पटकती हैं सिर कि अकस्मात्
वृक्षों के अँधेरे में छिपी हुई किसी एक
तिलिस्मों खोह का शिला द्वार
खुलता है धड़ से
.....
घुसती है लाल लाल मशाल अजीब सी,
अन्तराल विवर के तम में
लाल -लाल कुहरा,
कुहरे में, सामने, रक्तालोक स्नात-पुरूष एक,
रहस्य साक्षात !!

तेजोप्रभावमय उसका ललाट देख,

मेरे अंग-अंग में अजीब एक थर-थर।
गौरवर्ण, दीप्त-दृग, सौम्यमुख
सम्भावित स्नेह-सा प्रिय रूप देखकर
विलक्षण शंका,
भव्य आजानुभुज देखते ही साक्षात्
गहन एक सन्देह।

वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है,
पूर्ण अवस्था वह
निज-सम्भावनाओं, निहित प्रभाओं, प्रतिभाव की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव,
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह,
आत्मा की प्रतिमा।

किन्तु, वह फटे हुए वस्त्र क्यों पहने है ?
उसका स्वर्ण-वर्ण मुख मैला क्यों ?
वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया ?
उसने कारावास-दुःख झेला क्यों ?
उसकी इतनी भयानक स्थिति क्यों है ?
रोटी उसे कौन पहुँचाता है ?
कौन पानी देता है ?
फिर भी, उसके मुख पर स्मित क्यों है ?
प्रचण्ड शक्तिमान क्यों दिखायी देता है ?

प्रश्न थे गम्भीर, शायद ख़तरनाक भी,
इसीलिए बाहर के गुंजान
जंगलों से आती हुई हवा ने
फूँक मार एकाएक मशाल ही बुझा दी...
कि मुझको यों अँधेरे में पकड़कर
मौत की सज़ा दी !
किसी काले 'डैश' की घनी काली पट्टी ही
आँखों पर बँध गयी,
किसी खड़ी पाई की सूली पर मैं टाँग दिया गया,
किसी शून्य बिन्दु के अँधियारे खड्डे में
गिरा दिया गया मैं

2

सूनापन सिहरा
अँधेरे में ध्वनियों के बुलबुले उभरे
शून्य के मुख पर सलवटें स्वर की,
मेरे ही उर पर, धँसाती हुई सिर,
छटपटा रही हैं शब्दों की लहरें
मीठी हैं दुःसह !!
अरे, हाँ, साँकल ही रह-रह
बजती है द्वार पर।
कोई मेरी बात मुझे बताने के लिए ही
बुलाता है, बुलाता है (हृदय को सहला
मानो किसी जटिल प्रसंग में सहसा
होठों पर होंठ रख, कोई सच-सच बात
सीधे-सीधे कहने को तड़प जाय, और फिर
वही बात सुनकर धँस जाय मेरा जी...
इस तरह, साँकल ही रह-रह, बजती है द्वार पर)

आधी रात, इतने अँधेरे में, कौन आया मिलने ?
विमन प्रतीक्षातुर कुहरे में घिरा हुआ
द्युतिमय मुख-वह प्रेमभरा चेहरा-
भोला-भाला भाव -
पहचानता हूँ बाहर जो खड़ा है !!
यह वही व्यक्ति है, जी हाँ !
जो मुझे तिलिस्मी खोह में दिखा था।
अवसर-अनवसर
प्रकट जो होता ही रहता,
मेरी सुविधाओं का न तनिक ख़यालकर।
चाहे जहाँ, चाहे जिस समय उपस्थित,
चाहे जिस रूप में
चाहे जिन प्रतीकों में प्रस्तुत;
इशारे से बताता है, समझाता रहता,
हृदय को देता है बिजली के झटके !!
अरे, उसके चेहरे पर खिलती हैं सुबहें

गालों पर चट्टानी चमक पङ्गार की
आँखों में किरणीली शान्ति की लहरे,
उसे देख, प्यार उमड़ता है अनायास !
लगता है- दरवाज़ा खोलकर
बाँहों में कस लूँ,
हृदय में रख लूँ
घुल जाऊँ, मिल जाऊँ लिपटकर उससे।
परन्तु, भयानक खड्डे के अँधेरे में आहत
और क्षत-विक्षत, मैं पड़ा हुआ हूँ;
शक्ति ही नहीं है कि उठ सकूँ जरा भी
(यह भी तो सही है कि
कमज़ोरियों से ही मोह है मुझको)
इसीलिए, टालता हूँ उस मेरे प्रिय को
कतराता रहता,
डरता हूँ उससे।
वह बिठा देता है तुंग शिखर के
खतरनाक, खुरदरे कगार-तट पर;
शोचनीय स्थिति में ही छोड़ देता मुझको।
कहता है- 'प्यार करो पर्वत-सन्धि के गह्वर,
रस्सी के पुल पर चलकर
दूर उस शिखर-कगार पर स्वयं ही पहुँचो।'
अरे भाई, मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा,
मुझे डर लगता है ऊँचाइयों से;
बजने दो साँकल !!
उठने दो अँधेरे में ध्वनियों के बुलबुले;
वह जन...वैसे ही
आप चला जायेगा आया था जैसे।
खड्डे के अँधेरे में मैं पड़ा रहूँगा
पीड़ाएँ समेट !!
क्या करूँ, क्या नहीं करूँ मुझे बताओ
इस तम-शून्य में तैरती है जगत् समीक्षा
की हुई उसकी
(सह नहीं सकता)
विवेक-विक्षोभ महान् उसका

तम-अन्तराल में (सह नहीं सकता)
अँधियारे मुझमें द्युति-आकृति-सा
भविष्य का नक़्शा दिया हुआ उसका
सह नहीं सकता !
नहीं, नहीं, उसको मैं छोड़ नहीं सकूँगा
सहना पड़े मुझे चाहे जो भले ही।
कमज़ोर घुटनों को बार-बार मसल,
लड़खड़ाता हुआ मैं
उठता हूँ दरवाज़ा खोलने
चेहरे के रक्तहीन विचित्र शून्य को गहरे
पोंछता हूँ हाथ से,
अँधेरे के ओर-छोर टटोल-टटोलकर,
बढ़ता हूँ आगे,
पैरों से महससू करता हूँ धरती का फैलाव,
हाथों से महसूस करता हूँ दिशाएँ
साँसों से अनुभव करता हूँ दुनिया,
मस्तक अनुभव करता है आकाश,
दिल में तड़पता है अँधेरे का अन्दाज,
आँखें ये तथ्य को सूँघती-सी लगतीं,
केवल शक्ति है स्पर्श की गहरी।
आत्मा में, भीषण
सत्-चित-वेदना जल उठी दहकी।
विचार हो गये विचरण-सहचर।
बढ़ता हूँ आगे,
चलता हूँ सँभल-सँभलकर
द्वार टटोलता,
जंग-खायी, जमी हुई, जबरन
चिटखनी हिलाकर
ज़ोर लगा, दरवाज़ा खोलता,
झाँकता हूँ बाहर...

सूनी है राह, अजीब है फैलाव,
सर्द अँधेरा।
ढीली आँखों से देखते हैं विश्व

उदास तारे।
हर बार सोच और हर बार अफ़सोस
हर बार फिक्र
के कारण बढ़े हुए दर्द का मानो कि दूर वहाँ, दूर वहाँ
अँधियारा पीपल देता है पहरा।
हवाओं की निःसंग लहरों में काँपती
कुत्तों की दूर-दूर अलग-अलग आवाज़,
टकराती रहती सियारों की ध्वनि से।
काँपती हैं दूरियाँ, गूँजते हैं फ़ासले
(बाहर कोई नहीं, कोई नहीं बाहर)

इतने में अँधियारे सूने में कोई चीख़ गया है
रात का पक्षी
कहता है :
'वह चला गया है,
वह नहीं आयेगा, आयेगा ही नहीं
अब तेरे द्वार पर।
वह निकल गया है गाँव में शहर में !
उसको तू खोज अब
उसका तू शोध कर !
वह तेरी पूर्णतम परम अभिव्यक्ति,
उसका तू शिष्य है (यद्यपि पलातक...)
वह तेरी गुरु है
गुरु है...,

3

समझ न पाया कि चल रहा स्वप्न या
जाग्रति शुरु है।
दिया जल रहा है,
पीतालोक-प्रसार में काल गल रहा है,
आस-पास फैली हुई जग-आकृतियाँ
लगती हैं छपी हुई जड़ चित्र-कृतियों-सी
अलग व दूर-दूर

निजीव !!
यह सिविल लाइन्स है। मैं अपने कमरे में
यहाँ पड़ा हुआ हूँ। आँखें खुली हुई हैं,
पीटे गये बालक सा मार खाया चेहरा
उदास इकहरा,
सलेट-पट्टी पर खींची गयी तसवीर
भूत जैसी आकृति
क्या वह मैं हूँ?
मैं हूँ ?

रात के दो हैं,
दूर-दूर जंगल में सियारों का हो - हो,
पास-पास आती हुई घहराती गूँजती
किसी रेलगाड़ी के पहियों की आवाज !!
किसी अनपेक्षित
असम्भव घटना का भयानक सन्देह,
अवेतन प्रतीक्षा,
कहीं कोई रेल-एक्सीडेण्ट न हो जाय।
विन्ता के गणित अंक
आसमानी सलेट पट्टी पर चमकते
खिड़की से दीखते।

हाय! हाय! तॉल्सतातॉय
कैसे मुझे दीख गये
सितारों के बीच बीच
घूमते व रूकते
पृथ्वी को देखते ।

शायद वह तॉल्सतॉय नुमा
कोई वह आदमी
और है,
मेरे किसी भीतरी धागे का आखिरी छोर वह
अनलिखे मेरे उपन्यास का

केन्द्रीय संवेदन
दबी हाय-हाय-नुमा,
शायद, टॉल्सटॉय-नुमा।

प्रोसेशन ?
निस्तब्ध नगर के मध्य-रात्रि-अँधेरे में सुनसान
किसी दूर बैण्ड की दबवी हुई क्रमागत तान-धुन
मन्द-तार उच्च-निम्न स्वर-स्वन
उदास-उदास ध्वनि- तरंगे हैं गम्भीर
दीर्घ लहरियाँ !!

गैलरी में जाता हूँ, देखता हूँ रास्त
वह कोलतार-पथ अथवा
मरी हुई खिंची हुई कोई काली जिह्वा
बिजली के द्युतिमान दिये या
मरे हुए दाँतों का चमकदार नमूना !!

किन्तु, दूर सडक के उस छोर
शीतभरे थर्राते तारों के अँधियाले तल में
नील-तेज-उद्भास
पास-पास पास-पास
आ रहा इस ओर !
दबी हुई गमीीर स्वर-स्वप्न तरंगें
उदास तान-धुन शत-ध्वनि-संगम-संगीत
समीप आ रहा !!

और, अब
गैसलाइट पाँतो की बिंदुएँ छिटकीं
बीचोबीच उनके
साँवले जुलूस-सा क्या-कुछ दीखता !!

और अब
गैसलाइट लिलाई में रँगे हुए अपर्थिव चेहरे,
बैण्ड-दल
उनके पीछे काले-काले बलवाल घोडों का जत्था

दीखता,
घना व डरावना अवचेतन ही
जुलूस में चलता।
क्या शोभा यात्रा
किसी मृत्यु दल की?

अजीब !!
दोनो ओर नीली-गैसलाइट-पाँत
चल रही, चल रही।
नील में खोये हुए शहर की गहन अवचेतना में
हलचल (पाताली तल.में
चमकदार साँपों की उड़ती हुई लगातार
लकीरों की वारदात !!
सब सोये हुए हैं।
लेकिन, मैं जाग रहा, देख रहा
रोमांचकारी यह जादुई करामात !!)
विचित्र प्रोसेशन
गम्भीर क्विक मार्च...
कलाबत्तूवाली काली जरीदार ड्रेस पहने
चमकदार बैण्ड दल -
अस्थि-रूप, यकृत-स्वरूप, उदर-आकृति
आँतों के जालों से उलझे हुए, बाजे वे दमकते हैं भयंकर
गम्भीर गीत - स्वर-तरंगे
ध्वनियों के आवर्त मँडराते पथ पर।
बैण्ड के लोगों के चेहरे
मिलते हैं मेरे देखे हुओं से,
लगता है उनमें कई प्रतिष्ठित पत्रकार
इसी नगर के !!
बडे बड़े नाम अरे, कैसे शामिल हो गये इस बैण्ड दल में !!
उनके पीछे चल रहा
संगीत-नोकों का चमकता जंगल,
चल रही पदचाप, तालबद्ध दीर्घ पाँत
टैंक-दल, मोर्टार, आर्टिलरी, सन्नद्ध
धीरे-धीरे बढ़ रहा जुलूस भयावना,

सैनिकों के पथराये चेहरे
चिढ़े हुए, झुलसे हुए, बिगड़े हुए गहरे !
शायद, मैंने उन्हें पहले कहीं तो भी देखा था।
शायद, उनमें मेरे कई परिचित !!
उनके पीछे यह क्या !!
कैवलरी !!
काले-काले घोड़ों पर ख़ाकी मिलिट्री ड्रैस,
चेहरे का आधा भाग सिन्दूरी-गेरुआ
आधा भाग कोलतारी भैरव,
भयानक !!
हाथों में चमचमाती सीधी खड़ी तलवार
आबदार !!
कन्धे से कमर तक कारतूसी बैल्ट है तिरछा।
कमर में, चमड़े के कवर में पिस्तौल,
रोषभरी एकाग्र दृष्टि में धार है,
कर्नल, ब्रिगेडियर जनरल, मार्शल
कई और सेनापति सेनाध्यक्ष
चेहरे वे मेरे जाने-बूझे-से लगते,
उनके चित्र समाचार-पत्रों में छपे थे,
उनके लेख देखे थे,
यहाँ तक कि कविताएँ पढ़ी थीं
भई वाह !
उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण
मन्त्री भी, उद्योगपति और विद्वान्
यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात.
डोमाजी उस्ताद
बनता है बलबन
हाय, हाय !!
यहाँ ये दीखते हैं भूत-पिशाच-काय।
भीतर का राक्षसी-स्वार्थ अब
साफ़ उभर आया है,
छुपे हुए उद्देश्य
यहाँ निखर आये हैं,
यह शोभा-यात्रा है किसी मृत्यु-दल की।

(विचारों की फिरकी
सिर में है घूमती)

इतने में प्रोशेसन में से कुछ मेरी ओर
आँखें उठी रोषभर
हृदय में मानो कि संगीन नोके ही घुस पड़ी बर्बर
सड़क पर उठ खड़ा हो गया कोई शोर
'मारो गोली, दागों स्साले को एकदम
दुनिया की नजरों से हटकर
छुपे तरीके से
हम जा रहे थे कि
आधी रात अंधेरे में उसने
देख लिया हमको
व जान गया वह सब
मार डालो उसको खतम करो एकदम'

रास्ते पर भाग-दौड़ धका-पेल !!
गैलरी से भागा मैं पसीने से सराबोर !!

एकाएक टूट गया स्वप्न व छिन्न भिन्न
हो गये सब चित्र।

जागते में फिर से याद आने लगा वह स्वप्न
फिर से याद आने लगे अँधेरे में चेहरे
और तब मुझे प्रतीत हुआ भयानक
महान भूतात्माएं इसी नगर की
हर रात जुलूस में चलती,
परन्तु दिन में
बैठती है मिलकर करती हुई षडयन्त्र
विभिन्न दफ्तरों-कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों में।
हाय, हाय। मैंने उन्हें देख लिया नंगा,
इसकी मुझे और सजा मिलेगी।

4

अकस्मात्
चार का गजर कहीं खड़का,
मेरा दिल धड़का,
उदास मटमेला मन रूपी वल्मीक
विचलित।
अगिनत काली-काली हायफ़न-डेशों की लकीरों की हलचल
सब ओर बिखराव।
मैं अपने कमरे में यहाँ लेटा हुआ हूँ।
काले-काले शहतीर छत के
हृदय दबोचते।
यद्यपि आँगन में नल ज़ोर मारता,
खूब खखारती पानी की धारा।
किन्तु, न शरीर में बल है
अँधेरे में गला रहा दिल यह।

एकाएक मुझे भान होता है जग का,
अख़बारी दुनिया का फैलाव,
फँसाव, घिराव, तनाव है सब ओर,
पत्ते न खड़कें
सेना ने घेर ली है सड़कें।
बुद्धि की मेरी रग
गिनती है समय की धकधक।
यह सब क्या है ?
किसी जन्मकांति के दमन-निमित यह
मार्शल लॉ हैं !!

दग छोड रहें भाग गलियों में मेरे पैर
साँस लगी हुई हैं,
जमाने की जीभ निकल पडी है,
कोई मेरा पीछा कर रहा है लगातार।
भागता मैं दम छोड,

घूम गया कई मोड़,
चौराहा दूर से ही दीखता,
वहीं शायद कोई सैनिक पहरेदार
नहीं होगा फिलहाल।
दीखता है सामने ही अंधकार स्तूप सा
भयंकर बरगद -
सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों,
गरीबों का वही घर, वही छत,
उसके ही तल खोह अंधेरे में सो रहे
गृहहीन कई प्राण।
अँधेरे में डूब गये
डालों में लटके जो मटमैले चिथड़े
किसी एक अति दीन
पागल के धन वे।
हाँ, वहाँ रहता है सिरफिरा कोई एक ।

किन्तु आज इस रात बात अजीब है।
वहीं जो सिरफिरा पागल कतई था
आज एकाएक वह
जागरित-बुद्धि है प्रज्वलत-घी है।
छोड़ सिरफिरा पन,
बहुत ऊँचे गले से,
गा रहा कोई पद, कोई गान
आत्मोदबोधमय !!

खूब भई, खूब भई,
जानता क्या वह भी कि
सैनिक प्रशासन है नगर में वाकई ।
क्या उसकी बुद्धि भी जग गयी !!

(करूण रसाल वे हृदय के स्वर हैं
गद्यानुवाद यहाँ उनका दिया जा रहा)

'आओ मेरे अदर्शवादी मन,

ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन,
अब तक क्या किया?
जीवन क्या जिया !!
उदरम्भरि बन अनात्म बन गये,
भूतों की शादी में कनात से तन गये,
किसी व्यभिचार के बन गये बिस्तर

दुःखों के दागों को तमगों सा पहना,
अपने ही खयालों में दिन-रात रहना,
असंग बुद्धि व अकेले में सहना,
जिन्दगी निष्क्रिय बन गयी तलघर

अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया !!

बताओ तो किस किस के लिए तुम दौड़ गये,
करूणा के दृश्यों से हाय । मुँह मोड़ गये
बन गये पत्थर,

बहुत-बहुत ज्यादा लिया,
दिया बहुत-बहुत कम,
मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम ।।

लोकहित पिता को घर से निकाल दिया
जन-मन करूणा-सी माँ को हकाल दिया
स्वार्थी के टेरिवर कुत्तों को पाल लिया
भावना के कर्तव्य त्याग दिये
हृदय के मन्तव्य ... मार डाले ।
बुद्धि का भाल ही फोड़ दिया
तर्कों के हाथ उखाड़ दिया
जम गये, जाम हुए फँस गये
अपने ही कीचड़ में धँस गये
विवेक बघार डाला स्वार्थी के तेल में
आदर्श खा गये।

अब तक क्या किया,
जीवन क्या जिया
ज्यादा लिया, और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम !!

मेरा सिर गरम है,
इसीलिए भरम है।
सपनों में चलता है आलोचन
विचारों के चित्रों की अवलि में चिन्तन
निजत्व-भाफ हैं बेचैन
क्या करूँ, किससे कहु,
कहाँ जाऊँ दिल्ली या उज्जैन ?

वैदिक ऋषि शुनःशेष के
शापभ्रष्ट पिता अजीगर्त समान ही
व्यक्तित्व अपना ही, अपने से खोया हुआ
वही उसे अकस्मात् मिलता था सन में
पागल था दिन में
सिरफिरा विक्षिप्त मस्तिष्क

हाय, हाय
उसने भी यह क्या मा दिया
यह उसने क्या नया ला दिया
प्रत्यक्ष
में खडा हो गया खुद ही के सामने
निज की ही घन छाया-मूर्ति-सा गहरा
होने लगी बहस ओर
लगने लगे परस्पर तमाचे
छिः पागलपन है
वृथा आलोचन है

गलियों में अन्धकार भयाव ...
मानो मेरे कारण ही लग गया

माशल लॉ वह,
मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया,
मानो मेरे कारण ही दुर्घट
हुई यह घटना।

चक्र से चक्र लगा हुआ है ...
जितना ही तीव्र है द्वन्द्व क्रियाओं घटनाओं का
बाहरी दुनिया में,
उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में,
चलता है द्वन्द्व कि
फिक्र से फिक्र लगी हुई है।
आज उस पागल ने मेरी चैन भुला दी
मेरी नींद गवाँ दी।

मैं इस बरगद के पास खड़ा हूँ।

मेरा यह चेहरा
धुलता है जाने किस अथाह गम्भीर साँवले जल से
झुके हुए गुमसुम टूटे हुए घरों के
तिमिर अतल से
घुलता है मन वह।
रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित
कोई गुरू गम्भीर महान अस्तित्व
महकता है लगातार
मानो खँडहर-प्रसारों में उद्यान
गुलाबी चमेली के रात्रि-तिमिर में
महकते हो, महकते ही रहते हो हर पल।
किन्तु वे उद्यान कहाँ है?
अंधेरे में पता नहीं चलता।
मात्र सुनना है सब ओर
पर उस महक लहर में
कोई छुपी वेदना, कोई गुप्त चिन्ता
छटपटा रही है छटपटा रही है।

एकाएक मुझे भान !!
पीछे से किसी अजनबी ने
कन्धे पर रक्खा हाथ ।
चौंकता मैं भयानक
एकाएक थरथर रेंग गयी सिर तक,
नहीं, नहीं। ऊपर से गिर कर
कन्धे पर बैठ गया बरगद-पात एक,
क्या वह संकेत, क्याय वह इशारा?
क्या वह चिट्ठी है किसी की ?
बरगद आत्मा का पत्र है वह क्या?
कौन सा इंगित ?

भागता मैं दम छोड़
घूम गया कई मोड!!
बन्दूक धाँय धाँय
मकानों के ऊपर प्रकाश सा छा रहा गेरूआ।
भागता मैं दम छोड़
घूम गया कई मोड़।
घूम गयी पृथ्वी, घूम गया आकाश,
और फिर किसी एक मुँदे हुए घर की
पत्थर सीढ़ी दिख गयी, उस पर
चुपचाप बैठ गया सिर पकड़ कर !!
दिमाग में चक्कर
चक्कर - भँवरे
भँवरों के गोल गोल केन्द्र में दीखा
स्वप्न सरीखा
भूमि की सतहों के बहुत बहुत नीचे
अंधियारी एकान्त
प्राकृत मुहा एक ।
विस्तृत खोह के साँवले तल में
तिमिर को भेदकर चमकते है। पत्थर

तेजस्क्रिय रेडियो-एक्टिव रत्न भी निखरे
झरता है जिन पर प्रबल प्रभात एक ।
प्राकृत जल बह आये सम्भव है।
द्युतिमत मंणियों की अग्नियों पर से
फिसल फिसल कर बहती हैं लहरें
लहरों के तल में से फूटती हैं किरने
रत्नों की रंगीन रूपों की आभा
फूट निकलती
खोह की बेडौल भीते हैं झिलमिल !!

पाता हूँ जिनको खोह के भीतर
बिलुब्ध नेत्रों से देखता हूँ द्युतियाँ
मणि तेजस्क्रिय हाथों में लेकर
विभोर आँखों से देखता हूँ उनको
पाता हूँ अकस्मात
दीप्ति में बलवित रत्न वे नहीं हैं।
अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष
मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुये हैं
विचारों की रक्तिम अग्नि के मणि वे
प्राण-जल-प्रपात में घुलते है। प्रतिपल
अकेले में किरणों की गीली हैं हलचल
घीली है झिलमिल।।

हाय, हाय! मैने उन्हें गुहा वास दे दिया
लोक-हित क्षेत्र से कर दिया वंचित
जनोपयोग से वर्जित किया और
निषिद्ध कर दिया
खोह में डाल दिया !!
वे खतरनाक थे,
(बच्चे भीख माँगते) खैर ...
वह न समय है,
जूझना ही तय है।

सीन बदलता है,
सुनसान चौराहा साँवला फैला,
बीच में वीरान गेरुआ घण्टाघर,
ऊपर कत्थई बुजुर्ग गुम्बद,
साँवली हवाओं में काल टहलता है।
रात में पीले हैं चार घड़ी-चेहरे,
मिनिट के काँटों की चार अलग गतियाँ
चार अलग कोण,.
कि चार अलग संकेत,
(मनस् में गतिमान चार अलग गतियाँ)
खम्भों पर बिजली की गर्दनें लटकी,
शर्म से जलते हुए बल्बों के आस-पास
बेचैन ख़यालों के पंखों के कीड़े
उड़ते हैं गोल-गोल
मचल-मचलकर।
घण्टाघर तले ही
पंखों के टुकड़े बीट व तिनके !
गुम्बद-विवर में बैठे हुए बूढ़े
असम्भव पक्षी
बहुत तेज़ नज़रों से देखते हैं सब ओर,
मानों कि इरादे,
भयानक चमकते।
सुनसान चौराहा,
बिखरी हैं गतियाँ, बिखरी है रफ्तार,
गश्त में घूमती है कोई दुष्ट इच्छा।
भयानक सिपाही जाने किस थकी हुई झोंक में
अँधेरे में सुलगाता सिगरेट अचानक
ताँबे-से-चेहरे की ऐंठ झलकती।
पथरीली सलवट
दियासलाई की पल-भर लौ में
भयानक दीखती।

पर, उसके चेहरे का रंग बदलता है हर बार,
मानो अनपेक्षित कहीं न कुछ हो...
जाने क्या हो जाय, जाने क्या हो जाय !!
वह ताक रहा है...
संगीन-नोकों पर टिका हुआ
साँवला बन्दूक-जत्था
गोल त्रिकोण एक बनाये खड़ा जो
चौक के बीच में !!
एक ओर
टैंकों का दस्ता भी खड़े-खड़े ऊँघता,
परन्तु अड़ा है !!

भागता मैं दम छोड़,
घूम गया कई मोड़।
भागती है चप्पल, चटपट आवाज़
चाँटों-सी पड़ती।
पैरों के नीचे का कीच उछलकर
चेहरे पर, छाती पर पड़ता है सहसा,
ग्लानि की मतली।
गलियों का गोल-गोल खोह-अँधेरा
चेहरे पर, आँखों पर करता है हमला।
अजीब उमस-बास
गलियों का रुँधा हुआ उच्छ्वास।
भागता हूँ दम छोड़,
घूम गया कई मोड़।
धुँधले-से आकार कहीं-कहीं दीखते,
भय के या घर के ? कह नहीं सकता
आता है अकस्मात् कोलतार रास्ता
लम्बा व चौड़ा व स्याह व ठण्डा,
बेचैन आँखें ये देखती हैं सब ओर।
कहीं कोई नहीं है,
नहीं कहीं कोई भी।
श्याम आकाश में, संकेत-भाषा-सी तारों की आँखें

चमचमा रही हैं।
मेरा दिल ढिंबरी-सा टिमटिमा रहा है
कोई मुझे खींचता है रास्ते के बीच से।
जादू से बँधा हुआ चल पड़ा उस ओर।
सपाट सूने में ऊंची-सी खड़ी जो
तिलक की पाषाण-मूर्ति है निःसंग
स्तब्ध जड़ीभूत...
देखता हूँ उसको परन्तु ज्यों ही मैं पास पहुँचता
पाषाण-पीठिका हिलती-सी लगती
अरे, अरे, यह क्या !!
कण-कण काँप रहे जिनमें से झरते
नीले इलेक्ट्रॉन
सब ओर गिर रहीं चिनगियाँ नीली
मूर्ति के तन से झरते हैं अंगार।
मुसकान पत्थरी होठों पर काँपी,
आँखों में बिजली के फूल सुलगते।
इतने में यह क्या !!
भव्य ललाट की नासिका में से
बह रहा खून न जाने कब से
लाल-लाल गरमीला रक्त टपकता
(खून के धब्बों से भरा अँगरखा)
मानो कि अतिशय चिन्ता के कारण
मस्तक-कोष ही फूट पड़े सहसा
मस्तक-रक्त ही बह उठा नासिका में से।
हाय, हाय, पितः पितः ओ,
चिन्ता में इतने न उलझो
हम अभी ज़िन्दा हैं ज़िन्दा,
चिन्ता क्या है !!
मैं उस पाषाण-मूर्ति के ठण्डे
पैरों को छाती से बरबस चिपका
रुआँसा-सा होता
देह में तन गये करुणा के काँटे
छाती पर, सिर पर, बाँहों पर मेरे
गिरती हैं नीली

बिजली की बिमगियाँ,
रक्त टपकता है हृदय में मेरे
आत्मा में बहता-सा लगता
खुन का तालाब।
इतने में छाती के भीतर ठक-ठक
सिर में है धड़-धड़ !! कट रही हड्डी !!
पिक्र ज़बर्दस्त !!
विवेक चलाता तीखा-सा रन्दा
चल रहा बसूला
छीले जा रहा मेरा यह निजत्व ही कोई
भयानक ज़िद कोई जाग उठी मेरे भी अन्दर,
काई बड़ा भारी हठ उठ खड़ा हुआ है।

इतने में आसमान काँपा व धाँय-धाँय
बन्दकू-धड़ाका
बिजली की रफ्तार पैरों में घूम गयी।
खोहों-सी गलियों के अँधेरे में एक ओर
मैं थक बैठ गया,
सचने-विचारने।
अधेरे में डूबे हुए मकानों के छप्परों पार से
रोने की पतली-सी आवाज़
सूने में काँप रही, काँप रही दूर तक
कराहों की लहरों में पाशव प्राकृत
वेदना भयानक थरथरा रही है।

मैं उसे सुनने का करता हूँ यत्न
कि देखता क्या हूँ -
समने मेरे
सर्दी में बोरे को ओढ़कर
कोई एक, अपने
हाथ-पैर समेटे
काँप रहा, हिल रहा !! वह मर जायगा !!
इतने में वह सिर खोलता है सहसा

बाल बिखरते,
दीखते हैं कान कि
फिर मुँह खोलता है वह कुछ
बुदबुदा रहा है,
किन्तु मैं सुनता ही नहीं हूँ।
ध्यान से देखता हूँ- वह कोई परिचित,
जिसे खूब देखा था, निरखा था कई बार
पर पाया नहीं था।
अरे हाँ, वह तो
विचार उठते ही दब गये
सोचने का साहस सब चला गया है।
वह मुख-अरे वह मुख, ये गाँधी जी !!
इस तरह पंगु !!
आश्चर्य !!
नहीं नहीं, यह जाँच पड़ताल
सुरागरसी सी कुछ
करते हैं चुपचाप।
रूप बदल कर ।

अंधेरे की स्याही में डूबे हुए देव को सम्मुख पाकर
मैं अति दीन हो जाता हूँ पास कि
बिजली का झटका
कहता है- 'भाग जा हट जा
हम हैं गुजर गये जमाने के चेहरे
आगे तू बढ़ जा।'
किन्तु मैं देखा किया उस मुख को ।
गम्भीर दृढ़ता की सलवटें वैसी ही,
शब्दों में गुर था।
वे कह रहे हैं -
'दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुर्गा
यदि बाँग दे उठे जोरदार
बन जाये मसीहा'।

वे कह रहे हैं -
'मिट्टी के लोंदे में किरणीले कण-कण
गुण हैं,
जनता के गुणों से ही सम्भव
भावी का उद्भव'
गम्भीर शब्द वे और आगे बढ़ गये,
जाने क्या कह गये !!
मैं अति उद्विग्न !

एकाएक उठ पड़ा आत्मा का पिंजर
मूर्ति की ठठरी।
नाक पर चश्मा, हाथ में डण्डा,
कन्धे पर बोरा, बाँह में बच्चा।
आश्चर्य !! अद्भुत ! यह शिशु कैसे !!
मुसकरा उस द्युति-पुरुष ने कहा तब -
'मेरे पास चुपचाप सोया हुआ यह था।
सँभालना इसको, सुरक्षित रखना'

मैं कुछ कहने को होता हूँ, इतने में वहाँ पर
कहीं कोई नहीं है, कहीं कोई नहीं है।
और ज़्यादा गहरा व और ज़्यादा अकेला
अँधेरे का फैलाव !
बालक लिपटा है मेरे इस गले से चुपचाप,
छाती से कन्धे से चिपका है नन्हा-सा आकाश
स्पर्श है सुकुमार प्यारभरा कोमल,
किन्तु, है भार का गम्भीर अनुभव।
भावी की गन्ध और दूरियाँ अँधेरी,
आकाशी तारों को साथ लिये हुए मैं
चला जा रहा हूँ
घुसता ही जाता हूँ फ़ासलों की खोहों की तहों में।

सहसा रो उठा कन्धे पर वह शिशु
अरे, अरे, वह स्वर अतिशय परिचित !!
पहले भी कई बार कहीं तो भी सुना था।

उसमें तो स्फोटक क्षोभ का आवेग
गहरी है शिकायत
क्रोध भयंकर।
मुझे डर, यदि कोई वह स्वर सुन ले।
हम दोनों फिर कहीं नहीं रह सकेंगे।
मैं पुचकारता हूँ बहुत दुलारता,
समझाने के लिए तब गाता हूँ गाने,
अधभूली लोरी ही होठों से फूटती
मैं चुप करने की जितनी भी करता हूँ कोशिश
और-और चीखता है क्रोध से लगातार ।।
गीले-गीले अंगार टपकते हैं मुझ पर।

किन्तु न जाने क्यों बहुत प्रसन्न हूँ।
(जिसको न मैं। इस जीवन में कर पाया,
वह कर रहा है)
मैं शिशु -पीठ को थपथपा रहा हूँ
आत्मा है गीली।
पैर आगे बढ़ रहे, मन आगे जा रहा ।

डूबता हूँ मैं किसी भीतरी सोच में ...
हृदय की थाह में रक्त का तालाब,
रक्त में डूबी है। द्युतिमान मणियाँ,
रूधिर से फूट रहीं लाल लाल किरणें,
अनुभव रक्त में डूबे हैं संकल्प
और ये संकल्प
चलते हैं साथ-साथ ।
अँधियारी गलियों में चला जा रहा हूँ।

इतने में पाता हूँ अँधेरे में सहसा
कन्धे पर कुछ नहीं !! वह शिशु
चला गया जाने कहाँ ,
और अब उसके ही स्थान पर
णात्र हैं सूरजमुखी फूल-गुच्छे ।
उन स्वर्ण-पुष्पों से प्रकाश-विकीरण।

कन्धें पर, सिर पर, गालों पर, तन पर,
रास्ते पर, फैले हैं किरणों के कण-कण।
भई वाह, यह खूब !!
इतने में गली एक आ गयी और मैं
दरवाज़ा खुला हुआ देखता।
ज़ीन है अँधेरा।
कहीं कोई ढिबरी-सी टिमटिमा रही है।
मैं बढ़ रहा हूँ
कन्धों पर फूलों के लम्बे वे गुच्छे
क्या हुए, कहाँ गये?
कन्धे क्यों वज़न से दुख रहे सहसा।
ओ हो !!
बन्दूक आ गयी
वाह वा !!
वज़नदार रायफ़ल,
भई खूब !!

खुला-खुला कमरा है साँवली हवा है,
झाँकते हैं खिड़की से, अँधेरे में टँके हुए सितारे
फैली है बर्फ़ीली साँस-सी, वीरान
तितर-बितर सब फैला है सामान।
बीच में ही कोई ज़मीन पर पसरा,
फैलाये बाँहें, ढह पड़ा आख़िर।
मै देह के चेहरे पर फैलाता टॉर्च कि यह क्या-
खूनभरे बाल में उलझा है माथा,
भौहों के बीच में गोली का सूराख,
खून का परदा-सा गालों पर फैला,
होञ्ठों पर सूखी है कत्थई धारा,
फूट है चश्मा, नाक है सीधी,
आपको ! एकान्त-प्रिय यह मेरा
परिचित व्यक्ति है, वही, हाँ,
सचाई थी सिर्फ़ एक अहसास
वह कलाकार था
गलियों के अँधेरे का, हृदय में भार था

पर कार्यक्षमता से वंचित व्यक्तित्व
चलाता था अपना असंग अतिस्तत्व।
सुकुमार मानवीय हृदयों के अपने
सुचितर विश्व के मात्र थे सपने ।
स्वप्न व ज्ञान के जीवनानुभव जो
हलचल करता था रह रह की दिल में
किसी को भी दे नही पाया था वह तो।
शून्य के जल में डूब गया नीरव
हो नहीं पाया उपयोग उसका।
किन्तु न जाने किस झोक में क्या कर गुजरा कि
सन्देहास्पद समझा गया और
मारा गया वह पथिकों के हाथों ।
मुक्ति का इच्छुक तृपार्त अन्तर
मुक्ति के यत्नों के साथ निरन्तर
सबका था प्यारा,
अपने में द्युतिमान।
उसका यों वध हुआ
मर गया एक युग,
मर गया एक जीवनादर्श !!
इतने में मुझको ही चिढ़ाता है कोई ।
सवाल है - मैं क्या करता था अब तक.
भागता·फिरता था सब ओर।
(फजूल है इस वक्त कोसना खुद को)
एकदम जरूरी-दोस्तों को खोजूँ
पाऊँ मैं नये-नये सहचर
सकमैक-सत-चित वेदना-भास्कर!!

जीने से उतरा
एकाएक विदूष रूपों से घिर गया सहसा
पकड़ मशीन सी
भयानक आकार घेरते हैं मुझको
मैं आततायी सत्ता के सम्मुख ।

एकाएक हृदय धड़ककर रूक गया, क्या हुआ!!

भयानक सनसनी।
पकड़कर कॉलर गला दबाया गया ।
चॉटे से कनपटी टूटी कि यह क्या
त्वचा उखड़ गयी गाल की पूरी।
कान में भर गयी।
भयानक अनहद नाद की भन-भन ।
आँखों में तैरे
रक्तिम तितलियाँ, विनमियाँ नीली।
सामने उगते डूबते धुँधले
कुहरिल बर्तुल
जिनका कि वक्रिल केन्द्र ही फैलता जाता
उस फैलाव में दीखते मुझको
धँस रहे, गिर रहे बड़े बड़े टावर
घुँघराला धुआँ गेरूई ज्वाला ।
हृदय में भगदड़ -
सम्मुख दीखा
उजाड़ बंजर टीले पर सहसा
रो उठा कोई, रो रहा कोई
भागता कोई सहारा देने ।
(अन्तर्तत्वों का पुर्नप्रबंधन और पुनव्यर्वस्था
पुनर्गठन सा होता जा रहा)

दृश्य ही बदला, चित्र बदल गया
जबरन ले जाया गया मैं गहरे
अंधियारे कमरे के स्याह सिकर से।
टूटे से स्टूल पर बिठाया गया हूँ ।
शीश की हड्डी जा रही तोड़ी।
लोहे की कीलों पर पड़े हथौड़े
पड़ रहे लगातार।
शीश का मोटा अस्थि कवच ही निकाल डाला ।
देखा जा रहा -
मस्तक-यंत्र में कौन से विचारों की कौन सी ऊर्जा,
कौन सी शिरा में कौन सी धकधक
कौन सी रंग में कौन सी फुरफुरी

कहाँ है पश्यत कैमरा जिसमें
तथ्यों के जीवन-दृश्य उतरते,
कहाँ-कहाँ सच्चे सपनों के आशय
कहाँ-कहाँ क्षोभक-स्फोटक सामान।
भीतर कहीं पर गड़े हुए गहरे
तलघर अन्दर
छुपे हुए छापाखानों को खोजो।
जहाँ कि चुपचाप खयालों के पर्व
छपते रहते हैं (बाँटे जाते)
इस संस्था के मंत्री को खोजा
शायद उसका ही नाम हो, आस्था,
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा?
(और मैं सुनता हूँ चिढ़ी हुई ऊँची
खिझलायी आवाज)
स्क्रीनिंग करो, मिस्टर गुप्ता,
क्रास एक्जामिन हिम थारोली !!

चाबुक चमकार
पीठ पर यद्यपि
उखड़े चर्म की कत्थई-रक्तिम रेखाएँ उभरी
पर यह आत्मा कुशल बहुत है,
देह में रेंग रही संवेदना के
झनझन तारों को जबरन
समेटकर सब वह
वेदना विस्तार करके इकट्ठा
मेरा मन यह, जोर लगाकर
बलात उनकी छोटी सी कड़ढी
गठान बाँधता सख्त व मजबूत
मानो कि पत्थर ।
जोर लगाकर
उसी गठान को हथेलियों से
करता है चूर चूर
धूल में बिखरा देता है उसको।
मन यह हटता है देह की हद से

जाता है कहीं पर अलग जगत में।
विचित्र क्षण है
सिर्फ हूँ जादू
मात्र मैं बिजली
यद्यपि खोह में खूटे से बँधा है,
दैत्य हैं आस-पास
किन्तु मैं बहुत दूर मीलों के पार वहाँ
गिरता हूँ चुपचाप पत्र के रूप में
किसी एक जेब में
वह जेब ...
किसी एक फटे हुए मन की।

समस्वर समताल्
सहानुभूति की सनसनी कोमल !!
हम कहाँ नहीं हैं
सभी जगह मन।
निजता हमारी।
भीतर-भीतर बिजली के जीवित
तारों के जाले,
ज्वलन्त तारों की भीषण गुत्थी,
बाहर-बाहर धूल सी भूरी
जमीन की पपड़ी।
अग्नि को लेकर मस्तक हिमवत्
उग्र प्रभंजन लेकर उर यह
बिलकुल निश्चल।
भीषण शक्ति को धारण करके
आत्मा की पोशाक दीन व मैली।
विचित्र रूपों को धारण करके
चलता है जीवन, लक्ष्यों के पथ पर ।
रिहा !!
छोड़ दिया गया !!
अब छाया-मुख कई करते हैं पीछा,
श्यामाकार न छोड़ते हैं। मुझको,
जहाँ गया, जहाँ रुका, जहाँ चला वही पर

भौंहों के नीचे के रहस्यमय छेद
मारते हैं संगीन -
दृष्टि की पत्थरी चमक है पैनी।

मुझे अब खोजने होंगे साथी -
काले गुलाब व स्याह सिदन्ती,
श्याम चमेली,
सँवलाये कमल जो खोहों के जल में,
भूमि के भीतर पाताल तल में
खिले हुए कब से भेजते हैं संकेत
सुझाव-सन्देश भेजते रहते !!

इतने में सहसा दूर क्षितिज पर
दीखते हैं मुझको
बिजली की नंगी लताओं से झर रहे
सफ़ेद नीले मोतिया चम्पई फूल गुलाबी;
उठते हैं वहीं पर हाथ अकस्मात्
अग्नि के फूलों को समेटने लगते।
मैं उन्हें देखने लगता हूँ एकटक;
अचानक विचित्र स्फूर्ति से मैं भी
ज़मीन पर पड़े हुए चमकीले पत्थर
लगातार चुनकर
बिजली के फूल बनाने की कोशिश
करता हूँ। रश्मि-विकीरण-
मेरे भी प्रस्तर करते हैं प्रतिक्षण।
तेजस्क्रिय मणि-रत्न रत्न हैं ये भी।
बिजली के फूलों की भाँति ही
यत्न हैं वे भी,
किन्तु, असन्तोष मुझको है गहरा,
शब्दाभिव्यक्ति-अभाव का संकेत।
काव्य-चमत्कार उतना ही रंगीन
परन्तु, ठण्डा।
मेरे भी फूल हैं तेजस्क्रिय, पर
अतिशय शीतल।

मुझको तो बेचैन बिजली की नीली
ज्वलन्त बाँहों में बाँहों को उलझा
करनी है उतनी ही प्रदीप्त लीला
आकाश-भर में साथ-साथ उसके घूमना है मुझको
मेरे पास न रंग है बिजली का गौर कि
भीमाकार हूँ मेघ मैं काला
परन्तु, मुझमें है गम्भीर आवेश
अथाह प्रेरणास्रोत का संयम।
अरे, इन रंगीन पत्थर-फूलों से मेरा
काम नहीं चलेगा !!
क्या कहूँ
मस्तक-कुण्ड में जलती
सत्-चित्-वेदना-सच्चाई व ग़लती
मस्तक-शिराओं में तनाव दिन-रात।

अब अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।
पहुँचाना होगा दुर्गम पहाड़ों के उ पार
तब कहीं देखने मिलेंगी हमको
नीली झील की लहरीली थाहें
जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता
अरुण कमल एक,
धँसना ही होगा
झील के हिम-शीत सुनील जल में।
जादुई झील को करनी ही होगी मेरी प्रतीक्षा।

7

चाँद उग आया है
गलियों की आकाशी लम्बी-सी चीर में
तिरछी है किरणों की मार
उस नीम पर
जिसके कि नीचे
मिट्टी के गोल चबूतरे पर, नीली

चाँदनी में कोई दिया सुनहला
जलता है मानो कि स्वप्न ही साक्षात्।
मकानों के बड़े-बड़े खँडहर जिनके कि सूने
मटियाले भागों में खिलती ही रहती
महकती रातरानी फूलभरी जवानी में लज्जित
तारों की टकटकी अच्छी न लगती।
भागता मैं दम छोड़,
घूम गया कई मोड़,
टूटी हुई भीतों के उस पार कहीं पर
बहस गरम है
दिमाग़ में जान है, दिलों में दम है
सत्य से सत्ता के युद्ध का रंग है,
पर, कमज़ोरियाँ सब मेरे संग हैं;
पाता हूँ सहसा-
अँधेरे की सुरंग-गलियों में चुपचाप
चलते हैं लोग-बाग
दृढ़-पद गम्भीर,
बालक युवागण
मन्द-गति नीरव
किसी निज भीतरी बात में व्यस्त हैं,
कोई आग जल रही कहीं तो भी अन्तस्थ।

विचित्र अनुभव !!
जितना मैं लोगों की पाँतों को पारकर
बढ़ता हूँ आगे,
उतना ही पीछे मैं रहता हूँ अकेला,
पश्चात-पद हूँ।
पर, एक रेला और
पीछे से चला और
अब मेरे साथ है !
आश्चर्य !! अद्भुत !!
लोगों की मुट्ठियाँ बँधी हैं।
उँगली-सन्धि से फूट रहीं किरनें
लाल-लाल,

यह क्या !!
मेरे ही विक्षोम -मणियों को लिये वे,
मेरे ही विवेक-रत्नों को लेकर,
बढ़ रहे लोग अँधेरे में सोत्साह।
किन्तु मैं अकेला
बौद्धिक जुगाली में अपने से टुकेला ।

गलियों के अंधेरे में मैं भाग रहा हूँ
इतने में चुपचाप कोई एक
दे जाता पर्चा,
कोई गुप्त शक्ति
हृदय में चुपचाप करती है चर्चा !!
मैं बहुत ध्यान से पढ़ता हूँ उसको।
आश्चर्य !
उसमें तो मेरे ही गुप्त विचार व
दबी हुई संवेदनाएं व अनुभव
पीड़ाएं जगमगा रही हैं।
यह सब क्या है !!

आसमान झांकता है उन स्याह लकीरों के बीच बीच
वाक्यों की पातों में आकाश गंगा सी फैली
शब्दों के व्यूहों में झिलमिल नक्षत्र
और उन तारक दलों में तो खिलता है आँगन
जिसने कि चम्पा के फूल चमकते
और उन पुष्पों के अन्तराल में
प्राण-समस्या का कोई हल है।

पर्चा पढते हुए उड़ता हूँ। हवा में
चक्रवात गतियों में घूमता हूँ नभ भर,
जमीन पर एक साथ
सर्वत्र सचेत उपस्थित।
प्रत्येक स्थान पर लगा हूँ मैं काम में
प्रत्येक चौराहे, दुराहे व राहों के मोड़ पर
सड़क पर खड़ा हूँ
मनाता हूँ, मानता हूँ, मनवाता नहीं हूँ!!

और अब दिक्काल दूरियाँ
अपने ही देश के नक्शे सी टँगी हुई
रँगी हुई लगती !!
स्वप्नों को कोमल किरनों का पानी
धनीभूत संघनित द्युतिमान
शिलाओं में परिणत,
वे सब दृढ़ीभूत कर्म शिलाएँ है
जिनसे कि स्वप्नों की मूर्ति बनेगी
सस्मित सुखकर
जिसमें से उदगत क्रियाशील किरने
ब्रह्माण्ड भर में नापेंगी सब कुछ
सचमुच, मुझको तो जिन्दगी सरहद
सूर्यो। के प्रांगण पार भी जाती सी दीखती !!
मै परिणत हूँ,
कविता मैं कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता!
पूँजी से जुड़ा हुआ बदल नहीं सकता,
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,
जन को !

8

एकाएक हृदय धड़ककर रूक गया, क्या हुआ !!
नगर से भयानक धुआँ उठ रहा है,
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी।
सड़कों पर भरा हुआ फैला है सुनसान,
हवाओं में अदृश्य ज्वाला की गरमी
गरमी का आवेश।
साथ साथ घूमते हैं साथ साथ रहते हैं,
साथ साथ सोते हैं, खाते हैं, पीते हैं,
जन मन उद्देश्य !!
पथरीले चेहरों की खाकी ये कैसी ड्रेस
घूमते हैं यन्त्रवत
बेपहचाने से लगते हैं वाकई

कहीं आग लग गयी कहीं गोली चल गयी !!

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं;
उनके ख़याल से यह सब गप है
मात्र किंवदन्ती।
रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे,
प्रश्न की उथली-सी पहचान
राह से अन्जान
वाक् रुदन्ती।
चढ़ गया उर पर कहीं कोई निर्दयी,
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी।

भव्याकार भवनों के बिवरों में छिप गये
समाचार-पत्रों के पतियों के मुख स्थूल।
गढ़े जाते संवाद,
गढ़ी जाती समीक्षा,
गढ़ी जाती टिप्पणी, जन-मन-उर-शूल।
बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास,
किराये के विचारों का उद्भास।
बड़े-बड़े चेहरों पर स्याहियाँ पुत गयीं।
नपुंसक श्रद्धा
सड़क के नीचे की गटर में छिप गयी,
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी।

धुएँ के ज़हरीले मेघों के नीचे ही हर बार
द्रुत निज विश्लेष-गतियाँ,
एक सूक्ष्म पल में शत साक्षात्कार।
टूटते हैं धोखों से भरे हुए सपने।
रक्त में बहती हैं ज्ञान की किरनें
विश्व की मूर्ति की आत्मा ही ढल गयी,
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी!

राह के पत्थर-ढोकों के अन्दर

पहाड़ों के झरने
तड़पने लग गये।
मिट्टी के लोंदे के भीतर
भक्ति की अग्नि का उद्रेक
भड़कने लग गया।
धूल के कण में
अनहद नाद का कम्पन
खतरनाक !!
मकानों की छत से
गाडर कूद पड़े
धम से !
घूम उठे खम्भे
भयानक वेग से चल पड़े हवा में।
दादा का सोंटा भी करता है दाँव-पेंच,
गगन में नाच रही कक्का की लाठी।
यहाँ तक कि बच्चे की पेमें भी उड़तीं,
तेज़ी से लहराती घूमती
मुन्ने की सलेट-पट्टी।
एक-एक वस्तु या एक-एक प्राणाग्नि-बम है,
ये परमास्त्र हैं, प्रक्षेपास्त्र हैं, यम हैं।
शून्याकाश में से होते हुए वे
अरे, अरि पर ही टूट पड़े अनिवार।
यह कथा नहीं है, यह सब सच है, हाँ भई !!
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी।

किसी एक बलवान तम-श्याम कुम्हार ने बनाया
कण्डों का वर्तुल ज्वलन्त मण्डल।
स्वर्णिम कपालों की पाँखुरी-जैसी ही
ज्वालाएँ उठती हैं उससे,
और उसे गोल-गोल ज्वलन्त रेखा में रक्खा
लोहे का चक्का
चिनगियाँ स्वर्णिम नीली व लाल-लाल
फूलों-सी खिलतीं।
कुछ बलवान जन साँवले मुख के

चढ़ा रहे लकड़ी के चक्के पर जबरन
लाल-लाल लोहे की गोल-गोल पट्टी
घन मार घन मार,
उसी प्रकार अब
आत्मा के चक्के पर चढ़ाया जा रहा
संकल्प-शक्ति के लोहे का मज़बूत
ज्वलन्त टायर !!
अब युग बदला है वाक़ई,
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी।

गेरुआ मौसम, उड़ते हैं अंगार,
जंगल जल रहे ज़िन्दगी के अब
जिनके कि ज्वलत् प्रकाशित भीषण
कूलों से बहतीं वेदना नदियाँ
जिनके कि जल में
सचेत होकर सैकड़ों सदियाँ ज्वलन्त अपने
बिम्ब प्रसारित करती हैं प्रतिपल।
वेदना-नदियाँ
जिनमें कि डूबे हैं, युगानुयुग से
पिताओं की चिन्ता का उद्विग्न रंग भी
विवेक-पीड़ा की गहराई बेचैन,
डूबा है जिसमें श्रमिक का सन्ताप।
माँओं के आँसू।
वह जल पीकर,
मेरे युवकों में व्यक्तित्वान्तर,
विभिन्न क्षेत्रों में कई तरह से करते हैं संगर,
मानो कि ज्वाला-पंखुरी-दल में घिरे हुए वे सब
अग्नि-कमल के केंद्र में बैठे।
द्रुत-वेग बहती हैं शक्तियाँ निश्चयी।
कहीं आग लग गयी,
कहीं गोली चल गयी !!
X X X
एकाएक फिर स्वप्न-भंग
बिखर गये चित्र कि मैं फिर अकेला।

मस्तिष्क-हृदय में गहरे व बारीक छेदों से भर गये।
पर उन रंध्रों के दुखों में गहरा
प्रदीप्त ज्योति का रस बस गया है।
मैं उन सपनों का खोजता हूँ आशय,
अर्थों की वेदना घिरती है मन में।
अजीब झमेला।
घूमता है मन उन भावों के घावों के आस-पास
आत्मा में चमकीली प्यास भर गयी है।
जग भर दीखती हैं सुनहली तसवीरें मुझको
मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण में ही राहरा
प्रेम कर लिया हो मनोहर मुख से
जीवन भर के लिए !!
मानो कि उस क्षण
अतिशय मृदु किन्हीं बाँहों ने आकर
कस लिया था मुझको
उस स्वप्न-स्पर्श की, चुम्बन-घटना की याद आ रही है,
याद आ रही है !!
अज्ञात प्रणयिनी कौन थी, कौन थी ?

कमरे में सुबह की धूप आ गयी है,
गैलरी में फैला है सुहला रवि-छोर
क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी?
हाय! यह वेदना स्नेह की गहरी
जाग गयी क्योंकर?

सब ओर विद्युतरंगीय हलचल
चुम्बकीय आकर्षण।
प्रत्येक वस्तु का निज-निज आलोक,
मानो कि अलग-अलग फूलों के रंगीन
अलग-अलग वातावरण हैं बेमाप,
प्रत्येक अर्थ की छाया में दूसरा, आशय
झिलमिला रहा-सा
डेस्क पर रखे हुए महान् ग्रन्थों के लेखक
मेरी इन मानसिक क्रियाओं के बन गये प्रेक्षक,

मेरे इस कमरे में आकाश उतरा,
मन यह गगन की। वायु में सिहरा।
उठता हूँ, जाता हूँ, गैलरी में खड़ा हूँ।
एकाएक वह व्यक्ति...
सामने
गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में
चला जा रहा है।
वही जन जिसे मैंने देखा था गुहा में।
धड़कता है दिल
कि पुकारने को खुलता है मुँह
कि अकस्मात्...
वह दिखा, वह दिखा
वह फिर खो गया किसी जन-यूथ में...
उठी हुई बाँह यह उठी हुई रह गयी !!

अन-खोजी निज समृद्धि का वह परम उत्कर्ष,
परम अभिव्यक्ति...
मैं उसका शिष्य हूँ
वह मेरी गुरु है,
गुरु है !!

वह मेरे पास कभी बैठा ही नहीं था,
वह मेरे पास कभी आया ही नहीं था,
तिलिस्मी खोह में देखा था एक बार,
आख़िरी बार ही।
पर, वह जगत् की गलियों में घूमता है प्रतिपल
वह फटे-हाल रूप।
विद्युल्लहरिल वही गतिमयता,
उद्विग्न ज्ञान-तनाव वह
सकर्मक प्रेम की वह अतिशयता
वही फटे-हाल रूप !!
परम अभिव्यक्ति
अविरत घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ

वह है।
इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,
प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,
बाहर एक आत्म का इतिहास,
हर एक देश व राजनीतिक स्थिति और परिवेश
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक प्रक्रिया किंग्रागत परिणति !!
खोजता हूँ पठार ... पहाड़ ... समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-सम्भवा।

(सम्भावित रचनाकाल 1937 से 1962 तक । अन्तिम संशोधन 1962 में । नागपुर राजनाँद गाँव। कल्पना, नवम्बर 1964, आशंका के द्वीप अंधेरे में शीर्षक से प्रकाशित । चाँद का मुँह टेढ़ा है मैं संकलित ।)

कविताओं के बारे में

मुक्तिबोध की दो कविताएँ पाठ्यक्रम में संकलित हैं - 'पता नहीं' और 'अंधेरे में'। ये दोनों कविताएँ 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित हैं। 'पता नहीं' कविता कल्पना पत्रिका में सन 1962 में तथा 'अंधेरे में' कविता इसी पत्रिका में सन 1964 में आशंका के दीप अंधेरे में शीर्षक से प्रकाशित हुई थीं। 'अंधेरे में' कविता कवि की प्रतिनिधि कविता है और इसकी रचना 1957 से लेकर 1962 तक हुई थी। 'अंधेरे में' कविता मुक्तिबोध की सबसे लंबी कविता के रूप में भी जानी जाती है।

'पता नहीं ..... कविता का आरंभ अनिश्चितता से होता है, लेकिन कविता के भीतर ज़िंदगी की एक ठोस धुरी पाने की अभिलाषा है। कवि अपने अनुभव और अपनी आलोचनात्मक क्षमता को विभिन्न भावों में भिगोकर देखना चाहता है। उसके बीच वह अपने जीवन की प्रामाणिकता को ढूंढ़ता है। कवि अपने सामयिक यथार्थ से परेशान है। समय का यथार्थ संभावनाओं को कुंठित कर रहा है। मनुष्य की आत्मीयता में कवि का पूरा विश्वास है। इस आत्मीयता से ही जन समूह को जोड़ा जा सकता है जो क्रांति को साकार कर सकती है। मुक्तिबोध की कविता में मध्यवर्ग के स्वप्न और उसके कर्म की वास्तविकता को यथार्थ रूप में दिखाया गया है। इस कविता के तीसरे खंड में अंतहीन अर्थहीनता का वर्णन है। अर्थहीनता जिससे सामूहिक आक्रोश ठंडा पड़ता है। कविता के अंत में कवि की आकांक्षा का वर्णन मिलता है। जनता के साथ चलने वाली आस्था व्यक्ति को दरिद्र बना सकती है। उसके कारण उसे अन्याय और दैन्य भी भोगना पड़ सकता है। परंतु इसमें एक प्रकार की आत्मतुष्टि और संतोष मिलता है। यह आत्मीयता और मानवीयता गहन वैचारिक यात्रा के बाद संभव होती है।

'अंधेरे में' मुक्तिबोध की लंबी कविता है। कविता आठ खंडों में विभाजित है। अंधेरे में कविता में गहनतम अंधकार है। यह अंधकार निराला की 'राम की शक्तिपूजा' के अमा निशा से मिलता जुलता है। अंधेरा सामाजिक व्यवस्था और व्यक्ति के अवचेतन दोनों स्तरों पर छाया हुआ है। कविता के नायक में अंतर्विरोध है। एक तरफ तो नायक ज़िंदगी के कमरों के अंधेरे में चक्कर लगाता है और दूसरी ओर वह शहर में सक्रिय गतिविधियों को देखता है। रक्तालोक स्नात पुरुष की कवि पूरी पहचान बताता है। रक्तालोक स्नात पुरुष कवि की परम अभिव्यक्ति है, वह कवि की प्रतिभा की पूर्णावस्था है। उसमें उदात्तता नहीं है। वह फटा हुआ वस्त्र पहनता है, उसका मुख मैला है और उसके वक्ष पर घाव हैं। यह चित्र जीवन संग्राम में लड़ते हुए व्यक्ति का है। इस व्यक्ति का चित्र 'राम की शक्तिपूजा' में युद्ध से लौटे हुए राम के वर्णन के समान है। यह रक्तालोक स्नात पुरुष कविता के दूसरे खंड में वाचक से मिलने आता है। वाचक उसे अपने में समो लेना चाहता है। वाचक अपनी कमज़ोरी को कारण उससे नहीं मिल पाता है। मुक्तिबोध की कविता मध्यवर्ग की खोखली कृत्रिमता से

भी हमारा परिचय करती है। कविता का यह खंड मध्यवर्गीय झिझक को भी खोल कर सामने रखता है।

कविता के तीसरे खंड में भय और आतंक के वातावरण का प्रसार है। लेकिन उसके बीच कविता में कहीं कहीं आस्था के एक सूत्र की झलक मिल जाती है।व्यवस्था की अमानवीय साज़िश और कवि आस्था के बीच टकराहट से कविता में गहरी नाटकीयता पैदा होती है। कविता के नायक को व्यवस्था अपना शत्रु समझती है। उसकी खोज करती है। कहने का अर्थ है विवेक को कोई भी व्यवस्था बर्दाश्त करना नहीं चाहती है।चौथे खंड में काव्य नायक अपने को चारों तरफ से घिरा हुआ पाता है। रात्रि का अंधकार ऐसा सघन है कि हर चीज की परछाई भयंकर मालूम पड़ती है। कवि कविता के बीच बीच में मध्यवर्गीय स्वार्थ भावना की जमकर आलोचना करता है। मुक्तिबोध की कविता मन की आंतरिक परत और बाह्य संसार के यथार्थ दोनों स्तर पर सक्रिय है। कविता के इस अंश में भी वह बेचैनी देखने को मिलती है। पाँचवें खंड में कविता में मन की आंतरिक दशाओं का वर्णन है। कवि के आंतरिक भाव लहर के रूप में उसके मस्तिष्क जगाते है। कवि का भावावेग और अनुभव मिलकर काव्य विवेक की रचना करता है।

कविता के छठे भाग में नाटक की तरह कविता में सीन बदलता है। दमन चक्र का अनुभव कविता में घटित होता है।इस स्थल पर कविता में गहरा सूनापन है। इसी बीच काव्य नायक को तिलक की मूर्ति दिखाई पड़ती है। वह मूर्ति लहुलुहान और घायल है, लेकिन उसमें अदभुत संकल्प शक्ति है। गांधी जी अपना उत्तरदायित्व काव्य नायक को सौंपते हैं। यहाँ आकर काव्य नायक संक्रियता के महत्व से परिचित होता है। बुद्धिवाद की अक्रर्मण्यता की यहाँ मृत्यु होती है। एक असफल जीवन दृष्टि के काव्य नायक मुक्त होता है। इसके बाद काव्य नायक भीषण यातनामय प्रक्रिया से गुजरता है। दमनतंत्र विचारों की सक्रियता को प्रतिबंधित करता है। काव्य नायक अब अभिव्यक्ति के संपूर्ण खतरे उठाने को तैयार है। वह क्रांति के द्वारा परिवर्तन को तैयार हो जाता है।

कविता के सातवें खंड में काव्य-नायक दम छोड़कर भागता है। काव्य नायक अपने वर्गीय चरित्र से परेशान है। वह पूंजीवाद के भ्रम को समझता है। वह इस छल से मुक्त होने की कोशिश करता है। आठवां खंड कविता का अंतिम खंड है। कविता के इस खंड में पूंजीवादी शोषण से शोषक का चेहरा स्पष्ट हो जाता है। बौद्धिक वर्ग भी इस शोषण में शामिल है। जन संचार माध्यम भी इसी शोषण का एक अंग है। कविता में जनक्रांति की आशा जगती है।संघर्ष तीव्रतर होता है। शोषित लोगों का दुख-दर्द सामूहिक पीड़ा में रूपांतरित होता है। लेकिन कविता में एकाएक स्वप्न बिखरता है। कविता के अंत में कवि जनता के बीच जाने की आकांक्षा अभिव्यक्त करता है। वहीं से परम अभिव्यक्ति संभव है। कवि प्रत्येक चरित्र की गतिविधि को देखता है और उसे जानने का प्रयत्न करता है।

मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' में फैंटेसी शिल्प का प्रयोग मिलता है। यह फैंटेसी हमें किसी स्वप्न लोक में नहीं ले जाती है। यह फैंटेसी हमारे अनुभव को अधिक वास्तविक ढंग से रखने का प्रयास करती है। स्वप्न के भीतर स्वप्न में कविता गतिमान है। व्यवस्था का आतंक और काव्य नायक का आत्म संघर्ष फैंटेसी को सघन और गहरा बनाते हैं। कविता में डरे और सहमे हुए व्यक्ति की मनोवृत्ति की स्पष्ट छाया मिलती है। गोली चलने का, रात में ट्रेन दुर्घटना अथवा लगातार भागने का दृश्य कविता में विद्यमान है। कविता में हर स्थान पर भय का वातावरण बना हुआ है। कवि नई भाषा में हमारे अनुभव को प्रस्तावित करने का सार्थक प्रयास करता है। कविता संस्कृत के शब्दों के साथ उर्दू के प्रयोग से भाषा की विजातीयता को प्रस्तुत करती है। कहानी और उपन्यास की भाषा को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने में एक जोखिम है। मुक्तिबोध इस जोखिम को उठाते हैं। 'अंधेरे में' कविता में वर्णनात्मक भाषा का काव्यात्मक उपयोग मिलता है। 'पता नहीं' कविता की भाषा में शब्दों का प्रयोग मार्मिक है। उसमें हमारे लोकजीवन के चित्र हैं। श्रमिकों की शब्दावली का प्रयोग भाषा में मिलता है।

मुक्तिबोध की कविता तत्व अभिव्यक्ति और दृष्टि विकास के लिए संघर्ष करती है। कविता का वैचारिक परिप्रेक्ष्य हो अथवा शिल्प कहीं भी कवि के लिए रास्ता बना बनाया नहीं है। गहन अनुभव और तीव्र वैचारिक संघर्ष के बाद वे कविता को प्राप्त करते हैं। इसलिए उनकी कविता पारंपरिक काव्य ढाँचा तोड़कर नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ती है। 'अंधेरे में' कविता का ढाँचा महाकाव्यात्मक है। इस कवित का नायक किसी मिथक से पैदा नहीं हुआ है। वह अपने समय की व्यवस्था के प्रतिरोध में खड़ा एक साधारण मनुष्य है। वह अपने समाज को बेहतर बनाने के लिए कृतसंकल्प है, लेकिन उसमें अपनी कमज़ोरियाँ भी हैं जिसका बेबाक वर्णन मुक्तिबोध करते हैं। इस स्पष्टवादी मनोवृति के कारण ही मुक्तिबोध की कविता में अराजकता मिलती है। इस अराजकता में एक शक्ति है। यह शक्ति उन्हें अंधकार से लड़ने का साहस देती है। 'अंधेरे में' कविता में फैंटेसी है। यह कविता स्वप्न में चलती है। कविता के इस स्वप्न में हमारे जीवन के खुरदरे सच को जटिलताओं में अभिव्यंजित करने की ताकत है।

व्याख्या

'..... ओ मेरे आदर्शवादी मन ..... मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुम!!'

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज की समस्त अर्थपूर्ण इकाइयाँ और मूल्य आधुनिक सभ्यता के दबाव में विश्रृंखलित और अर्थ शून्य हो गये थे। उनके टूटने की गहन पीड़ा भारतीय आत्मा में दिखाई पड़ रही थी। मुक्तिबोध ने इन स्थितियों का सामना किया था।

मुक्तिबोध की कविता में मध्यवर्ग के छल के प्रति तीव्र वितृष्णा का भाव मिलता है। अंधेरे में कविता यदि एक तरफ समाज का सच है तो दूसरी तरफ कवि मुक्तिबोध के अपने आत्म संघर्ष की कहानी भी है। प्रस्तुत पंक्तियाँ अंधेरे में कविता से ली गई है। कविता के इस स्थल पर कवि ने मध्यवर्ग की मानसिकता की गहरी आलोचना की है।

मध्यवर्ग के सामने आदर्श और सिद्धान्त का एक प्रतिमान होता है। यह उससे निर्धारित मूल्यों के बीच जीना चाहता है। लेकिन सिद्धांत और मूल्यों का जाल ऊपर से ही दिखाई देता है। क्योंकि मध्यवर्ग के अंतःकरण में सुविधा भोग के प्रति आकर्षण बना रहता है। वह सुविधावाद के लिए अपने मूल्यों और सिद्धान्तों को त्यागने में नहीं हिचकता है। मध्यवर्ग के बाह्य व्यक्तित्व और आंतरिक व्यक्तित्व में काफी फर्क होता है। मुक्ति बोध इस भ्रमजाल के आलोचक है। मध्यवर्ग की कृत्रिम और खोखली जिंदगी में आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं है। पेट की चिंता में आत्म को बेचने की प्रवृत्ति गलत है। मुक्ति बोध के लिए अनात्म होना उदात मूल्यों से हीन होना है। कवि का विश्वास शाश्वतता में नहीं है, शाश्वत मानवीय मूल्यों में है। इसलिए व्यभिचारी का विस्तर होना कवि के लिए असह्य है। व्यभिचार को आडंबर से ढक देना दोषपूर्ण है।

मध्यवर्ग में जीवन के प्रति निष्क्रियता का बोध विकसित हुआ है। पूंजीवाद ने सर्वप्रथम उसे अकेला बनाया फिर उसे स्वार्थी बनने की दिशा में प्रेरित किया। दुःख भी उसके लिए दिखावे का साधन है। दुःख में वेदना होना स्वाभाविक है, परन्तु उन दुःखों को समाज में तमगे सा दिखाने की मानसिकता गलत है। अपने स्वार्थ को प्राथमिक मानना भी उचित नहीं है। राष्ट्र समाज जीवनदर्शन और विचार को स्वार्थ केन्द्रित बनाने की प्रवृत्ति गलत है। अकेलेपन में संक्रमक कार्य क्षमता कुंठित होती है। जीवन का उल्लास और उमंग मंद पड़ता है। जिंदगी में दिशा और उद्देश्य को होना ही आवश्यक नहीं है, उसके लिए प्रयत्नशील होना भी जरूरी है। मध्यवर्ग में निश्चिंत दिशा और उद्देश्य का ही अभाव नहीं है। उसमें संक्रर्मक प्रयत्न का अभाव भी दिखाई पड़ता है।

स्वार्थी मनोवृत्ति ने मनुष्य को संवेदनहीन बना दिया है। संवेदना और भाव मनुष्य की संस्कृति की सर्वोत्तम उपलब्धि है।। करूणा और प्रेम मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है। आधुनिक सभ्यता के दबाव में यह तंतु टूटकर बिखर गया है। मनुष्य में मनुष्य के प्रति जो पीड़ा होनी चाहिए, वह जड़ हो गई है। करूणा को त्यागकर मनुष्य पत्थर हो गया है। स्वार्थ ने उसकी मनुष्यता को नष्ट कर दिया है। स्वयं के लिए पशु भी जी लेता है। ऐसा जीवन यांत्रिक और जड़ होता है। उस प्रकार के जीवन में रचनात्मक संभावना नहीं होती है। ऐसा जीवन उपलब्धिहीन जीवन है। ऐसा जीवन व्यर्थताबोध की कुंठा से ग्रसित रहता है। आत्मकेन्द्रित और व्यक्ति केन्द्रित मानसिकता के कारण देश तबाह हो गया परन्तु स्वार्थी का नाश नहीं हुआ है। कवि की चिंता इसी बात को लेकर है।

विशेष

1) व्यक्तिवाद और स्वार्थ की कवि ने गहरी भर्त्सना की है।
2) मानवीय मूल्यों के नष्ट होने की बेचैनी से कविता में चिंता का स्वर उभरता है।
3) मध्यवर्ग के खोखलेपन के प्रति आक्रोश और व्यंग्य का भाव है।
4) अकेलेपन की व्यर्थता पर कवि चोट करता है।
5) काव्य भाषा में वर्णनात्मता है।
6) काव्य भाषा की व्यंजक क्षमता अचूक है।
7) कविता के इस प्रसंग में भावहीन मनुष्य का बिंब उभरता है।

15. रघुवीर सहाय

जीवन परिचय

रघुवीर सहाय का जन्म 9 दिसम्बर, 1929 को लखनऊ के मॉडल हाउस मुहल्ले में एक शिक्षित मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री हरदेव सहाय लखनऊ के 'बाँय एंग्लो बंगाली स्कूल में साहित्य के अध्यापक थे। जन्म के दो ही वर्ष बाद इनकी माँ श्रीमती तारा देवी का देहान्त हो गया। बालक रघुवीर सहाय की शिक्षा-दीक्षा लखनऊ में ही हुई थी। लखनऊ विश्वविद्यालय से इन्होंने 1951 ई. में अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की थी। इंटर मे अध्ययन-काल से ही इन्हें कविता लिखने का शौक था। 1946 से लेकर 1948 तक इनकी कविताएँ 'आजकल', 'प्रतीक' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। 1949 में ही इन्होंने 'दूसरा सप्तक' में प्रकाशन के लिए अपनी कविताएँ 'अज्ञेय' को दे दी थी, जो 1951 में 'दूसरा सप्तक' में प्रकाशित हुईं। 1951 में, एम.ए. करने बाद ये 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' में सहायक सम्पादक होकर दिल्ली आ गए। 'प्रतीक' के बंद हो जाने पर इन्होंने आकाशवाणी, दिल्ली के समाचार विभाग में उप-संपादक का कार्य-भार संभाला।

रघुवीर सहाय का विवाह प्रो. महादेव प्रसाद, अध्यक्ष अंग्रेज़ी विभाग, वी.एस.एस.डी. कालेज, कानपुर की पुत्री विमलेश्वरी देवी से 1957 ई. में हुआ। विवाह के बाद 1957 में ही आकाशवाणी से त्याग-पत्र देकर इन्होंने मुक्त लेखन को जीवन-यापन का आधार बनाया। इसी वर्ष इनकी हमारी हिंदी' शीर्षक कविता 'युग-चेतना' पत्रिका में छपी। इस कविता को लेकर काफी बावेला मचा। इस कविता में हिंदी को 'दुहाजू की बीवी' कहा गया था, जिसपर अनेक टीका-टिप्पणियाँ हुईं। लेकिन इस विवाद के माध्यम से रघुवीर सहाय हिंदी कविता जगत में काफी चर्चित भी हुए। अगस्त, 1959 में आकाशवाणी में तीन साल के अनुबंध पर इनकी नियुक्ति हुई। आकाशवाणी से मुक्त होने पर दैनिक 'नवभारत टाइम्स' में विशेष संवाददाता बने। मार्च, 1968 में 'नवभारत टाइम्स' से स्थानांतरित होकर समाचार सम्पादक के रूप में इसकी नियुक्ति हिंदी के विशिष्ट साप्ताहिक पत्र 'दिनमान' में हुई। 'अज्ञेय' के त्याग-पत्र देने के पश्चात् 1970 में 'दिनमान' के सम्पादक बने। अपने व्यवस्था-विरोधी रुख के कारण 1982 में इन्हें 'दिनमान' के सम्पादक पद से हटा कर 'नवभारत टाइम्स' में स्थानांतरित किया गया। इस अवैध स्थानांतरण के विरोध में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' प्रकाशन से इन्होंने 1983 में त्याग-पत्र देकर स्वतंत्र लेखन को जीविका का आधार बनाया। 30 दिसम्बर, 1990 को इनका निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान

रघुवीर सहाय हिंदी जगत में एक कवि के रूप में अधिक जाने जाते हैं। ये साहित्य-जगत में उस पीढ़ी के सदस्य थे, जो स्वाधीनता आंदोलन की समाप्ति पर रचनाशील हुई थी। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद जो नयी काव्यधारा उभरकर सामने आई, उसमें रचनाकारों का

एक बड़ा समुदाय लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति उदासीन और गैर राजनीतिक या राजनीति-विरोधी होता गया। यह उस समय के शासक वर्ग की एक अपेक्षा भी थी कि इस नये मध्य-वर्ग को उस आदर्श भावना और जनतांत्रिक मूल्यों से काट दिया जाए, जो सामाजिक रूपांतरण को बढ़ावा देते हों। उस दौर के अनेक कवियों ने आत्म संस्कार या सामाजिक संस्कार से अपने को अलग रखकर ही अपनी आधुनिकता को सार्थक माना। लेकिन उस काव्यधारा के लगभग एकमात्र कवि रघुवीर सहाय ही थे, जिन्होंने अपनी जनतांत्रिक संवेदनशीलता को कायम रखा। यह सही है कि बिना किसी विचारधारा का सहारा लिए इन्होंने स्व-विवेक के आधार पर जीवन और समाज के प्रति अपने रूख का निर्धारण किया। इस तथ्य का एक हल्का आभास 'सीढ़ियों पर धूप में' संगृहीत उनकी कुछ कविताओं में मिलने लगता है, लेकिन 'आत्महात्या के विरूद्ध शीर्षक काव्य संग्रह की बहुत सी कविताओं में उनकी लोकतांत्रिक चेतना की अभिव्यक्ति स्पष्ट होकर हमारे सामने आती है।

'हँसो-हँसो जल्दी हँसो संग्रह की अधिकांश कविताएं रघुवीर सहाय के सामाजिक और नैतिक सरोकारों को संकेतित करती है।यह संग्रह आपातकाल की पूर्वपीठिका पर आधारित है। 1972 से 1975 के मध्य लिखी गई इनकी कविताएँ इसमें संकलित है। आपातकाल के पूर्व के सन्नाटे और चुप्पी को इसमें पूरी तरह उजागर किया है। इनकी एक कविता 'आने वाला खतरा' आपातकाल के आगामी खतरे का संकेतक है। यह कविता 1974 में लिखी गई थीं, जब बिहार के साथ ही पूरे देश में एक जोरदार संघर्ष चल रहा था। शासक समुदाय पैसे, शक्ति और सेंसरशिप के माध्यम से आतंक के नए रास्ते ढूंढने लगा था। इन सारी स्थितियों को देखते हुए रघुवीर सहाय द्वारा आपातकाल का पूर्वाभास अंतश्चेतना के आधार पर की गई भविष्यवाणी न होकर उनके द्वारा यथार्थ पहचान पर आधारित था।

'आत्महत्या के विरूद्ध संग्रह में कई कविताएँ प्रकृति के नाना दृश्यों से सम्बद्ध हैं । वैसे रघुवीर सहाय प्रकृति के सहज सौन्दर्य के कवि नहीं है। प्रकृति उनकी कविता में संश्लिष्ट मानवीय अनुभव बनकर ही आती है। इस संग्रह में उनकी पंक्तियाँ है। -'देखों वृक्ष को देखों' कुछ कर रहा है/ किताबी होगा वह कवि जो कहेगा/हाय पत्ता झर रहा है। पतझर में नयी रचना का संकेत उत्पीड़ित-शोषित जीवन में नए बदलाव को भी संकेतित करता है।

लोग भूल गये हैं कि बहुत सी कविताएँ अपनी गद्यात्मकता के कारण निबंधात्मक हो गई है। इस संग्रह की कुछ पंक्तियाँ है- 'संस्कृति मंत्री से कहा राजा ने-देखो देखो मंत्री जी/ हर एक विधा के भीतर कितने ही प्राचीन कला रूप हैं क्या तुम्हें यह उपयोगी नहीं दिखायी देता?/क्यों नहीं तुम सैकड़ों कलाकार इसी काम पर लगा देते/कि वे उनमें से पुराने रूप लेकर नई रचनाएँ करें?/क्या तुम नहीं समझ पाते कि यह उनकी एक अनिश्चित आगामी कल/रचने से रोक रखने का सरलतम ढंग है। यह कविता तत्कालीन शासक वर्ग की सांस्कृतिक नीति का पर्दाफाश करती है, जिसमें कला और साहित्य में लोक रूपों, लोक

नाटको, लोक नृत्यों के साथ ही पुराने साहित्य-रूपों के ग्रहण को बढ़ावा दिया जा रहा था। उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रघुवीर सहाय अपने वर्तमान के यथार्थ के आलोचक कवि रहे हैं। यद्यपि सामाजिक परिवर्तन को उन्होंने अपनी कविता का विषय नहीं बनाया, फिर भी वे सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता को रेखांकित अवश्य करते रहे हैं। उनकी व्यक्ति चेतना उनकी सामाजिक चेतना पर प्रायः हावी होती रही है। बावजूद इसके वे एक अत्यंत संवेदनशील और ईमानदार कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं।

नयी कविता के अन्य कवियों की भाँति, रघुवीर सहाय ने प्रतीकों, बिम्बों और मिथकों का सहारा बहुत कम लिया है। इन्होंने साधारण बोलचाल की भाषा के अति-साधारण शब्दों का प्रायः गद्यवत प्रयोग ही अधिक किया है। इसे डॉ. नामवर सिंह ने असाधारण साधारणता के नाम से गौरवान्वित किया है। वस्तुतः असाधारणता रघुवीर सहाय के नाटकीय शिल्प के माध्यम से आई है। इसका एक उदाहरण है :

चौड़ी सड़क गली पतली थी
दिन का समय घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था
अंत समय आ गया पास था।
उसे बता यह दिया गया था उसकी हत्या होगी।

यहाँ एक तरफ शुद्ध गद्यात्मक वाक्य की बनावट और दूसरी ओर बेहद नाटकीय, लयात्मक, तुकात्मक विधान द्वारा वर्णनात्मकता के समुचित विधान द्वारा नाटकीय योजना साधारण अभिव्यक्ति को असाधारणता में बदल देती है। हल्की-फुल्की तुकबंदी यहाँ करुणा और आतंक की विडम्बना को साकार करती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का काव्य-कौशल क्या नयी कविता के शिल्प से मुक्ति का प्रयास मात्र है? वस्तुतः यह समय का दबाव था, जिसमें नग्न होती हुई राजनीति को उद्घाटित करने के लिए यह पद्धति अनिवार्य बन गई थी। उस समय नागार्जुन की राजनीतिक कविताओं और त्रिलोचन के गद्यात्मक सोनेटों में इस पद्धति का भरपूर सहारा लिया जा रहा था। यह कार्य रघुवीर सहाय ने भी अत्यंत कौशल के साथ सम्पन्न किया। 'आत्महत्या के विरुद्ध' संग्रह की 'स्वाधीन व्यक्ति', 'अधिनायक', 'भीड़ में मैकू और मैं', 'फिल्म के बाद चीख', 'हमारी हिंदी' आदि बहुत सारी कविताओं में रघुवीर सहाय ने इसी शिल्प का उपयोग किया है। इस शैली में वे यथार्थ का सिर्फ वर्णन ही नहीं करते, उसका अन्वेषण भी करते हैं। इस अन्वेषण में एक विशेष प्रकार का वक्रोक्ति-विधान है, जिसे वक्रोक्ति के शास्त्रीय ढाँचे में कैद नहीं किया जा सकता। कुछ आलोचकों ने इसे भाषा का 'खेल' भी कहा है। लेकिन यह 'खेल' अत्यंत सार्थक ढंग से कविता को यथार्थ से जोड़ता है।

'आत्महत्या के विरुद्ध' की यह शैली 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो' में करुणा, साहस, भय और आतंक के साथ मिलकर एक नया रूप धारण करती है।

'एक दिन इसी तरह आएगा - रमेश/कि किसी की कोई राय न रह जाएगी - रमेश/क्रोध होगा पर विरोध न होगा/अर्जियों के सिवाय - रमेश/खतरा होगा खतरे की घंटी होगी/और उसे बादशाह बजाएगा - रमेश/' आपातकाल के रूप में आने वाले आगामी संकट की यह कलात्मक अभिव्यक्ति है। वस्तुतः इसे भाषा का खेल या सपाटबयानी मात्र न कहकर आतंक को प्रकट करने की साहसिक मुद्रा के रूप में देखना चाहिए। इस प्रकार, गद्यात्मक रचना-विधान, असाधारण साधारणता, अतिशय नाटकीयता आदि को रघुवीर सहाय के काव्य की शिल्पगत विशेषता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। रघुवीर सहाय की रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

कविता संग्रह : 'सीढ़ियों पर धूप में', 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो, लोग भूल गए हैं' और 'कुछ पते और कुछ चिट्ठियाँ'।

कहानी संग्रह : 'रास्ता इधर से है' और 'जो आदमी हम बना रहे हैं'

निबंध संग्रह : 'लिखने का कारण (1978),'ऊबे हुए सुखी' (1983),'वे और नहीं होंगे जो मारे जाएँगे' (1983),'भँवर लहरें और तरंग' (1983),'शब्द शक्ति' (1984) तथा 'यथार्थ यथास्थिति नहीं'।

अनुवाद : मेकबेथ और ट्वेल्थ नाइट (शेक्सपियर का नाटक) का पद्यानुवाद, 12 हंगरी कहानियों का अनुवाद, 30 हंगरी कविताओं का अनुवाद, तीन हंगरी नाटकों का अनुवाद, लोर्का के 'हाउस ऑफ बर्नाडा' का गद्यानुवाद।

दे दिया जाता हूँ

मुझे नहीं मालूम था कि मेरी युवावस्था के दिनों में भी
यानी आज भी
दृश्यालेख इतना सुन्दर हो सकता है :
शाम को सूरज डूबेगा
दूर मकानों की क़तार सुनहरी बुन्दियों की झालर
बन जायेगी
और आकाश रंगारंग होकर हवाई अड्डे के विस्तार पर उतर
आयेगा
एक खुले मैदान में हवा फिर से मुझे गढ़ देगी
जिस तरह मौक़े की माँग हो :
और मैं दे दिया जाऊँगा।

,इस विराट नगर को चारों ओर से घेरे हुए
बडेंबडें खलेपन है। अपने में पलटे खाते बदलते शाम
के रंग
और आसमान की असली शक्ल।
रात में वह ज्यादा गहरा नीला हैं और चाँद
कुछ ज्यादा चाँद के रंग का
पत्तियाँ माटी और चौडी और बडें वृक्षों में एक नयी खुशबू-
वाले गुच्छों में सफ़ेद फूल
अन्दर लोंगे:
जो एक बार जन्म लेकर भाई बहन माँ बच्चे बन
चुके हैं
प्यार ने जिन्हें गला कर उनके अपने साँचें में हमेशा
के लिए
ढाल दिया
और जीवन के उस अनिवार्य अनुभव की याद
उनकी जैसी धातु हो वैसी आवाज उनमें बजा जाती है
सुनो सुनो, बातो का शोर
शोर के बीच एक गूँज है जिसे सब दूसरों से छिपाते हैं
कितनी नंगी और कितनी बेलौस -
मगर आवाज जिवन का धर्म है इसलिए मढी हुई करताले
बजाते हैं
लेकिन मैं,

जो कि सिर्फ़ देखता हूँ, तरस नहीं खाता, न चुमकारता, न
क्या हुआ क्या हुआ करता हूँ।
सुनता हूँ, और दे दिया जाता हूँ।
देखो, देखो, अँधेरा है
और अँधेरे में एक खुशबू है किसी फूल की
रोशनी में जो सूख जाती है

एक मैदान है जहाँ हम तुम और ये लोग सब लाचार हैं
मैदान के मैदान होने के आगे।
और खुला आसमान है जिसके नीचे हवा मुझे गढ़ देती है
इस तरह कि एक आलोक की धारा है जो बाँहों में लपेट
कर छोड़
देती है और गन्धाते, मुँह चुराते, टुच्ची-सी आकांक्षाएँ
बार-बार
ज़बान पर लाते लोगों में
कहाँ से मेरे लिए दरवाज़े खुल जाते हैं जहाँ ईश्वर
और सादा भोजन है और
मेरे पिता की स्पष्ट युवावस्था।
सिर्फ उनसे मैं ज़्यादा दूर-दूर तक हूँ
कई देशों के अधभूखे बच्चे
और बाँझ औरतें, मेरे लिए
संगीत की ऊँचाइयों, नीचाइयों में गमक जाते हैं
और ज़िन्दगी के अन्तिम दिनों में काम करते हुए बाप
काँपती साइकिलों पर
भीड़ में से रास्ता निकाल कर ले जाते हैं
तब मेरी देखती हुई आँखें प्रार्थना करती हैं
और जब वापस आती हैं अपने शरीर में, तब यह दिया जा
चुका होता है।
किसी शाप के वश बराबर बजते स्थानिक पसन्द के परेशान
संगीत में से

एकाएक छन जाता है मेरा अकेलापन
आवाज़ों को मूर्खों के साथ छोड़ता हुआ
और एक गूँज रह जाती है शोर के बीच जिसे सब दूसरों
से छिपाते हैं

नंगी और बेलौस,
और उसे मैं दे दिया जाता हूँ।

दुनिया

हिलती हुई मुँडेरें हैं और चटखे हुए हैं पुल
बरसे हुए दरवाज़े हैं और धँसते हुए चबूतरे
दुनिया एक चुरमुरायी हुई सी चीज़ हो गयी है
दुनिया एक पपड़ियायी हुई सी चीज़ हो गयी है

लोग आज भी खुश होते हैं
पर उस वक़्त एक बार तरस ज़रूर खाते हैं
लोग ज़्यादातर वक़्त संगीत सुना करते हैं
पर साथ साथ और कुछ ज़रूर करते रहते हैं
मर्द मुसाहबत किया करते हैं, बच्चे स्कूल का काम
औरतें बुना करती हैं- दुनिया की सब औरतें मिल कर
एक दूसरे के नमूनोंवाला एक अनन्त स्वेटर
दुनिया एक चिपचिपायी हुई सी चीज़ हो गयी है।

लोग या तो कृपा करते हैं या खुशामद करते हैं
लोग या तो ईर्ष्या करते हैं या चुगली खाते हैं
लोग या तो शिष्टाचार करते हैं या खिसियाते हैं
लोग या तो पश्चात्ताप करते हैं या घिघियाते हैं
न कोई तारीफ़ करता है न कोई बुराई करता है
न कोई हँसता है न कोई रोता है
न कोई प्यार करता है न कोई नफ़रत
लोग या तो दया करते हैं या घमण्ड
दुनिया एक फँफुदियायी हुई सी चीज़ हो गयी है।

लोग कुछ नहीं करते जो करना चाहिए तो लोग करते
क्या हैं
यही तो सवाल है कि लोग करते क्या हैं अगर कुछ
करते हैं

लोग सिर्फ़ लोग हैं, तमाम लोग, मार तमाम, लोग
लोग ही लोग हैं चारों तरफ़ लोग, लोग, लोग
मुँह बाये हुए लोग और आँख चुँधियाये हुए लोग
कुढ़ते हुए लोग और बिराते हुए लोग
खुजलाते हुए लोग और सहलाते हुए लोग
दुनिया एक बजबजायी हुई सी चीज़ हो गयी है।

आत्महत्या के विरूद्ध

समय आ गया है जब तब कहता है सम्पादकीय
हर बार दस बरस पहले मैं कह चुका होता हूँ। कि समय आ गया है।

एक गरीबी, ऊनी, पीली, रोशनी, बीबी
रोशनी, धुन्ध, जाला, रमन हरमुनियम अदृश्य
डब्बाबन्द शोर
गाती गली भींच आकाशवाणी
अंत में टडंग।

अकादमी की महापरिषद की अनन्त बैठक
अदबदा कर निश्चित कर देती है जब कुछ और नहीं पाती
तो ऊब का स्तर
एक सीली ऊँगली का निशान डाल दस्तखत कर
तले हुए नाश्ते की तेलोस मेज पर।

नगर निगम ने त्योहार जो मनाया तो जनसभा की
मन्थर भटकता मन्त्री मुसद्दीलाल महन्त मंच पर चढ़ा
छाती की जनता की
बसन्ती रंग जानते थे न पंसारी न मुसद्दीलाल
दोनो ने राय दी
कन्धे से कन्धा भिड़ा ले चलो
पालकी ।

कल से ज्यादा लोग पास मँडराते हैं
जरूरत से ज्यादा आसपास जरूरत से ज्यादा नीरोग
शक से कि व्यर्थ है जो मैं कर रहा हूँ
क्योंकि जो कह रहा हूँ। उसमें अर्थ है।

कल मैने उसे देखा लाख चेहरों में एक वह चेहरा
कुढ़ता हुआ और उलझा हुआ वह उदास कितना बांदा
वही था नाटक का मुख्यपात्र
पर उसकी उस पीठ पर मैं हाथ रख न सका
वह बहुत चिकनी थी।

लौट आओ फिर उसी खाते-पीते स्वर्ग में
पिटे हुए नेता, पिटे अनुचर बुलाते है।
मार फड़फड़ाते हैं। पंख साल दो साल गले बँधी घंटियाँ
पढ़ी-लिखी गरदने बजाती है। फिर उड़ जाता है विचार
हम रह जाते हैं अधेड़
कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ
मत डूब सिर्फ टूट जैसे कि परसों के बाद
वह आया बैठ गया आदतन एक बहस छेड़कर
गया एकाएक बाहर जोरों से एक नकली दरवाजा
भेड़कर
दर्द दर्द मौने कहा क्याय अब नहीं होगा
हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द
गरजा मुस्टंडा विचारक समय आ गया है
कि रामलाल कुचला हुआ पाँव जो घसीटकर
चलता है अर्थहीन हो जाये।

छुओ
मेरे बच्चे का मुँह
गाल नहीं जैसा विज्ञापन में छपा
आठ नहीं
मुँह
कुछ पता चला जान का शोर इर कोई लगा
नहीं बोला मेरा भाई मुझे पाँव तले
रौंदकर अंग्रजी।

कितना आसान है पागल हो जाना
और भी जब उस पर इनाम मिलता है
नकली दरवाजे पीटते हैं जवान हाथों को
काम सर को आराम मिलता है दूर
राजधानी से कोई करवा दोपहर बाद छटपटाता है
एक फटा कोट एक हिलती चौकी एक लालटेन
दोनों, बाप मिस्तरी, और बीस बरस का नरेन

दोनों पहले से जानते हैं पेंच की मरी हुई चूड़ियाँ
नेहरू-युग के औज़ारों को मुसद्दीलाल की सबसे बड़ी देन

अस्पताल में मरीज़ छोड़कर आ नही सकता तीमारदार
दूसरे दिन कौन बतायेगा कि वह कहाँ गया
निष्कासित होते हुए मैंने उसे देखा था
जयपुर-अधिवेशन जब समेटा जा रहा था
जो मजूर लगे हुए थे कुर्सी ढोने में
उन्होंने देखा एक कोने में बैठा है
अजय अपमानित
वह उसे छोड़ गये
कुर्सी को
सन्नाटा छा गया

कितना आसान है नाम लिखा लेना
मरते मनुष्य के बारे में क्या करूँ क्या करूँ मरते मनुष्य का
अन्तरंग परिषद से पूछकर तय करना कितना
आसान है कितनी दिलचस्प है नेहरू की
आशंसा पाटिल की भर्त्सना की कथा
कितनी घुटन के अन्दर घुटन के
अन्दर घुटन से कितनी सहज मुक्ति

कितना आसान है रख लेना अपने पास अपना वोट
क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी अयोग्य है
अत्याचारी हत्या किये जाय जब तक कि स्वर्णधूलि
स्वर्णशिखर से आकर आत्मा के स्वर्णखण्ड
किये जाय
गोल शब्दकोश में अमोल बोल तुतलाते
भीमकाय भाषाविद हाँफते डकारते हँकाते
अँगरेज़ी की अवध्य गाय
घंटा घनघनाते पुजारी जयजयकार
सरकार से क़रार जारी हज़ार शब्द रोज़
क़ैद
रोज़ रोज़ एक और दर्द एक क्रोध एक बोध
और नापैद

कल पैदा करना होगा भूखी पीढ़ी को
आज जो अनाज पेट भरता है
लो हम चले यह रक्खे है। उर्वरक संबंधी
कुछ विचार
भुन्न से बोले विनोबा से जैनेन्द्र दिल्ली में बहुत बड़ी लपसी
पकायी गयी युद्ध से बदहवास
जनता के लिए लड़ो या न लड़ो
भारत पाकिस्तान अलग अलग करो
फिर मरो कढिल कर
भूल जाओ
राजनीति
अध्यापक याद करो किसके आदमी से तुम
याद करो विद्यार्थी तुम्हें आदमी से
एक दर्जा नीचे
किसका आदमी बनना हे दर्द ?
दर्द खैराती अस्पताल में डॉक्टर ने कहा वह मेरा काम नहीं
यह मुसद्दी का है
वही भेजता है मुझे लिखकर इसे अच्छा करो
जो तुम बीमार हो तुमने उसे खुश नहीं किया होगा
अब तुम बीमार हो तो उसे खुश करो
कुछ करो
उसने कहा लोहिया से लोहिया ने कहा
कुछ करो
खुश हुआ वह चला गया अस्पताल में भीड़
भीचक भीड़ धाँय धाँय
सौ हजार लाख दर्द आठ दस क्रोध
तीन चार बन्द बाजार भय भगदड़ गर्द
लाल
छाँह धूप छाँह, नहीं छोडे बन्दूक
धुआँ खून खत्म चीख
कर हम जानते नहीं
हम क्या बनाते हैं
जब हम दफनाते हैं
एक हताश लड़के की लाश बार-बार
एक बेबसी

थोड़ी-सी मिटती है
फिर करने लगती है भाँय-भाँय
समय जो गया है उसके सन्नाटे में राष्ट्रपति
प्रकटे देते हुए सीख समाचारपत्र में छपी
दुधमुँही बच्ची खाती हुई भीख
खिसियाते कुलपति
मुसद्दीलाल
घिघियाते उपकुलपति
एक शब्द कहीं नहीं कि वह लड़का कौन था
क्या उसके बहनें थीं
क्या उसने रक्खे थे टीन के बक्से में अपने अजूबे
वह कौन-कौन से पकवान
खाता था
एक शब्द कहीं नहीं एक वह शब्द जो वह खोज
रहा था जब वह मारा गया।

सन्नाटा छा गया
चिट्ठी लिखते लिखते छुटकी ने पूछा
'क्या दो बार लिख सकते हैं कि याद
आती है ?'
'एक बार मामी की एक बार मामा की ?'
'नहीं, दोनों बार मामी की'
'लिख सकते हो जरूर बेटी मैंने कहा
समय आ गया है
दस बरस बाद फिर पदारूढ़ होते ही
नेतराम, पदमुक्त होते ही न्यायाधीश
कहता है -समय आ गया है-
मौका अच्छा देखकर प्रधानमन्त्री
पिटा हुआ दलपति अख़बारों से
सुंदर नौजवानों से कहता है गाता बजाता
हारा हुआ देश।
समय जो गया है
मेरे तलुवे से छन कर पाताल में
वह जानता हूँ मैं।

बड़ी किसी को लुभा रही थी
चालिस व ऊपर की औरत
घड़ी घड़ी खिलखिला रही थी
चालिस के ऊपर की औरत
खड़ी अगर होती वह थककर
चालिस के ऊपर की औरत
तो वह मुझको सुन्दर लगती
चालिस के ऊपर की औरत
ऐसे दया जगाती थी वह
चालिस के ऊपर की औरत
वैसे काम जगाती शायद
चालिस के ऊपर की औरत

अंधी पिस्तौल

सुरक्षा अधिकारी सेनाधिपति के
घूर कर देखते हैं मेरा चेहरा
बहुत दिनों से उन्होंने नही देखा है मेरा चेहरा
धीरे-धीरे कम होती गयी है मेरी और सेनाधिपति की
बातचीत
इसलिए मैं सिपाहियों की निगाह में अजनबी हो गया हूँ

ये सिपाही भी कोई दूसरे हैं
पहले जो थे कुछ अदब करते थे
मेरा भी ओर उनका भी
अब जो हैं इतने उजड्ड हैं कि मैं
सेनाधिपति के लिए चिंतित हूँ

वे वरदी नहीं पहने हैं सिर्फ़ कमीज़ पतलून
उसके नीचे वे सौ फ़ीसदी हिंदोस्तानी हैं

उन्हें बरदी पहनायी गयी होती तो अच्छा रहता
अब जब वे पिस्तौल निकालेंगे कितना अचरज होगा
और किस पर दागेंगे यह देखकर तो
और भी ज्यादा

पैदल आदमी

जब सीमा के इस पार पड़ी थीं लाशें
तब सीमा के उस पार पड़ी थीं लाशें
सिंकुड़ी ठिठरी नंगी अनजानी लाशें

वे उधर से इधर आ करके मरते थे
या इधर से उधर जा करके मरते थे।
यह बहस राजधानी में हम करते थे।

हम क्या रूख लेंगे यह इस पर निर्भर था
किसका करने से पहले उनको डर था
भुखमरी के लिए अलग अलग अफसर था

इतने में दोनों प्रधानमंत्री बोले
हम दोनों में इस बरस दोस्ती हो ले
यह कह कर दोनों ने दरवाजे खोले

परराष्ट्र मंत्रियों ने दो नियम बताये
दो पारपत्र उसको जो उड़कर आये
दो पारपत्र उसको जो उड़कर जाये

पैदल को हम केवल इज्जत देंगे
जब देकर के बंदूक उसे भेजेंगे
या घायल से घायल अदले बदलेंगे

पर कोई भूखा पैदल मत आने दो
मिट्टी से मिट्टी को मत मिल जाने दो
बरना दो सरकारों का जाने क्या हो

सड़क पर रपट

देखों सड़क पार करता है पतला दुबला बांदा आदमी
आती हुई टरक का इसको डर नहीं
या कि जल्दी चलने का इसमें दम नहीं रहा
आँख उठा देखता है यह डरेवर को
देखों मैं ऐसे ही चल पाता हूँ

मैंने इस तरह के आदमी इस बरस पिछले के मुकाबले बहुत
देखें जिनको खाने को पूरा नहीं मिला बरस भर
कैसे भी पहुँच जाते है। दफ्तर वक्त से
घर लौट आते हैं देर सबेर घरवालों को कभी अस्पताल
में पड़े नहीं मिलते है।

मैंने इस वर्ष देखे एक खास किस्म के नौजवान रंगेचुंगे
चुस्त उठाकर अँगूठा रोकते हुए मोटर
सवारी का हक भाईचाराना माँगते
इस वर्ष कारें भी बढ़ी नौजवान भी
इस वर्ष मैंने देखा बल्कि एक दिन देखा
एक दिन अस्पताल एक दिन स्कूल के सामने
खड़ा हुआ एक लंगड़ा बूढ़ा एक दिन नन्हा लड़का पार
जाने को एक एक घण्टे इन्तजार में
कि कोई कार वाला गाड़ी धीमी करे

इस वर्ष मैंने और भी देखा
कुत्ते जगह जगह कुचले
वे ठिठक गये थे जहाँ वे बीच रस्ते पर
उनके न ताकत थी न इच्छा थी कि दौड़कर बच जाये

यह रपट यहीं खत्म होती है चाहे एक मामूली बात और
जोड़ लें कि इस वर्ष मैंने और अधिक मोटर मालिक देखे नियम
तोड़ कर बायें हाथ से अगली गाड़ी से अगिया जाते हुए

उन लड़कों का यहाँ जिक्र तक नहीं किया गया
जो इन्हें देखकर खून का घूँट पी कर रह जाते हैं
क्योंकि उनमें से कोई दुर्घटना में शामिल नहीं हुआ

मुझे कुछ और करना था

मुझे कुछ और करना था
पर मैं कुछ और कर रहा हूँ
मुझे और कुछ करना था इस अधूरे संसार में मुझे
कुछ पूरा करना था मकान मालिक से वायदे के अलावा मुझे
इस डरावने समाज में रहकर चीखते रहने के अलावा कुछ
और मुझे
करना था इस ठसाठस भरे कमरे में हाथ में तश्तरी लिये
खड़े खड़े
खाते रहने के अतिरिक्त-रिक्त तश्तरी के अतिरिक्त-
तोड़ना था मुझे
बहुत कुछ इसी वर्ष
पर मैं बना रहा हूँ शीशे के सामने हजामत

गाना था गरजना था हँसना था मुझे शायद
कहीं शायद जाना था
सालन पकाना था समेटकर आस्तीन
हाँककर डराना था अकड़ू को
और भी बुलकारना था बड़बोले को
ललकारना था मुझे बाँके को
गोद में लेकर सुलाना था अपने हाथों पीटे हुए बच्चे को

मुझे कुछ और करना था हाँफते हुए नमस्ते करने के अलावा
आज सुबह
चकित नहीं रह जाना था मुझे देखकर
चालीस के आसपास का समाज
पर मैं चकित हूँ कि कब हो गये सब सफल लोग सफल

मैंने रोज़ रोज़ देखी एक बड़ी जाति के जबड़े में जाती एक
छोटी आस थी
पाँच राज्य के अकाल में जीवित रह जाने की शर्म ढोते हुए
मुझे कुछ करना था
पर मैं पुस्तकालय में बैठा हूँ

एक बार खोजता हूँ एक परिचित मुँह एक बार लपककर
फिर
एक मोटी किताब
जानना था जानना था जानना था
किस वक़्त देश का कामकाज हमउम्र लोगों के हाथ आ
गया
पर मैंने जाना कि यह समाज
विद्रोही वीरों का दीवाना है विरोध का नहीं

चौड़ी सड़क गली पतली थी

दिन का समय घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था
अंत समय आ गया पास था
उसे बता यह दिया गया था उसकी हत्या होगी

धीरे-धीरे चला अकेले
सोचा साथ किसी को ले ले
फिर रह गया, सड़क पर सब थे
सभी मौन थे सभी निहत्थे
सभी जानते थे यह उस दिन उसकी हत्या होगी

खड़ा हुआ वह बीच सड़क पर
दोनों हाथ पेट पर रखकर
सधे कदम रख करके आये
लोग सिमट कर आँख गड़ाये
लगे देखने उसको जिसकी तय था हत्या हो

निकल गली से तब हत्यारा
आया उसने नाम पुकारा
हाथ तौलकर चाकू मारा
छूटा लोहू का फ़व्वारा
कहा नहीं था उसने आखिर उसकी हत्या होगी

भीड़ ठेलकर लौट गया वह
मरा पड़ा है रामदास यह
देखो देखो बार-बार कह
लोग निडर उस जगह खड़े रह
लगे बुलाने उन्हें जिन्हें संशय था हत्या होगी

हँसो हँसो जल्दी हँसो

हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है

हँसो अपने पर न हँसना क्योंकि उसकी कड़वाहट
पकड़ ली जायेगी और तुम मारे जाओगे
ऐसे हँसो कि बहुत खुश न मालूम हो
वरना शक होगा कि यह शख्स शर्म में शामिल नहीं
और मारे जाओगे

हँसते हँसते किसी को जानने मत दो किस पर हँसते हो
सब को मानने दो कि तुम सब की तरह परास्त होकर
एक अपनापे की हँसी हँसते हो
जैसे सब हँसते हैं बोलने के बजाय

जितनी देर ऊँचा गोल गुंबद गूँजता रहे उतनी देर
तुम बोल सकते हो अपने से
गूँज थमते थमते फिर हँसना
क्योंकि तुम चुप मिले तो प्रतिवाद के जुर्म में फँसे
अन्त में हँसे तो तुम पर सब हँसेंगे और तुम बच जाओगे

हँसो पर चुटकुलों से बचो
उनमें शब्द हैं
कहीं उनमें अर्थ न हों जो किसी ने सौ साल पहले दिये हों

बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो
ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे

और ऐसे मौको पर हँसो
जो कि अनिवार्य हों
जैसे ग़रीब पर किसी ताक़तवर की मार
जहाँ कोई कुछ कर नहीं सकता
उस ग़रीब के सिवाय
और वह भी अक्सर हँसता है

हँसो हँसो जल्दी हँसो
इसके पहले कि वह चले जायें
उनसे हाथ मिलाते हुए
नज़रें नीची किये
उसको याद दिलाते हुए हँसो
कि तुम कल भी हँसे थे

भय

कितनी सचमुच है यह स्त्री
कि एक बार इसके सारे बदन का एक व्यक्ति बन गया है
उसके बाल अब घने काले नहीं
दुख उसे केशों का नहीं है
वह उदास नहीं डरी हुई है अधेड़ है औरत है
सुन्दर है
होनी की तस्वीर एकदम उसके मन में चमक गयी है इस क्षण
वह जवानी में बहुत कष्ट उठा चुकी है
अब वह थोड़े थोड़े लगातार स्नेह के बदले
एक पुरूष के आगे झुक कर चलने को तैयार हो चुकी है
वह कुछ निर्दय पुरूषों को जानती है जिन्हें
उसका पति जानता है
और उसे विश्वास है कि उनसे वह पति के ही कारण
सुरक्षित है
वह हाथ रोककर एकटक देखती है हाथ
फिर पहले से धीमे कंघी की बालों में फेर ले जाती है उनके
सिरे तक
कैदी से छीन कर गाने का हक दे दिया गया होगा वह गाना
कि उसे जब चाहो तब नहीं जब वह बजे तब सुनो
बार बार एक एक अन्याय के बाद यह बज उठता है।

वह सुनती होगी मेरी याद करती हुई
क्योंकि हम कभी कभी साथ साथ गाते थे
वह सुर में मैं सुर के आसपास

एक पालना होगा
वह उसे देखेगी और अपने बचपन की याद आयेगी
अपने बचपन के भविष्य की इच्छा
उन दिनों कोई नहीं करता होगा
वह भी न करेगी।

आज का पाठ है

आज का पाठ है : मृत्यु के साधारण तथ्य
अनेक हैं; मुख्य लिखो

वह सब को एक सी नहीं आती
न सब मृत्यु के बाद एक हो जाते हैं
वैसे ही जैसे पहले नहीं थे

लाश वह चीज़ है जो संघर्ष के बाद बच रहती है
उसमें सहेजी हुई रहती है : एक पिचकी थाली
एक चीकट कंघी और देह के अन्दर की टूट
सिर्फ एक चीख बाहर आती है जो कि दरअसल
एक अन्दरूनी मामला है और अभी शोध का विषय है

तब वह-चीख नहीं-लाश भेज दी जाती है छपाई के लिए
अन्त में वह देसी भाषा की एक कविताई बन जाती है
विश्वव्यापी अंग्रेज़ी में तर्जुमा के लिए

मैं क्या कर रहा था जब मैं मरा
मुझसे ज़्यादा तो तुम जानते लगते हो
तुमने लिखा मैंने कहा था स्वाधीनता
शायद मैंने कहा था बचाओ

अब मैं मर चुका हूँ
मुझे याद नहीं कि मैंने क्या कहा था

जब एक महान संकट से गुजर रहे हों
पढ़े लिखे जीवित लोग
एक अधमरी अपढ़ जाति के संकट को दिशा देते हुए
तब
आप समझ सकते हैं कि एक मरे हुए आदमी को
मसख़री कितनी पसन्द है
पर

तब मैं पूछूँगा नहीं कि सौ मोटी गरदन
झुकी हैं
बुद्धि के बोझ से
श्रद्धा से
कि लज्जा से
मैं सिर्फ़ उन सौ गजी चाँदों पर टकटकी बाँधे रहूँगा
अपनी मरी हुई मशीनगन की टकटकी

कविता बन जाती है

हम लोग रोज़ खाते और जागते और सोते हैं
कोई कविता नहीं मिलती है
जैसे ही हमारा रिश्ता किसी से भी साफ़ होने लगता है
कविता बन जाती है।

अभी जीना है

मुझे अभी जीना है कविता के लिए नहीं
कुछ करने के लिए कि मेरी संतान मौत कुत्ते की न मरे
मैं आत्महत्या के पक्ष में नहीं हूँ तो इसलिए
कि मुझसे पहले मरें वे जो कि
मेरी तरह मरने को बाध्य हैं
कुछ नहीं करता हूँ मृत्यु के भय से मैं
सिर्फ़ अपमान से उनको बचाता हूँ
जिन्हें मृत्यु आकर ले जाएगी
दबे पाँव आहट को सुनता हूँ
और उसे शोर बनने नहीं देता हूँ
हाँ मैं कुछ करता हूँ जिसका
उपचार से कोई संबंध नहीं।

कविताओं के बारे में

पाठ्यक्रम में रघुवीर सहाय की अठारह कविताएँ हैं जो उनके चार प्रकाशित काव्य-संग्रहों से ली गई हैं। 'दे दिया जाता हूँ', और 'दुनिया' सीढ़ियों पर धूप में (1959 ई.) से, 'आत्महत्या के विरुद्ध' कविता इसी नाम के काव्य-संग्रह से ली गई है जो सन् 1967 ई में प्रकाशित हुआ था। 'लुभाना', 'अंधी पिस्तौल', 'पैदल आदमी', 'सड़क पर रपट, 'मुझे कुछ और करना था', 'आज का पाठ है', 'हँसो हँसो जल्दी हँसो', 'भय' तथा 'रामदास' कविता 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' (1968 ई.) संग्रह की कविताएँ हैं। और 'कविता बन जाती है' रघुवीर सहाय के अंतिम प्रकाशित काव्य-संग्रह 'एक समय था' में संकलित है। 'अभी जीना है' कविता को भी पाठ्यक्रम में रखा गया है।

'दे दिया जाता हूँ' कविता में आधुनिक जीवन में टूटते हुए मानवीय संबंधों पर चिंता व्यक्त की गई है। परिस्थितियाँ मनुष्य को गढ़ती हैं, उसके समाज और सभ्यता का गठन करती हैं। भीड़ और शोर का जन्म इन्हीं प्रक्रियाओं के बीच हुआ। इस शोर के बीच व्यक्ति अपनी पहचान के लिए छटपटाता रहता है। आडंबर के कारण हमारी भीतरी शक्ति और मूल मानवीय भावों में खोखलापन आ जाता है। भीड़ के बीच अपनी अस्मिता की रक्षा कवि की मुख्य चिंता है। 'दुनिया' कविता में अस्तित्वपरक अर्थहीनता का बोध है। बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा ने मनुष्य को खुशामदी, ईर्ष्यालु और चुगलखोर बनाया। लोगों ने उदात्त मानवीय मनोभाव खो दिए हैं। स्वार्थ केन्द्र में आ गया है। उसी को केन्द्र में रखकर आचरण किए जाते हैं। खिसियाना, घिघियाना आदि स्वार्थ के ही विभिन्न रूप हैं। मनुष्य जब सिकुड़कर व्यक्ति हो जाता है तब किस प्रकार का अनुभव होता है, इस कविता में इसी मनोभाव को अभिव्यक्त किया गया गया है। आत्महत्या के विरुद्ध कविता के आरंभ में कर्तव्य की निष्क्रियता का बोध है। बौद्धिक बहस से उपजी निष्क्रियता पर कवि व्यंग्य करता है। सत्ता और राजनीति जनता को मूर्ख बनाकर अपने स्वार्थ के लिए कार्यरत है। कवि सृजन के लिए पूर्ण ध्वंस की आकांक्षा रखता है। झूठमूठ के टूटने को लेकर वह परेशान है। व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए शब्दों का अर्थहीन इस्तेमाल करता है और भाषा को ठूँठ बनाता जाता है। अमानवीय स्थितियों के विस्तार के बीच मानव बनना अपने आप में एक संघर्ष है। औपनिवेशिक मानसिकता के खिलाफ भी कवि संघर्ष करता है। नेहरू युग से विरासत में जो राजनीति देश में गतिशील हुई, वह बहुत ही भ्रष्ट थी। वास्तविकता से जनता को हटाने के लिए अलग-अलग नारे गढ़े जाते हैं। वर्ग, जाति और दल में बँटी विचारधारा के बीच कराहती मानवीयता को कवि इस कविता में अभिव्यंजित करने का प्रयास करता है। शब्द के साथ सच कहने की ताकत नहीं होती है तो भाषा में अर्थहीनता पैदा होती है। कवि इस अर्थहीनता के खिलाफ चेतावनी देता है।

लुभ ना कविता में एक अधेड़ औरत की पीड़ा को कवि वर्णित करता है। चालीस के ऊपर की औरत का सोलह वर्ष की लड़की के समान खिलखिलाना गहरी करुणा को हमारे सामने

उपस्थित करता है। औरत के इस आडम्बर में मूल्यहीन समाज का चेहरा झलक उठता है। 'अंधी पिस्तौल' कविता में शासन के प्रतिनिधि और जनसामान्य के बीच के फर्क को कवि रेखांकित करता है। वरदी पहनकर सामान्य मनुष्य ही शासन का प्रतिनिधि हो जाता है और वरदी खोलकर सौ फीसदी हिंदुस्तानी। शासन के नियामक कुछ ऐसे भी हैं, जो वरदी नहीं पहनते हैं लेकिन पूर्ण अधिकार रखते हैं। लोकतंत्र में यह शक्ति राजनेता को प्राप्त है। नेता यदि दृष्टिहीन होकर अपनी शक्ति का इस्तेमाल करता है तो वह जनता के लिए त्रासदायी हो जाता है। कवि इसी ध्येय को कविता में प्रस्तावित करता है। दर्दहीन राजनीति अपने स्वार्थ के लिए मानवीय मूल्यों की परवाह नहीं करती है। **पैदल आदमी** कविता में कवि विश्वबंधुत्व की भावना की स्थापना करता है। विश्वबंधुत्व की भावना को रचने के क्रम में वह राजनीति की पोल भी खोलता है। दो देशों की राजनीति किस प्रकार अपने शासन के लिए मानव के हृदय के बीच दीवार खड़ी करती है?

'सड़क पर रपट' कविता नाम से एक रपट जैसी लगती है। इस कविता में शासन की समकालीन वास्तविकता का यथार्थ वर्णन है। शासन की सत्ता के सामने मानव कितना असहाय और निरुपाय प्रतीत होता है। आदमी दिनों-दिनों अमानवीय व्यवस्था के सामने असहाय अनुभव करता है। अमानवीयता के खिलाफ यह दुबला और बोदा आदमी सड़क पर खड़ा है। वह चुनौतियों से लड़ने के लिए तैयार होता है। व्यवस्था का आंतक बढ़ने के साथ ही उसका प्रतिरोध भी बढ़ता है। कवि उन तटस्थ और निरपेक्ष लोगों पर व्यंग्य करता है जो तटस्थ भाव से अपना पल्ला झाड़ते रहते हैं। 'मुझे कुछ और करना था' कविता में कवि समाज की अंतर्विरोधी मानसिकता पर व्यंग्य करता है। समाज एक प्रकार से यथास्थितिवाद का शिकार होता है। वह अपना विरोध बर्दाश्त नहीं करता है। उसमें विद्रोही की पूजा होती है लेकिन अपने समय में नहीं। मध्यवर्ग की ड्राइंगरूम की वास्तविकता के नंगे चित्र को कवि इस कविता में उपस्थित करता है। 'रामदास' कविता में रोज़ रोज़ मरते लोगों की भीड़ में एक जीते-जागते व्यक्ति की विडम्बना के साक्ष्य से इस कविता का गठन हुआ है। रामदास मरते हुए आधुनिक समाज की ठोस वास्तविकता है। तटस्थता और निरपेक्षता का भाव रामदास की हत्या के लिए जिम्मेदार है। मनुष्य कितना संवेदनहीन और निष्क्रिय हो गया है कि किसी की हत्या भी उसके लिए महज एक सूचना बनकर रह जाती है। 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' कविता में ऊपरी स्तर पर हँसी है परंतु कहीं गहरे स्तर पर कविता में गहरी मानवीय पीड़ा उपजती है। यह पीड़ा भाषा के अर्थहीन होने की है। भाषा अर्थहीन होकर सर्जनात्मकता से चुक जाएगी। इस भाव से कविता का अर्थस्तर बिंधा हुआ है। कविता में अर्थ पाने के लिए उन शक्तियों से लड़ना अनिवार्य हो जाता है, जो भाषा को अर्थहीन बनाते हैं। कथनी और करनी के द्वैत को पाटकर ही हम भाषा को अर्थवान बना सकते हैं।

'भय' कविता में कवि पुरुष के वर्चस्ववादी समाज पर प्रश्नचिह्न लगाता है। आधुनिक समाज में नारी का मूल्य उसके सौन्दर्य से तय होता है। अधेड़ औरत को अपनी ढलती

जवानी का कड़ुवा अनुभव होता है। यौवन की बुझती चमक के बीच उसका फीका सौन्दर्य उसमें भय पैदा करता है। पुरूष उसे समाज की निर्दयता से बचाने का साधन मात्र है। सामाजिक असुरक्षा के बीच जीती हुई नारी से भय है। 'आज का पाठ है' कविता में कला के सर्जनात्मक सत्य को कवि अभिव्यक्त करता है। मृत्यु यहाँ कला का पर्याय है। मृत्यु का अनुभव भी कला के अनुभव की तरह वैविध्यपूर्ण होता है। भाषा लाश की तरह बनी रहती है।संघर्ष के मूल भाव को भाषा यथातथ्य प्रस्तुत नहीं कर सकती है। भाषा में इतनी ताकत नहीं होती है कि उसे एक प्रतीक के सहारे रचे। पाठक उन अनुभवों को अपनी तरह से ग्रहण करता है।

खाना, पीना, सोना पशु भी करते है। मनुष्य जैसे ही खाने पीने सोने से आगे जाकर समाज जीवन, प्रकृति से अपने संबंधों की पड़ताल शुरू करता है तब कविता का बनना सत्य को पहचानता है। 'अभी जीना है' कविता में मानवीय जिजीविषा और उसकी संघर्ष क्षमता की अभिव्यक्ति मिली है। नियति को जानते हुए भी उससे लड़ना मानव की अखंड संघर्षशीलता की पहचान है।

रघुवीर सहाय की कविता कहने के एक खास ढंग को विकसित करती है। कविता की पंक्तिों का वास्तविकता से संवाद निरंतर चलता रहता है। इस संवाद के अन्दर से ही कविता का जाल फैलकर विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करता है। यहाँ कविता के शब्द अपनी गति से वस्तुओं पर आघात करते है। रघुवीर सहाय की कविता में घटना होती है। घटना में स्थितियों का वर्णन नहीं होता बल्कि कविता उन घटनाओं का संभावनात्मक उपयोग करती है। 'सड़क पर रपट', 'रामदास', आदि कविताओं में घटना व्यापक अर्थ की तस्वीर उकेरती हुई प्रतीत होती है। भाषा कवि के लिए अभिव्यक्ति की समस्या मात्र नहीं है। वह जीने की समस्या भी है। भाषा में अर्थक्षरण के कारण की पहचान रघुवीर सहाय की कविता में सबसे अधिक हुई है। उनकी कविता ऊपर से देखने में रपट की तरह सपाट लगती है। परन्तु कविता का मर्म जीवन की जटिल वास्तविकताओं की ओर संकेत करता है। सौन्दर्य और कला की जगह जीवन को प्रमाणिक और ईमानदारी से प्रस्तुत करना उनकी कविता का लक्ष्य है।

रघुवीर सहाय की कविता में वास्तविकता का दबाव अधिक है। वे जीवन और समाज की वास्तविक स्थितियों के बीच अपना आकार बनाती है। कवि जीवन के हर कोने से अपनी विषयवस्तु ग्रहण करता है। सत्ता और राजनीति से भी उनकी कविता परहेज नहीं करती है।सत्ता और राजनीति के गंदे खेल से वह जनता को आभास करती है। व्यवस्था की विडम्बनाओं से तड़पती मानवीयता जनता में आक्रोश जगाती है। हमारे समय का आदमी कितनी तरह से उलझा हुआ कितना विवश और अकेला है, उसे यथातथ्य रचने की

लगातार कोशिश से उनकी कविता जूझती है। उलझी हुई परिस्थितियों से तटस्थ अथवा निरपेक्ष रहना वे अपराध बोध मानते हैं। उनकी कविता में व्यक्ति, समाज और भाषा के अवसरवादी इस्तेमाल के विरूद्ध मानवीय योग्यता के संकर्मक प्रयत्न का महत्व मिला है। भाषा के धरातल पर उनकी कविता अनूठा प्रयोग करती है। वे साधारण से साधारण भाषा का प्रयोग कर उसके अर्थ की विराटता को रखने में निपुण हैं। इसलिए उनकी कविताभाषा की अभिव्यंजना की सामर्थ्य नहीं जीवन की सामर्थ्य पैदा करती है।

व्याख्या

हँसते हँसते किसी को ---------- बात का कोई मतलब न रहे ।

साधारण शब्दों में कविता कहने का जोखिम उठाने वाले कवि हिन्दी में कम ही है। रघुवीर सहाय उन कवियों में सक एक है। रधुवीर सहाय जीवन स्थितियों और घटना को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करके भी कविता में अर्थ फलक की संभावना को विशिष्टता प्रदान करते हैं हँसो हँसो जल्दी हँसो उनकी प्रतिनिधि रचना है। इस कविता में कवि भाषा और अभिव्यक्ति के संकट की पहचान करता है।भाषा में मनुष्य जीवन है। भाषा में वह अपने को अभिव्यक्त करता है। भाषा में सच नहीं बोलने से भाषा का हृदय टूट जाता है।

हँसना अपने को अभिव्यक्त करने का पर्याय है। स्वयं की अभिव्यक्ति किसी न किसी भाषा में ही होगी। कविता में व्यंजना को महत्व दिया जाता है। व्यंजना से कविता की भाषा शक्ति का प्रमाण मिलता है। हँसी में अनन्त अभिव्यजंना का सौन्दर्य है परन्तु प्रसंग और संदर्भ के साथ अर्थ की भंगिमा बदलती है। कवि ऐसे कठिन समय में भी बोलने का खतरा उठाता है। यदि बोलने को लोग कवि की हार समझते हैं तो समझे, कवि को उसकी परवाह नहीं है। वह अपनाये की हँसी हँसना चाहता है। कवि जो कुछ अनुभव करता है जगत जीवन की जिन विषमताओं के बीच जीता है उसे ही अभिव्यजित करने का प्रयास करता है।

यथार्थ का तात्कालिक ढंग से रख देना रपट हो सकती है साहित्य और रपट में अंतर है अपनी आवाज का गोल गुबद के टकराना तात्कालिक अनुभूति का संकेत करता है यथार्थ का तात्कालिकता से मुक्त करने पर ही यथार्थ की साहित्यिक अभिव्यक्ति संभव है। कवि का निर्देश है गूँज सकते ही फिर हँसना। चुप और मौन को स्वीकार करना प्रतिष्ठा का प्रतीक है । जब कहने को बहुत कुछ हो ऐसी परिस्थिति में चुप हो जाना एक प्रकार का प्रतिरोध है। व्यक्ति के अकेले प्रतिरोध से समाज नहीं बदलता है। समाज की संगठित शक्ति से उसे बदला जा सकता है। अंत में हँसने का अर्थ स्पष्ट है। अंत में मंद बुद्धि के लोग हँसते हैं । मंदबुद्धि होना कहीं चतुराई का प्रमाण है।मंदबुद्धि लोग जोखिम और चुनौती से बच निकलने का रास्ता ढूँढ लेते हैं। अंत में हँसना पलायन का भी प्रतीक है।

जीवन के साथ-साथ साहित्य का अर्थ भी बदलता है। बदलते समाज और जीवन को देखकर एक दृष्टि और विज्ञान बनता है।जहाँ इस प्रकार विजन नहीं वहाँ साहित्य चुटकुलों से अधिक कुछ भी नहीं है। शब्द में अर्थ का संकट लगातार बना रहता है। कवि शब्दों मे नई जिन्दगी की खोज करता है। यदि कविता यह कार्य नहीं करती है तो साहित्य और चुटकुले के बीच जो अन्तर है वह अन्तर ही मिट जायेगा। कवि शब्द और जीवन के जटिल संबंध को पहचान कर अर्थ का अन्वेषण करता है।

विशेष

1) पूरी कविता में भाषा की भ्रष्ट अभिव्यंजना क्षमता पर चोट है।

2) दैनिक अनुभवों के बीच कवि ने कविता के लिए स्पेस खोज लिया है।

3) कविता की मुख्य चिन्ता जीवन के अवसरवादी उपयोग की है।

4) मनुष्य वास्तविकता से बचने के लिए किस प्रकार का आचरण करता है यह कविता उससे हमारा साक्षात्कार कराती है।

16. श्रीकांत वर्मा

जीवन परिचय

श्रीकान्त वर्मा का जन्म एक सम्पन्न कायस्थ परिवार में मध्य प्रदेश के शहर बिलासपुर (छत्तीसगढ़ अंचल) में 18 सितम्बर 1931 को हुआ था। इनके पिता श्री राजकिशोर वर्मा प्रसिद्ध स्वाधीनता संग्राम सेनानी और पेशे से वकील थे। इनकी माँ का नाम सुमित्रा था। किन्तु बचपन में ये अपनी दादी के ही ज्यादा करीब रहे। श्रीकान्त वर्मा अपने चार भाइयों एवं दो बहनों में सबसे बड़े थे। 1950 के बाद जमीदारी प्रथा समाप्त हो जाने पर पारिवारिक स्थिति भी डॉवाडोल हो गयी थी । स्कूली शिक्षा के प्रति आरंभ से ही इनकी ज्यादा रूचि नहीं रही फिर भी दसवीं की परीक्षा बिलासपुर से ही पास की और बी.ए. की शिक्षा बिलासपुर के एम.वी.आर. आर्टस कालेज से पूरी की। इन्होने 1948 से ही कविताएँ लिखना आरंभ कर दिया था।

किशोरावस्था एवं जवानी में बेकारी के खासे अनुभव से गुजरना पड़ा। छिटपुट अध्यापन भी किया और लंबे समय तक पत्रकारिता से भी जुड़े रहे। मुक्तिबोध, नरेश मेहता आदि के सहयोग प्रेरणा से कई पत्रिकाओं के सम्पादन कार्य से भी जुड़े (कृति, नयी दिशा, भारतीय श्रमिक इत्यादि) 1956 में श्रीकान्त दिल्ली आ गये और यही रहकर स्वतंत्र लेखन, पत्रकारिता अनुवाद आदि के माध्यम से जीवनयापन करते रहे। संघर्ष के इन्हीं दिनों में बिलासपुर की संसद सदस्या मिनी माता से परिचय हुआ। बाद में इन्हीं के साथ लगभग ग्यारह वर्षों तक रहे ।मिनी माता से श्रीकांत जी को मातृत्व एवं मानवीय प्रेम का आश्रय मिला, मिनी माता की अगुवाई में ही बीणा से विवाह किया । 1969 में श्रीकांत का श्रीमती इंदिरा गाँधी से परिचय हुआ और व्यक्तिगत रूप से ये उनसे बहुत प्रभावित हुए। अब साहित्य के अलावा राजनीति में भी श्रींकांत की रूचि बढ़ी और यशपाल कपूर के साथ मिल कर सक्रिय राजनीतिक गतिविधियों की शुरूआत हुई । 1971 में लोकसभा चुनाव के लिए इनका नाम प्रस्तावित हुआ किन्तु विदेश में होने के कारण वे चुनाव नहीं लड़ सकें।1975 में जब भारतीय लेखक संगठन का गठन हुआ तो श्रीकांत उसने महासचिव चुने गये। 1975 में राज्यसभा सदस्य के रूप में संसद में प्रवेश किया। 1980 में वे कांग्रेस कि प्रचार संयोजक नियुक्त किये गये। 1983 में श्रीकांत गंभीर हृदय रोग से पीड़ित हुए और जुलाई 1983 में ह्सूस्टन अमेरिका में बाईपास सर्जरी हुई।1984 नवम्बर में कांग्रेस पार्टी के प्रमुख महासचिव चुने गये। लेकिन 1985 में महासचिव पद से इस्तीफा देकर राजनीति से विमुख होने तथा साहित्य क्षेत्र में पूरी तरह सक्रिय होने का संकल्प लिया। मार्च 1986 में उदर रोग से पीड़ित हुए और प्रारंभिक जांच में भोजन नली के ऊपरी हिस्से में कैंसर की संभावना पाई गयी। इलाज के लिए तुरन्त अमेरिका रवाना हुए जहाँ 25 मई 1986 को न्यूयार्क में स्लोन मेमोरियल अस्पताल में निधन हो गया।

अपनी साहित्यिक जीवन यात्रा में श्रीकांत को अनेकों साहित्यिक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हुए। 1973 में मध्य प्रदेश शासन द्वारा उत्सव 73 के अवसर पर विशिष्ट लेखन के लिए

सम्मानित। इसी वर्ष मध्य प्रदेश शासन की ओर से जलसांघर काव्य संकलन के लिए तुलसी सम्मान। इसी काव्य संकलन के लिए 1974 में उत्तर प्रदेश शासन द्वारा सम्मानित 1981 में साहित्य में उल्लेखनीय सेवा के लिए मध्य प्रदेश शासन के प्रथम शिखर सम्मान से सम्मानित।1982 में साहित्य कला परिषद दिल्ली द्वारा आधुनिक लेखन में योगदान के लिए सम्मानित। 1984 में मध्य प्रदेश के नंद दुलारे बाजपेयी पुरस्कार से बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में पुस्तक के लिए सम्मानित। इसी वर्श यूनाइटेड नेशंस कौंसिल आफ यूथ एवार्ड से विविध लेखन के लिए सम्मानित। 1986 में मरणोपरांत इनके अंतिम काव्य संग्रह मगध के के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार। निधन के बाद श्रीकांत वर्मा की स्मृति में युवा लेखन की सृजनशीलता को रेखांकित करने के लिए इनकी पत्नी श्रीमती वीणा वर्मा द्वारा श्रीमांत वर्मा स्मृति पुरस्कार तथा श्रीकांत वर्मा स्मृति संस्थान की स्थापना ।

साहित्यिक योगदान

जहाँ तक श्रीकांत वर्मा के कृतित्व का सवाल है तो उनका रचनाकाल प्रयोगवाद नयी कविता के दौर का रचनाकाल रहा है। इस दौरान साठोत्तरी कविता की वे प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील रही है। जिनमें अंस्तित्ववादी नकारावादी, निजवादी स्वर नकारात्मक रूप से कविता पर छाये रहे। डा.नामवर सिंह के शब्दों में कविता अमानवीय हो गयी। श्रीकांत वर्मा के काव्य में ये प्रवृत्तियाँ अपने इस रूप में तो नहीं है। हाँ उनके काव्य में वैयक्तिक ऊहापोह , संशय, हताशा, आक्रोश, ध्वंस प्रेम और बेचैनी भरे अंतहीन द्वन्द्व (श्रीकांत रचनावली 6, पृष्ठ 13) विस्तार से फैले हुए हैं। राजनीतिक सक्रियता ने यथार्थ की उनकी समझ को पैना कर उनके इस द्वन्द्व को एक सामाजिक दिशा दी । मगध की उनकी कविताएं उनकी इस सामाजिक प्रतिबद्धता को खुलकर स्वर देती है। तीसरा रास्ता शीर्षक अपनी बहुचर्चित कविता में वे लिखते है। । अंत में प्राण तो सभी छोड़ते हैं व्यर्थ के लिए हम प्राण नी छोड़े। जीवन में सार्थकता की तलाश, जीवन का अर्थ देने की तलाश और जो कुछ भी अमानवीय है उसके प्रति आक्रोश, क्षुब्धता उनकी बेचैनी भरी कविताओं से एक अंतहीन राग की तरह अंतनिहित है। कवि के ही शब्दों में बसंत की तलाश में हूँ लेकिन मेरी रचनाओं में बसंत कभी नहीं आया। उनमें ग्लानि है। संताप है दुख है पीड़ा है ।आक्रामकता है भय है सिनिसिज्म है मृत्यु है । -----अगर मैं चाहूँ तो यह कह सकता हूँ। कि वही इस युग का सत्य है। लेकिन मैने युगसत्य की तलाश का दावा कभी नहीं किया । इसलिए सिर्फ इतना ही कहना चाहूँगा कि मैने जो और जैसा जिया उसका यही साथ था। (श्रीकांत रचनावली, पृष्ठ 15) श्रीकांत वर्मा की सारी रचनाएं हालाँकि श्रीकांत रचनावली में संकलित हैं फिर भी उनकी रचनांएं निम्नलिखित हैं -

काव्य संकलन : 'भटका मेघ' (1957), 'माया दर्पण' (1967) 'दिनारंभ' (1967), 'जलसाघर' (1973), 'गरूड़ किसने देखा है' (1986) तथा मगध (1984)

कहानी संग्रह : 'झाड़ी'(1964), 'संवाद'(1969), 'दूसरे के पत्र'(1984), 'अरथी' (1988) 'ठंड' (1989), 'बास'(1993) तथा 'साथ' (1994)

उपन्यास : दूसरी धार (1968) दो अधूरे उपन्यास (अश्वत्थ तथा ब्यूक)

भटक गया हूँ -
मैं असाढ़ का पहला बादल !
श्वेत फूल की अलका की
मैं पंखुरियों तक छू न सका हूँ।
किसी शाप से शप्त हुआ
दिग्भ्रमित हुआ हूँ।
शताब्दियें के अन्तराल में घुमड़ रहा हूँ घूम रहा हूँ।
कालिदास ! मैं भटक गया हूँ
मोती के कमलों पर बैठी
अलका का पथ भूल गया हूँ।

मेरी पलकों में अलका के सपने जैसे डूब गये हैं।
मुझमें बिजली बन आदेश तुम्हारा
अब तक कड़क रहा है।
आंसू धुला समगिरी काले हाथी जैसा मुझे याद है।
लेकिन मै। निरपेक्ष नहीं, निरपेक्ष नहीं हूँ।
मुझे मालवा के कछार से
साथ उड़ाती हुई हवाएँ
कहाँ न जाने छोड़ गयी है।
अगर कहीं अलका बादल बन सकती।
मैं अलका बन सकता !
मुझे मालवा के कछार से
साथ उड़ाती हुई हवाएँ
उज्जयिनी में पल भर जैसे
ठिठक गयी थीं, ठहर गयी थीं,
क्षिप्रा की वह क्षीण धार छू
सिहर गयी थी।
मैंने अपने स्वागत में तब कितने हाथ जुड़े पाये थे।
मध्य मालवा, मध्य देश में
कितने खेत पड़े पाये थे।
कितने हलों, नागरें की तब
नोंकें मेरे वक्ष गड़ी थीं।

कितनी सरिताएँ धनु की ढीली डोरी सी क्षीण पड़ी थी।
तालपत्र सी धरती,
सूखी, दरकी, कब से फटी हुई थी।
माँएं मुझे निहार रही थीं, बंधुएं, मुझे पुकार रही थीं
बीज मुझे ललकार रहे थे
ऋतुएं मुझे गुहार रही थीं।

मैंने शैशव की
निर्दोष आँख में तब पानी देखा था।
मुझे याद आया
मैं ऐसी ही आँखों का कभी नमक था।
अब धरती से दूर हुआ
मैं आसमान का धब्बा भर था।

मुझे क्षमा करना कवि मेरे!
तब से अब तक भटक रहा हूँ।
अब तक वैसे हाथ जुड़े हैं।,
अब तक सूखे पेड़ खड़े हैं,
अब तक उजड़ी हैं खपरैले,
अब तक प्यासे खेत पड़े हैं।
मैली मैली संध्या में -
झरते पलाश के पत्तों से
धरती के सपने उजड़ रहे हैं।
और इस नदी में कुछ लहरें हैं,
जो बहुत उदास है।

मैं भी एक नदी हूँ, मुझ पर भी शाम है,
मुझ पर भी
धुआँ है,
मुझमें भी लहरें हैं जो बहुत उदास हैं।
मुझको भी त्याग गये कुछ स्नेही
मेरी भी नावें ले
चले गये कुछ यात्री
मेरे भी गान सब पालों की।

ओट हुए।
मैं बहुत उदास हूँ बहुत ही उदास हूँ।

क्या अब वे सुख-सहचर कभी नहीं लौटेंगे ?
क्या अब वे छायाएँ
यहाँ नहीं डोलेंगी ?
क्या अब कोई मुझसे यह नहीं कहेगा
ओ प्रिय ! तुम
नहीं अकेले।
मैं भी हूँ।

यदि मुझमें आज भी कटाव है, गति है,
तो इसलिए,
शायद कोई मुझ जैसा
उदास, मनमारा
कल मुझ तक आए।
और इस उदासी में एक गान गाए।
शायद कोई
दिया जलाए,
फिर यह कहे -
ओ प्रिय ! तुम नहीं अकेले !
मैं भी हूँ।

शाम है, धुआँ है, एक नदी है
और उस नदी में
कुछ लहरें हैं
जो बहुत उदास हैं, बहुत ही उदास हैं।

बूढ़ा पुल

मैं हूँ इस नदिया का बूढ़ा पुल

मुझ में से हहराता
गुजर गया कितना जल ।
लेकिन मैं माथे पर यात्राएं बोहे इस
रेती में गड़ा रहा ।
मुझ पर से घंर घर घर
गुजर गये कितने रथ ।
लेकिन मैं पानी के पहियों की
ध्वनि सुनता खडा रहा।

डूब गयीं संध्याएं अस्त हुआ इन्द्रधनुष ।
लेकिन मैं
पत्थर का शप्त धनुष ।
मुझ में से जल अहरह, अनचाहे, अनजाने
तीरों सा छूट रहा ।

आह ! जब कभी आधी रातों में
भीगे सन्नाटे में
मैं चीखा अथवा सीटी मारी
आवाजें ... रूग्ण और परनुचे पखेरू सी
उड़ी
और पास किसी झाड़ी में अरझ गयीं।

इस जल के अन्दर भी कोई बूढ़ा पुल है
हिलता है कँपता है और छटपटाता है।
आह ! वही मेरी
व्यथा जानता है।
आह ! यह अकेलापन !
सह्य नहीं नदियों का सन्नाटा
मिलनोन्मुख यात्राएँ
संगम की ओर

दौड़ रही नदी !
सह्य नहीं क्षितिजों तक जाते वे पक्षी-दल !
दूर कहीं डूब रही पगध्वनियाँ
अस्त हो रही नावें
गुज़र रहे वे बादल
सहय नहीं।

आह ! मुझे ढहा दो
ताकि
इन प्रवाहों में मैं अनन्त बहता जाऊँ
और अगर अटकूँ तो
पानी में डूबे मन्दिर की शोभा बनूँ।
अब मुझे ढहा दो
और नये पुल रचो,
जो बूढ़े होने तक
स्थिरता की होड़ करें, पानी से खेलें,
भाग रही नदियों से
कहें -
नही रूक जाओं,
वापिस आ जाओं,
और अट्टहास करें, रातों को चौंकें
आह । मुझे ढहा दो
मैं हूँ इस नदिया का बूढ़ा पुल।
कब तक अपनी जड़ता बोहूँ
मुझकों भी यात्रा में परिणत कर दो।

मायादर्पण

देर से उठकर
छत पर सर धोती
खड़ी हुई है
देखते-ही-देखते
बड़ी हुई है
मेरी प्रतिभा
लड़ते-झगड़ते
मैं आ पहुँचा हूँ
उखड़ते-उखड़ते
भी
मैंने
रोप ही दिये पैर
बैर
मुझे लेना था
पता नहीं
कब क्या लिया था
क्या देना था।

अपना एकमात्र इस्तेमाल यही किया था -
एक सुई की तरह

समाधि-लेख

हवा में झूल रही है एक डाल : कुछ चिड़िया
कुछ और चिड़ियों से पूछती हैं हाल !
एक स्त्री आईने के सामने
सँवारती है बाल!
कई साल
हुए
मैंने लिखी थीं कुछ कविताएँ !
तृष्णाएँ
साल ख़त्म होने पर
उठकर
अबाबीलों की तरह

टकराती, मँडराती,
चिल्लाती हैं।
स्त्रियाँ
पता नहीं जीवन में आती
या जीवन से
जाती हैं !

आयें या जायें !
अब मुझमें एक अन्धे की तरह
पैरों की आहट
सुनने का उत्साह नहीं।
मैं जानता हूँ, एक दिन यह
पाने की विकलता
और न पाने का दुख
दोनों अर्थहीन
हो जातें हैं।

नीद में बच्चे सुगबुगाते हैं।
माएँ जग जाती हैं
घर से निकाली हुई स्त्रियाँ
द्वार पीठती हैं
और द्वार नहीं खुलने पर

बाहर
चिल्लाती है।
मुझे तिलमिलाती है
मेरी विफलताएँ
घर के दरवाजे पर
'हमारी माँग पूरी करो'
नारा लगाती है।

मैं उठता हूँ और उठकर
खिड़कियाँ, दरवाजे
और कमीज के बटन
बन्द कर लेता हूँ।
और फुर्ती के साथ
एक कागज पर लिखता हूँ
'मैं अपनी विफलताओं का
प्रणेता हूँ।

युद्ध हो या न हो
एक दिन
चलते चलते भी
मेरी धड़कन हो
सकती है बन्द,
मैं बिना
शहीद हुए भी
मर सकता हूँ।
वह मेरा सवाल नहीं है
बल्कि
उत्तर हैं :
'मैं क्या कर सकता हूँ'।

मुझसे नहीं होगा कि दोपहर को बाँग दूँ। या सारा समय
प्रेम निवेदन करूँ या फैशन परेड में
अचानक धमाका बन फट पड़ूँ।

जो मुझसे नहीं हुआ
वह मेरा संसार नहीं।

कोई लाचार नहीं
जो वह नहीं है
वह होने को।
मैं ग़ौर से सुन सकता हूँ
औरों के रोने को
मगर दूसरे के दुख को
अपना मानने की बहुत
कोशिश की; नहीं हुआ !
मेरे और औरों के बीच
एक सीमा थी।
मैंने जिसे छलने की कोशिश में
औरों की शर्तों पर
प्रेम किया।

मुझसे नहीं होगा ! मैं उठकर एक बार
खिड़की से झाँककर
अचानक चिल्लाता हूँ।
मैं बार-बार
नौकरी के दफ़्तर
और डाकघर तक
जाकर लौट
आता हूँ
अर्जी और अपना प्रेम-पत्र लिये
अपने जमाने में
कितना बड़ा फासला है
एक क़दम के बाद
दूसरा उठाने में !

मगर मैंने कोई फसला नहीं
केवल अपने को तय
-नहीं, झूठ नहीं बोलूँगा-
क्षय किया।

में अकेला नहीं था !
मेरे साथ एक और था
जो साथ -साथ

मोचीराम

राँपी से उठी हुई आँखों ने मुझे
क्षण-भर टटोला
और फिर
जैसे पतियाये हुए स्वर में
वह हँसते हुए बोला -
बाबूजी । सच कहूँ-मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
परम्परा के लिए खड़ा है

और असल बात तो यह है
कि यह चाहे जो है
जैसा है, जहाँ कहीं है
आजकल
कोई आदमी जूते की नाप से
बाहर नहीं हैं
फिर भी मुझे ख्याल रहता है
कि पेशेवर हाथों और फटे हुए जूतों के बीच
कहीं न कहीनं एक अदद आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं,
जो जूते से झाँकती हुई अंगुली की चोट छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है

यहाँ तरह-तरह के जूते आते हैं
और आदमी की अलग-अलग नवैयत
बतलाते हैं
सबकी अपनी-अपनी शक्ल है
अपनी अपनी शैली है
गयलान एक जूता है,
जूता क्या है वकतिथों की शैली है

भुजाओं में।
जिसे लूट का माल
और ठगी का प्रेम
ले जाना हो ले जाये
नावों में
बाकी लोग ढाह में
जीवन बितायें गे
मल्लाहों की तरह
बन्दरगाह में।

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा)
षड्यन्त्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
कसमें खायेंगे
लोकतंत्र की।

मुझसे नहीं होगा।
जो मुझसे
नहीं हुआ वह मेरा
संसार नहीं।

बुखार में कविता

मेरे जीवन में एक ऐसा वक्त आ गया है
जब खोने को
कुछ भी नही है मेरे पास-
दिन, दोस्ती, रवैया,
राजनीति,
गपशप, घास
और स्त्री हालाँकि वह बैठी हुई है
मेरे पास
कई साल से
क्षमाप्रार्वी हूँ मैं काल से
मैं जिसके सामने निहत्था हूँ
निरसंग हूँ -
मुझे न किसी ने प्रस्तावित
किया है
न पेश!
मंच पर खड़े होकर
कुछ बेवकूफ चीख रहे हैं
कवि से
आशा करता है
सारा देश

सूखों ! देश को खोकर ही
मैंने प्राप्त की थी
यह कविता
जो किसी की भी हो सकती है।
जिसके जीवन में
वह वक्त आ गया हो
जब कुछ भी नहीं हो उसके पास
खोने को ।
जो न उम्मीद करता हो
न अपने से छल
जो न करता हो प्रश्न

न ढूँढ़त: हो हल।
हल ढूँढ़ने का काम
कवियों ने ऊबकर
सौंप दिया है
गणितज्ञ पर
और उसने
राजनीति पर।

कहां है तुम्हारा घर ? अपना देश खोकर कई देश लाँघ
पहाड़ से उतरती हुई
चिड़ियाँ का झुण्ड
यह पूछता हुआ ऊपर-ऊपर
गुजर जाता है : कहाँ है तुम्हारा घर ?
दफ्तर में, होटल में, समाचार-पत्र में,
सिनेमा में,
स्त्री के साथ एक खाट में ?
नावें कई यात्रियों को
उतारकर
वेश्याओं की तरह
थकी पड़ी हैं घाट में।

मुझे दुःख नहीं मैं किसी का नहीं हुआ। दुःख है
कि मैंने सारा समय
हरेक का होने की
कोशिश की।
प्रेम किया। प्रेम करते हुए
एक स्त्री के कहने पर
भविष्य की खोज की और एक दिन
सब कुछ पा लेने की
सरहद पर
दिखा एक द्वार : एक ड्राइंगरूम।
भविष्य
वर्तमान के लाउँज की तरह
ऊहीं जाकर खुल

जाता है।
रुको
कोई आता है
सुनाई पड़ती है
किसी के पैरों की
चाप।
कोई मेरे
जूतों का माप
लेने आ रहा है।

मेरे तलुए घिस गये हैं
और फीतों की चाबुक
हिला-हिला
मैंने आसपास की भीड़ को
खदेड़ दिया है,
भगा दिया है।
औरों के साथ
दगा करती है स्त्री
मेरे साथ मैंने
दगा किया है।

पछतावा नहीं; यह एक कानून था जिसमें से होकर
मुझे आना था।
असल में यह एक
बहाना था
एक दिन अयोध्या से जाने का
मैं अपने कारख़ाने का
एक मज़दूर भी
हो सकता था
मैं अपना अफ़सोस
ढो सकता था
बाज़ार में लाने को
बेचैन हो सकता था कविता
सुनाने को

फिर से एक बार इसे और उसे और उस
पाने को

लेकिन एक बार उड़ जाने बाद
इच्छाएँ
लौटकर नहीं आतीं
किसी और जगह पर
घोंसले बनाती हैं
विधवाएँ बुड़बुड़ाती हैं
रँड़ापे पर
तरस खाती हैं
बुढ़ापे पर
नौजवान स्त्रियाँ
गली में ताक़-झाँक करती हैं
चेचक और हैज़े से
मरती हैं
बस्तियाँ
कैंसर से
हस्तियाँ
वकील
रक्तचाप से
कोई नहीं
मरता
अपने पाप से

धुआँ उठ रहा है कई
माह से। दिन
चला जाता है
मारकर छलाँग एक खरगोश-सा।
बन्द होने वाली
दुकानों के दिल में
रह जाता है
कुछ-कुछ अफ़सोस-सा।

-यही सोचते हुए गुजर रहा हूँ मैं कि गुजर गयी
बगल से
गोली दनाक से।
राहजनी है या क्रान्ति ? जो भी हो, मुझको
गुजरना ही रहा है
शेष।
देश
नक्शे में
देखता रहा हूँ हर साल नक्शा बदलता है
कच्छ हो या चीन
तब तक दूसरी गोली दनाक से।
हद हो गयी, मुझको कहना ही पड़ेगा, हद कहीं नहीं,
चले आओ अन्दर
मुझको उधाड़ कर
चूतड़ पर बेंत मार
चेहरे पर लिख दो-यह गधा है। तब भी जो जहाँ
है, वहीं बँधा है
अपनी बेहयाई को
सँवारता हुआ चौदह पैसे की कंघी से।

चले आओ
चकले घर, टाट पर, जहन्नुम में, लाट पर
खुदबुदाते हुए प्रेम, बिलबिलाती हुई इच्छा, हिनहिनाते
हुए क्रोध को मरोड़ दो। क्या होगा ? छूँछा
होता हूँ हर बार ताकि और भी मवाद हो।

दाद हो, खुजली हो, खाज हो हरेक के लिए
है
मुफीद,
आजमाइये, मथुरा का सूरदास मलहम।
क्या कहा ? साँड़े का तेल ? नहीं, नहीं,
कामातुर स्त्रियाँ, लौट जाएँ, वामाएँ

मैंने गुजार दी, ऐसे ही, लौट जाएँ
सब अपने-अपने ठिकानों पर
पाप संसार में,
मंत्री अस्तबल में,
पाखंडी गर्भ में,
अफसर जिमखानों में।

वर्षा नहीं होगी, खबारों के अपच से, सब-के-सब मरेंगे
एक राजधानी को छोड़
उठती है मरोड़ अभी से टीका लगवाइये घी का
भाव दूना हो गया है सूना
लगता है तस्सा ही
नहीं रहा।

क्या कहा ? नहीं, नहीं, मथुरा का सूरदास मलहम
मुफ़ीद है
दाद हो, खुजली हो, ख़ाज़ हो,

जिस किसी का राज हो
मुझकों मंजूर नहीं किसी की शर्त, किसी की दलील
कि उसने मारा मेरे दुश्मन को,
कोई मेरा वकील नहीं,
मर्दुमशुमारी के पहले ही मुझे कूच कर जाना है हरेक कूचे से,
सबकी मतदान पेटियों में
कम होगा एक-एक वोट,
मुझको मंजूर नहीं किसी की शर्त।

मुझकों गुजरना है भरी हुई भीड़ से मक्खियों के
झुंड से
एक-एक कर अपने सभी दोस्तों के नज़दीक से
ठीक से
चलो, कहकर मुझकों धकियाता है, ऊलजुलूल
आँखे तरेर कर
घेर कर

कहाँ लिये जाते हो मुझको मेरे विरूद्ध ?
छोड़ दो, छोड़ो, छोड़ो वरना ! वरना के आगे
कुछ नहीं, बस स्टॉप है जिसका
मुँह
किसी की तरफ नहीं!
मुझे भी बदल दो बस स्टॉप में
छोड़
दिया गया है
मूझे अपना काल तक
भटकने
के लिए
इस प्रलाप में

ऑनरेरी सर्जन! कनसल्टेंट, मिलने का समय, पाँच से सात,
मेरा उद्धार करो -
मेरा स्वाद बदल रहा है, रहते-रहते
मैं भी
यहाँ का
हो चला
हो चली
शाम
भदलो, बदलो अपने मिलने का समय, वह समय वह समय
नहीं,

दुख, लेन-देन, रह गया माल, दुर्घटना, वेश्या, घेराव,
कम्युनिस्ट पार्टी की जनता, जनसंघ का लोक
किये का शोक, अनकिये का
शोक
छा गया है

खुदाबख्श हिजड़े की बेवजह मौत पर फौजदारी
कायम हो,
कायम हो, तुम अब तक , वैसे
सच यह है।

मैं तुमको पहचान नहीं पाया था अबकी,
जाने कब कब की उतर रही है
साथ-साथ
छतों से, पलंग से, सीढ़ी से
नीली, पीली; बजी हुई
निगल रही है
अन्तिम दृश्य को!

भविष्य को अंगुली पर रखता है ज्योतिषी
बनिया तिजोरी में,
पकड़ा गया था जिस चोरी में
तीन साल पहले अज्ञान सिंह, उसका अब भेद
खुला
खुला खुला लगता है वैसे, पर सचमुच
डरा-डरा
हरा भरा, लिखता है, सौवाँ मैंने क्या
ठेका ले रखा है बाकी निन्यानबे का
फेर
देर वैसे भी हो चुकी , चौसर की तरह
बिछे
नक्शे पर बैठ गया कौवों का प्रसंग। पृथ्वी का
हिसाब
हो रहा है -
मुझको इसी बात पर काँव-काँव करने की छूट दो,
क्षमा करो,
छोड़ दो,
रिहाई को बचा ही क्या अब, एक
और ठंड स्नान
एक
और मोहभंग
सब कुछ प्रतिकूल था, तब भी संभव किया मैंने
कविता को
और
कुछ अपने आप को,
धन्यवाद !

तोड़ता है, यथास्थिति, मनसब नहीं, बल्कि
गलत बीज
टूटता है सब कुछ
बस धनुष नहीं टूटता
तौला गया था जो सोने से
क्या होगा रोने से, यह कहकर जमुहाई
लेती हुई
सोने को जाती है गिधवा
जिसे
ठोंकता है दिन भर
चुंगी का दरोगा, भैंसों का दलाल।

देखता है कतल या कि देखता भी नहीं है?
मुझको
संदेह है
इसको सुजाक है, उसको मधुमेह है।

बार बार पैदा होती है आशंका, बार-बार मरता है
वंश।

क्या मैं इसी तरह बिल्कुल बेलाग, वहाँ से
गुजर जाऊँ ?
हे ईश्वर मुझको क्षमा करना, निर्णय
कल लूँगा, जब
निर्णय हो चुका होगा ।

मगध के लोग

मगध में लोग
मृतकों की हड्डियाँ चुन रहे है

कौन-सी अशोक की है ?
और चन्द्रगुप्त की ?
नहीं, नहीं,
ये बिम्बिसार की नहीं हो सकतीं
अजातशत्रु की है,

कहते हैं मगध के लोग
और आँसू
बहाते हैं

स्वाभाविक है

जिसने किसी को जीवित देखा हो
वहीं उसे

मृत देखता है
जिसने जीवित नहीं देखा
मृत क्या देखेगा ?

कल की बात है -
मगधवासियों ने
अशोक को देखा था
कलिंग को जाते
कलिंग से आते
चन्द्रगुप्त को तक्षशिला की ओर घोड़ा दौड़ाते
आँसू बहाते
बिम्बिसार को
अजातशत्रु को
भुजा थपथपाते

मगध के लोगों ने
देखा था
और वे
भूल नहीं पाये हैं
कि उन्होंने उन्हें
देखा था

जो अब
ढूँढ़ने पर भी
दिखाई नहीं पड़ते

तीसरा रास्ता

मगध में शोर है कि मगध में शासक नहीं रहे
जो थे
वे मदिरा, प्रमाद और आलस्य के कारण
इस लायक
नहीं रहे
कि उन्हें हम
मगध का शासक कह सकें

लगभग वही शोर है
अवन्ती में
यही कोसल में
यही
विदर्भ में
कि शासक नहीं
रहे

जो थे
उन्हें मदिरा प्रमाद और आलस्य ने
इस
लायक नही
रखा
कि उन्हें हु अपना शासक कह सकें

तब हम क्या करें?
शासक नहीं होंगे
तो कानून नहीं होगा

कानून नहीं होगा
तो व्यवस्था नहीं होगी

व्यवस्था नहीं होगी
तो धर्म नहीं होगा

धर्म नहीं होगा
तो समाज नहीं होगा।

समाज नहीं होगा
तो व्यक्ति नहीं होगा

व्यक्ति नहीं होगा
तो हम नहीं होंगे

हम क्या करें ?
कानून को तोड़ दें ?
धर्म को छोड़ दें ?
व्यवस्था को भंग करें ?
मित्रो -
दो ही
रास्ते हैं
दुर्नीति पर चलें
नीति पर बहस
बनाये रखें

दुराचरण करें
सदाचार की
चर्चा चलाये रखें

असत्य कहें,
असत्य करें
असत्य जिएं,
सत्य के लिए
मर मिटने की आन नहीं छोड़ें

अन्त में,
प्राण तो
सभी छोड़ते हैं
व्यर्थ के लिए
हम
प्राण नहीं छोड़ें

मित्रो,
तीसरा रास्ता भी
है -

मगर वह
मगध,
अवन्ती
कोसल
या
विदर्भ
होकर नहीं
जाता।

कविताओं के बारे में

श्रीकांत वर्मा की आठ कविताएँ पाठ्यक्रम में हैं। ये कविताएँ उनके विविध काव्य संग्रहों से ली गई हैं। 'भटका मेघ-2' कविता संकेत पत्रिका मे 1956 में प्रकाशित हुई थी। 'बूढ़ा पुल' कविता समवेत पत्रिका में 1958 में प्रकाशित हुई थी। ये दोनों कविताएँ 'भटका मेघ' काव्य संग्रह में संकलित हैं। 'माया दर्पण' कविता 1964 में माध्यम नाम की पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। 'समाधि लेख' कविता धर्मयुग पत्रिका में 1964 में प्रकाशित हुई थी। 'बुखार में कविता' का रचना काल इसी के आस-पास का है। इन तीनों कविताओं को 'माया दर्पण' काव्य संग्रह में संकलित किया गया है। 'जलसाघर' का रचनाकाल 1973 ई0 है। 'मगध के लोग' तथा 'तीसरा रास्ता' कविता पूर्वग्रह पत्रिका में 1984 ई0 में प्रकाशित हुई थी। बाद में 'मगध' नाम से उनका स्वतंत्र काव्य संग्रह निकला। इस काव्य संग्रह का प्रकाशन काल 1986 ई0 है।

'भटका मेघ' कविता में प्रेम, सौंदर्य और गीतात्मक संवेदना हैं। इस कविता में छत्तीसगढ के परिवेश का आत्मीय वर्णन मिलता है। आषाढ़ का पहला बादल कवि की निश्छल अनुभूतियों का प्रथम विस्फोट है। कवि की आंतरिक अनुभूति आस्था का आधार ढूढ़ती है। यह आस्था जीवन की अनिश्चत यात्रा में कहीं खो गई है। अनुभूति के बादल के बिना धरती कितनी नीरस और बंजर मालूम पड़ती है इसका भी प्रामाणिक वर्णन मिलता है। शैशवकाल की निर्दोष अनुभूति के प्रति कवि में आकर्षण है। धरती के यथार्थ को देखकर कवि में आंतरिक पीड़ा अनुभव होती है। अंत में कवि अपनी संवेदना को नदी के रूप में देखता है जिसमें परिवर्तन और प्रवाह है। उसमें शाम है, धुआँ है, लहर है और उदासी है। 'बूढ़ा पुल' कविता में बूढ़ा पुल पुरानी आस्था और सरकार का प्रतीक है। यह समय बीतने का साक्षी है और साथ ही जीवन के परिवर्तनों का गवाह भी है। पुरानी आस्था अपने स्वरूप को परिवर्तित करना चाहती है। वह जनजीवन के अनुकूल अपने को रचने की माँग करती है। टूटती हुई आस्था के प्रति कवि में पीड़ा है, लेकिन वह जीर्णता से मुक्त होने का प्रयास भी करता है। पुराने जीर्ण पड़ गए मूल्यों में कवि नए स्पंदन को भरना चाहता है ताकि वह जीवन की नई यात्रा में शामिल हो सके।

'माया दर्पण' कविता में कवि का आंतरिक संघर्ष प्रतिपादित हुआ है। कवि का लड़खड़ाता आत्म-विश्वास कविता के ताने-बाने में गुँथा हुआ है। 'समाधि लेख' कविता में कवि की टूटती आकांक्षा की पीड़ा का साक्षात्कार मिलता है। इसके कारण कवि में अस्तित्ववादी अर्थहीनता पैदा होती है। जिस आकांक्षा को कवि छोड़ना चाहता है वह लगातार उसके अंतःकरण में दस्तक देती रहती है। रोजमर्रा में तबाह होते हुए जीवन की ओर भी कवि संकेत करता है। कवि अपने को संवेदनहीन बनाने के लिए अपनी व्यक्तिवादी मनोवृति की भी आलोचना करता है। कवि अपनी बेरोजगारी और संघर्षों को भी बताने का प्रयत्न करता

है। आदमी और आदमी के बीच के रिश्ते में उपयोगितावाद पनप रहा है। दुनियादारी में अन्याय और अनैतिकता का बोलबाला है। कवि इससे अपने को तटस्थ रखने की कोशिश करता है। क्रान्ति के नाम पर झूटा भ्रमजाल नहीं फैलाना चाहता है। 'बुखार में कविता' आक्रोश, विद्रोह और आत्मवेदना की कविता है। कवि लगातार अपनी कठिनाइयों से पाठक को परिचित कराता है। कवि के शब्दों में, देश को खोकर ही मैंने प्राप्त की थी कविता। कविता का जन्म कवि के यहाँ विद्रोह के रूप में होता है। कविता का सत्य गणित और राजनीति के सत्य से भिन्न होता है। कविता जीने की जरूरत है। थके और शिथिल विचार कवि की चिंता के केन्द्र में है। कवि पूरी आत्मीयता के साथ कविता रचना चाहता है। वह हरेक का होने की कोशिश करता है। इस कविता में आत्मकुंठा और आत्मधिक्कार का स्वर भी मिलता है। जनजीवन में फैले अन्याय के प्रति पीड़ा है और स्थिति को नहीं बदल पाने का कवि में असंतोष है। कविता के अंत में धुआँ उठने का आश्वासन हैं यह स्थितियों के सुलगने का संकेत करती है।

'जलसाघर' कविता बीसवीं सदी के मनुष्य से प्रश्न करती है। इस कविता में युद्ध में झुलसी मानवीय संवेदना का चित्र है। भावशून्य होते मनुष्य के प्रति चिंता है। सामाजिक परिवर्तन के स्थान पर समाज में यथास्थिति विद्यमान है। जीवन की जटिलताएं इस प्रकार से प्रकट हुई हैं कि मनुष्य की कथनी और करनी के बीच अंतराल बढ़ गया है। मनुष्य विचारहीन और मूल्यहीन स्थितियों के बीच जीने को बाध्य है। मूल्यहीनता इस तरह से सामान्य होती जा रही है कि एक संवेदनशील व्यक्ति का उससे बचना मुश्किल हो गया है। चतुराई और वाकपटुता के बीच जीवन के मूलभूत प्रश्न खो गये है। वामपंथ और दक्षिणपंथ की राजनीति में मानवीयता आधारहीन हो गई है। मानवता और नैतिकता के लिए वह संकटपूर्ण क्षण है। कविता का यही संदेश है।

'मगध के लोग' कविता में लोग हमारे समकालीन समाज के हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में मूल्यहीनता के बीच एक पीढ़ी युवा हुई थी। उसके सामने राजनीति में से करूणा, दया और त्याग का भाव समाप्त हो चुका था। वह केवल उन शासकों के नाम सुनती थी जिनमें इस प्रकार के भाव थे। मगध के लोग आँसू बहाने को बाध्य है। उनके समय की राजनीति क्रूर और अमानवीय हो गई है। कविता में मोहभंग के करूण चित्र हैं। तीसरा रास्ता कविता में सम्पूर्ण राजनीतिक संस्था के प्रति व्यंग्य किया गया है। मदिरा, आलस्य और शोर राजनीति की प्रमुख प्रवृत्ति बन गई है। मदिरा प्रमाद और आलस्य ने उन्हें इस लायक नहीं रखा कि उन्हें हम अपना शासक कह सकें। मूल्यहीन स्थिति में दो विकल्प शेष है। एक यह कि इन संस्थाओं को भंग करने की चेष्टा की जाए। दूसरा यह कि कथनी और करनी के बीच अंतर्विरोध को रखकर राजनीति की जाए। कविता तीसरे रास्ते को प्रस्तावित करती है।

'भटका मेघ' कविता की संवेदना गीतात्मक है। भाषा में प्रकृति के सौन्दर्य का चित्र है। वे अपने आंचलिक परिवेश की प्रकृति बहुत ही मासूम शब्दावली में अभिव्यंजित करते हैं। वस्तुतः श्रीकांत वर्मा कविकर्म में बिंब और प्रतीक को उतना अधिक महत्व नहीं देते हैं। जितना अर्थ की वास्तविकता को। आत्म व्यंग्य उनकी कविता में नाटकीय हरकत पैदा करता है। मगध की सम्पूर्ण कविता में नाटकीयता है। परिस्थिति की विडम्बना से नाटकीय दृश्य का निर्माण हुआ है। श्रीकांत की काव्य शिल्प की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि मैं ऊपर से परस्पर असंबद्ध मालूम पड़ती है। परन्तु भीतर से अर्थ के गहरे सूत्र से जुड़ी हुई होती है। कम शब्दों के प्रयोग से अर्थ की व्यापक संभावना की ओर संकेत श्रीकांत के शिल्प की विशिष्टता है। तुर्की का अप्रत्याशित और व्यंग्यपूर्ण प्रयोग भाषा के तेवर को नई भंगिमा का है।

श्रीकांत वर्मा का काव्य कई दिशाओं में प्रवाहित होता हुआ दिखाई देता है। उनके आंरभिक काव्य में आस्था और मूल्य के ठोस बिन्दुओं की खोज है। इसके लिए उन्हें अपने आंतरिक प्रदेश की कई भाव यात्राएँ करनी पड़ी हैं। 'भटका मेघ' और 'बूढ़ा पुल' कविता इसका प्रमाण है। मानवीय जीवन को बेहतर बनाने की जिद से उनकी कविता जूझती है। 'जलसाघर' और 'माया दर्पण' की कविताओं में आक्रोश, ध्वंस, प्रेम और बेचैनी का अंतहीन द्वंद्व देखने को मिलता है। बीसवीं शताब्दी के मनुष्य की पीड़ा का गहरा अहसास श्रीकांत की कविता के केन्द्र में है। मूल्यहीन और नैतिकताविहीन समाज के खोखलेपन को उजागर करना उनकी कविता का केन्द्रीय तथ्य है। राजनीति और विचारधारा' उनकी कविता में ऊब पैदा करती है।वह किसी सही रास्ते को अभिव्यंजित नहीं करके मनुष्य को अंधी गलियों में अंतहीन प्रलाप के लिए विवश करती है। 'मगध' की कविता में मोहभंग की स्थिति है और नई व्यवस्था में नये तरह से जूझने की चुनौती भी यह हमारे सामने रखती है। श्रीकांतकी कविता में नाटकीयता है।यह उनके काव्य की शैल्पिक निपुणता का प्रमाण है।

व्याख्या

मित्रों दो ही रास्ते हैं ..... विदर्भ होकर नहीं जाता ।

'मगध' श्रीकांत वर्मा का महत्वपूर्ण काव्य संग्रह है। प्रस्तुत काव्यांश 'मगध' काव्य के 'तीसरा रास्ता शीर्षक कविता से लिया गया है। मगध काव्य की अंतर्वस्तु में राजनीतिक दृष्टि का प्रभाव मिलता है। कविता में मदान्ध सत्ता की व्यापक आलोचना की गई है। कविता में जिन वास्तविकताओं से परिचय कराया गया है वह निरंतरता में ठहरी हुई है। कविता की केंद्रीय चिंता यह है कि मदिरा, प्रमाद, आलस्य से न केवल मगध के शासक बल्कि आवंती, कौशल और विदर्भ के शासक भी अछूते नहीं हैं।

राजनीतिक सत्ता के क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है, उससे कवि विक्षुब्ध है। कवि की निराशा वस्तुस्थिति की भयानकता को बताती है। कवि स्पष्ट करता है हमारे सामने दो रास्ते शेष हैं। दुर्नीति पर चलें और नीति पर बहस बनाये रखें। सत्ता और व्यवस्था में इसी प्रकार की दो मुँही बात की जाती है। कथन और कार्य को भिन्न रखा जाता है। लुभावने नारे दिए जाते हैं और जनता के धन को लूटा जाता है। यह सत्ता के नैतिक दिवालियेपन की ओर संकेत करता है। दुराचरण करें और सदाचरण को ओढ़ते रहें। सत्ता की अमानवीयता ने शुभ मानवीय भाव के अर्थ भी खोखले कर दिए हैं। क्रूरतम राजनीतिक षड्यंत्र के कारण असत्य सत्ता के केंद्र में आ जाता है, लेकिन सत्य को सामने रखा जाता है। इससे जनता को ठगा जाता है। सत्य के लिए संकल्प लिए जाते हैं। लेकिन यह संकल्प मात्र ही होते हैं उनका कर्तव्य से कोई लेना-देना नहीं होता।

कविता के अंत में कवि संकल्प को अभिव्यक्त करता है। राजनीति की क्रूरता के बावजूद कवि में आत्म-विश्वास बचा हुआ है। कवि उन शक्तियों के सामने परास्त नहीं होता है। वह नए रास्ते की खोज में उन्मुख होता है। वह व्यर्थ के लिए अपना प्राण नहीं छोड़ता है। वह तीसरे रास्ते को प्रस्तावित करता है। वह मगध, कौशल आवंती और विदर्भ होकर नहीं जाता है। कवि में सत्ता और विचारधारा मात्र के प्रति क्षोभ और वेदना है। सत्ता की अंतर्विरोधी मानसिकता जनता की त्रासदमयी स्थिति के लिए जिम्मेदार है।

विशेष

1) कविता में सत्ता के प्रति तीखा व्यंग्य है। सत्ता के दोहरे चरित्र का प्रतिपादन मिलता है।

2) कविता गद्य रूप में रची गयी है। गद्य की लय में विचारों को गुंथा गया है।

3) कविता में कोई आवेग नहीं है। बहुत ही धीमी लय से कविता आगे बढ़ती है।

17. धूमिल

जीवन परिचय

हिन्दी साहित्य जगतमें धूमिल नाम से प्रसिद्ध कवि सुदामा पाण्डेय को जन्म 9 नवम्बर 1936 ई. में वाराणसी जनपद के सेवली नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था। धूमिल के पिता पं0 शिवनायक पाण्डेय और माता रसवंती देवी की आर्थिक स्थिति को देखते हुए उन्हें निम्न मध्यवर्गीय परिवार का सदस्य माना जा सकता है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गांव के निकटवर्ती स्कूल मदसार और मिडिल तथा हाई स्कूल की शिक्षा अपने गाँव से तीन किलोमीटर दूरी पर स्थित हरदुआ बाजार के काशी इण्टर कालेज में सम्पन्न हुई थी। आठवीं कक्षा में सर्वप्रथम आने के कारण मिलने वाली छात्रवृत्ति के सहारे इन्होंने अपने पिता के असामयिक निधन के बावजूद 1953 में हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे पढ़ाई जारी रखने के उत्साह में धूमिल ने हरिशचन्द्र इण्टर कालेज वाराणसी में विज्ञान विषय में प्रवेश लिया। अपने गाँव से 12 किलोमीटर दूर शहर में रहने के खर्च को वहन कर पाने के कारण इन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी।

12 वर्ष की अवस्था में पिता निधन और 13 वर्ष की अवस्था में विवाह ने इनके जीवन संग्राम को अधिक कठोर बना दिया। बात छोटे भाइयों, विधवा माँ, पत्नी और चाची के भरण - पोषण के लिए कृषि कार्य का अपर्याप्त समझ कर वे रोजी रोटी की तलाश में कलकत्ता चले गये। कोई काम न मिलने की स्थिति में इन्होंने कुछ दिनों तक लोहा ढोने का काम किया। एक रिश्तेदार की सहायता से लकड़ी के एक बड़े व्यापारी के यहाँ अच्छी नौकरी मिल गयी। दो ढाई वर्ष तक नौकरी करने के बाद धनलोलुप व्यवसायी से लड़ झगड़ कर वे पुनः वाराणसी के औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान में प्रवेश लिया और 1958 में विद्युत डिप्लोमा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर वहीं पर विद्युत अनुदेशक के पद पर नियुक्त हो गये। जीवन पर्यन्त वे इसी पद पर कार्यरत रहे। अपनी कुशलता और कार्यक्षमता के बावजूद उच्चाधिकारियों से इनकी कभी बनी नहीं। फलस्वरूप वाराणसी से सीतापुर, बलिया, सहारनपुर, और प्रशिक्षण संस्थानों में उनका स्थानान्तरण होता रहा।

धूमिल के समझौता विहीन व्यक्तित्व में उनके पारिवारिक जीवन और ग्रामीण प्रतिष्ठा का विशेष योगदान रहा है।किसी भी कीमत पर कभी भी उन्होंने अन्याय के साथ समझौता नहीं किया।चाहे गांव के पट्टीदार हो या प्रशिक्षण संस्थान के अधिकारी-कर्मचारी, चाहे अपने आस-पास के मिलने वाले लोग-बाग हो या साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय संस्कृति कभी सर्वत्र शत्रु और मित्र के रूप में इन्होनें एक दूरी या निकटता बनाए रखी है। उनकी कथनी-करनी

या अंदर बाहर में किसी तरह का अलगाव नहीं था। इसीलिए उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में भी एकरूपता मिलती है। जीवन-संघर्षों से जूझते हुए काव्य रचना में निरंतर अपना योगदान करते हुए 10 फरवरी, 1975 को ब्रेन ट्यूमर के असाध्य रोग से पीड़ित धूमिल ने लखनऊ के एक अस्पताल में दम तोड़ दिया। 38-39 वर्षों की अल्पायु में उनका सार्थक रचना-काल मात्र 10 -12 वर्षों का है। इस अल्पावधि में उन्होंने हिन्दी काव्य यात्रा को एक नई दिशा प्रदान कर अपना ऐतिहासिक महत्व स्थापित किया है।

साहित्यिक योगदान

धूमिल की कविताओं ने अपनी अंतर्वस्तु और शिल्पगत बनावट बुनावट की ताजगी और सादगी के कारण हिन्दी पाठकों और आलोचकां का ध्यान एक दम से अपनी ओर आकृष्ट किया। अपने समय की अकविता, क्रुद्ध युवा पीढ़ी की कविता, भूखी और शमशानी पीढ़ी की कविता के निर्वीर्य आक्रोश से भिन्न धूमिल के आक्रोश के मूल में सर्वत्र शोषण उत्पीड़न के विरूद्ध मानवीय मुक्ति का पक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इस प्रक्रिया में कविता की शब्दार्थ व्यवस्था से लेकर देश की प्रजातांत्रिक संसदीय व्यवस्था, उसकी पूँजीवादी,औद्योगिक अर्थव्यवस्था, प्रशासनिक एवं न्याय व्यवस्था तक - सभी उनकी मार की सीमा में रहे हैं। समूची व्यवस्था से आक्रांत देश की साधारण जनता की बदहाली से खिन्न होकर वे स्वयं से प्रश्न करते हैं, "बीस साल बाद / मैं अपने आप से सवाल करता हूँ / कि जानवर बनने के लिए कितने सब्र की जरूरत होती है? / .... कि संत और सिपाही में / देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य कौन है?/ ... क्या आजादी तीन थके हुए रंगों का नाम है।/ जिन्हें एक पहिया ढोता है/ या इसका कोई खास मतलब होता है। 'लेकिन उसे स्वयं से या अन्यत्र कहीं से भी इसका उत्तर नहीं मिल पाता । इस स्थिति से साक्षात्कार के बाद धूमिल महसूस करते हैं कि अकेला कवि एक कटघरा होता है।" 'भाषा की रात' शीर्षक कविता में इस 'कटघरे' से निकल कर वे सारे देश की जनता को आवाज देते है।

"औ भाषावार हमलों से हलकान मेरे भाई/ क्या तुम्हें अब
भी / उसी का भरोसा है ?/ जिसके अधिकार में हमारी लिट्टी
है/ चावल है। इडली है/ डोसा है/ हाय ! जो असली
कसाई है/ उसकी निगाह में / तुम्हारा यह तमिल दुख /
मेरी इस भोजपुरी पीड़ा का/ भाई है/ भाषा उस तिकड़मी
दरिंदे का कौर है/ जो सड़क पर और है/ संसद में और
है/ इसलिए बाहर आ !/ भाषा ठीक करने से पहले
आदमी को ठीक कर।"

व्यवस्था की इस दरिंदगी को, इस पशुता को धूमिल ने कई कोणों से उजागर करने का प्रयास किया है। लोगों की एकता को तोड़ने के लिए, उन्हें विभाजित करने के लिए व्यवस्था

के अलमबरदार,उसकी भूख की जगह कभी भाषा को मुद्दा बना लेते हैं तो कभी धर्म या साम्प्रदायिकता को, कभी क्षेत्रीय हित को तो कभी देश की सुरक्षा को प्रमुख मुद्दा बना कर अपने शोषण और दमनचक्र को जारी रखते हैं।'भाषा की रात' शीर्षक कविता के साथ ही धूमिल ने'जनतंत्र के सूर्योदय में','अकाल दर्शन','प्रजातंत्र के विरूद्ध','पटकथा' आदि अपनी अधिकांश कविताओं में भारतीय जनतंत्र की छाया में पलने वाली तमाम सारी सामाजिक-राजनीतिक विभिषिकाओं का निर्मम उद्घाटन करते हुए एक'मुनासिब कार्यवाही' का आह्वान किया है। पाठ्यक्रम में निर्धारित कविताओं का अध्ययन करते हुए आप उपर्युक्त तथ्यों को आसानी से समझ सकेंगे।

भाषा एवं शैली का दृष्टि से भी धूमिल ने अपनी एक नयी पहचान बनायी है। हिंदी काव्य की परम्परागत रूपक योजना, मिथक रचना-प्रतीक-विधान का परित्याग कर इन्होंने भाषा एवं शैली - दोनों ही दृष्टियों से'सपाट बयानी' को अपनी कविता के लिए श्रेयष्कर समझा है। सामान्य बोल चाल की चालू भाषा और बिना लाग-लपेट के कहने का कौशल धूमिल की काव्य-शैली का प्रमुख आकर्षण है। कविता को'एक सार्थक वक्तव्य','मुजरिम के कटघरे में खड़े एक बेकसूर आदमी का हलफनामा','भाषा में आदमी होने की तमीज़' आदि कहकर अपनी सपाट बयानी के कौशल की ओर संकेत किया है। विवेचन-विश्लेषण में न जाकर कुछ उदाहरणों द्वारा कवि की सपाट बयानी के कौशल को अधिक सार्थक ढंग से आप समझ सकेंगे -'देश की संसद तेली की वह घानी है, जिसमें आधा तेल और आधा पानी है','मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है। जो मेरे सामने मुरम्मत के लिए खड़ा है','जिसकी भी पूँछ उठाई - मादा पाया','ज़िंदा रहने के पीछे अगर कोई तर्क नहीं है तो रामनामी (दुपट्टा), बेचकर या रण्डियों की दलाली करके रोजी कमाने में कोई फर्क नहीं है।'यह एक ऐसा जनतंत्र है, जिसमें जिंदा रहने के लिए घोड़े और घास को एक जैसी छूट है।' - इन उक्तियों से स्पष्ट है कि धूमिल ने अकविता और श्मशानी भूखी-क्रुद्ध पीढ़ी के दौर में एक सार्थक विद्रोह भाव ही नहीं, एक नया काव्य-शिल्प भी हिंदी की आगे आने वाली पीढ़ी को दिया। भाव भाषा एवं शिल्प - सभी दृष्टियों से धूमिल ने हिंदी कविता की एक नयी परंपरा का सूत्रपात किया है। धूमिल की रचनाओं की सूची इस प्रकार है :

काव्य : 'संसद से सड़क तक' (1972),'कल सुनना मुझे' (1976) तथा'सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र' (1984) आदि।

मुनासिब कार्रवाई
अकेला कवि कठघरा होता है
इससे पहले कि 'वह' तुम्हें
सिलसिले से काटकर अलग कर दे
कविता पर
बहस शुरू करो
और शहर को अपनी ओर
झुका लो।
यह सबूत के लिए है।
-रंगीन पत्रिकाओं में चरित्र -
पोंकता हुआ ईमान,
जो दाँतों में फँसी हुई भाषा की
तिकड़म है,
-टूटे हुए बकलस का खुफिया तनाव
-एक बातूनी घड़ी,
- वकील का लबार चोंगा,
- एक डरपोक चाकू
जिसका फल कानून की जद से
सूत भर कम है।

शिनाख्त की इन तमाम चीजों के साथ
अपने लोगों की भीड़ में
भाषा को धीरे से धँसाओ।
बिना किसी घाव के शब्द
बाहर आ जायेंगे
जैसे परखी में बोरे का अनाज
चला आता है।
उन्हें परखो।
बाट की जगह अपना चेहरा रख दो ।
यह न्याय के लिए है।
क्योंकि जिसमें थोड़ा सा भी विवेक है,
वह जानता है कि आजकल
शहर कोतवाल की नीयत

और हथकड़ी का नम्बर एक है।
और अब देखो कि काँटे का रुख
किधर है।
कल तक वह उधर था
जिधर आढ़तिया था।
जिधर चुंगी का मुंशी बैठता था
कल तक -
नगरपिता का सिर विरोध में
हिलता था और तुम पाते थे -
कि कविता का अर्थ
बदल गया है।
मगर अब चीजों के गलत होने का
पता चल गया है :
एक रिश्ता गलत समय देने लगा है,
उसकी मरम्मत के लिए
घड़ीसाज की दुकान पर जाना
सरासर भूल है।

तुम्हारे जिगरी दोस्त की कमर
वक्त से पहले ही झुक गयी है
उसके लिए -
बढ़ई के आरी और बसूले से
लड़ना फिजूल है।
क्योंकि गलत होने की जड़
न बढ़ई के बसूले में
और न आरी में है
बल्कि वह इस समझदारी में है
कि वित्त मंत्री की ऐनक का
कौन सा शीशा कितना मोटा है,
और विपक्ष की बेंच पर बैठे हुए
नेता के भाइयो के नाम
सस्ते गल्ले की कितनी दुकानों का
कोटा है।

और जो चरित्रहीन है
उसकी रसोई में पकनेवाला चावल
कितना महीन है।
इस वक्त सचाई को जानना
विरोध में होना है।
और यहीं से -
अपराधियों की नाक के ठीक नीचे
कविता पर
बहस शुरू होती है।
चेहरे से चेहरा बटोरते हुए
एक तीखा स्वर
सवाल पर सवाल करता है।
सन्नाटा टूटता है।
गूँगे के मुँह से उत्तर फूटता है।
'कविता क्या है ?
कोई पहनावा है ?
कुर्ता-पाजामा है ?'
'ना, भाई, ना,
कविता -
शब्दों की अदालत में
मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का
हलफनामा है।'
'क्या यह व्यक्तित्व बनाने की -
चरित्र चमकाने की -
खाने-कमाने की -
चीज़ है ?'
'ना, भाई, ना,
कविता
भाषा में
आदमी होने की तमीज है।

इस तरह सवाल और जवान की मंजिले -
तय करके
थका-हारा सच -

एक दिन अपने खोये हुए चेहरे में
वापस आता है,
और अचानक, एक नदारद सा आदमी
समूचे शहर की जुबान बन जाता है।

लेकिन मैंने कहा -
अकेला कवि कठघरा होता है।
साथ ही, मुझे डर है कि 'वह' आदमी
तुम्हें सिलसिले से काटकर
अलग कर देने पर तुला है,
जो आदमी के भेस में
शातिर दरिन्दा है,
जो हाथों और पैरों से पंगु हो चुका है
मगर नाखून में जिन्दा है,
जिसने विरोध का अक्षर अक्षर
अपने पक्ष में तोड़ लिया है।
जो जानता है कि अकेला आदमी झूठ होता है।
जिसके मन में पाप छाया हुआ है।
जो आज अघाया हुआ है,
और कल भी -
जिसकी रोटी सुरक्षित है।
'वह' तुम्हें अकेला कर देने पर
तुला है।
वक्त बहुत कम है।
इसलिए कविता पर बहस
शुरू करो।
और शहर को अपनी ओर झुका लो
क्योंकि असली अपराधी का
नामा लेने के लिए
कविता, सिर्फ उतनी ही देर तक सुरक्षित है
जितनी देर, कीमा होने से पहले
कसाई के ठीहे और तनी हुई गँडास के बीच
बोटी सुरक्षित है।

'सहमति.....
नहीं, यह समकालीन शब्द नहीं है
इसे बालिगों के बीच चालू मत करो'
-जंगल से जिरह करने के बाद
उसके साथियों ने उसे समझाया कि भूख
का इलाज नींद के पास है।
मगर इस बात से वह सहमत नहीं था
विरोध के लिए सही शब्द टटोलते हुए
उसने पाया कि वह अपनी जुबान
सहुवाइन की जाँघ पर भूल आया है,
फिर भी हकलाते हुए उसने कहा -
'मुझे अपनी कविताओं के लिए
दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है,
सहसा तुम कहोगे और फिर एक दिन -
पेट के इशारे पर
प्रजातंत्र से बाहर आकर
वाजिब गुस्से के साथ अपने चेहरे से
खूदोगे
और अपने ही घूँसे पर
गिर पड़ोगे ।
'क्या मैंने गलत कहा? आखिरकार
इस खाली पेट के सिवा
तुम्हारे पास वह कौन सी सुरक्षित
जगह है, जहाँ खड़े होकर
तुम अपने दाहिने हाथ की
साजिश के खिलाफ लड़ोगे?

यह एक खुला हुआ सच है कि आदमी
दायें हाथ की नैतिकता से
इस कदर मजबूर होता है
कि तमाम उम्र गुजर जाती है मगर गाँड़
सिर्फ, बायाँ हाथ धोता है।

और अब तो हवा भी बुझ चुकी है
और सारे इश्तहार उतार लिये गये हैं
जिनमें कल आदमी -
अकाल था। वक्त के
फालतू हिस्सों में
छोड़ी गयी पालतू कहानियाँ
देश प्रेम के हिज्जे भूल चुकी हैं,
और वह सड़क -
समझौता बन गयी है
जिस पर खड़े होकर
कल तुमने संसद को
बाहर आने के लिए आवाज दी थी
नहीं, अब वहाँ कोई नहीं है
मतलब की इबारत से होकर
सब के सब व्यवस्था के पक्ष में
चले गये हैं लेखपाल की
भाषा के लम्बे सुनसान में
जहाँ पालो और बंजर का फर्क
मिट चुका है चन्द खेत
हथकड़ी पहने खड़े हैं।

और विपक्ष में
सिर्फ कविता है।
सिर्फ हज्जाम की खुली हुई किसमत में एक उस्तुरा
चमक रहा है।
सिर्फ भंगी का एक झाड़ू हिल रहा है
नागरिकता का हक हलाल करती हुई
गन्दगी के खिलाफ।

और तुम हो, विपक्ष मे
बेकारी और नींद से परेशान।

और एक जंगल है -
मतदान के बाद खून में अँधेरा
फ्छींटता हुआ।
(जंगल मुखबिर है)

उसकी आँखों में
चमकता हुआ भाईचारा
किसी भी रोज़ तुम्हारे चेहरे की हरियाली को,
बेमुरव्वत, चाट सकता है।

ख़बरदार !
उसने तुम्हारे परिवार को
नफ़रत के उस मुकाम पर ला खड़ा किया है
कि कल तुम्हारा सबसे छोटा लड़का भी
तुम्हारे पड़ोसी का गला
अचानक,
अपनी स्लेट से काट सकता है।
क्या मैंने गलत कहा ?

आख़िरकार...आख़िरकार...

मोचीराम

रॉपी से उठी हुई आँखों ने मुझे
क्षण भर टटोला
और फिर
जैसे पतियाये हुए स्वर में
वह हँसते हुए बोला -
भाबूजी ! सच कहूँ मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए हर आदमी एक जोडी जूता है
जो मेरे सामने है।
मरम्मत के लिए खड़ा है

और असल बात तो यह है
कि वह चाहे जो है
जैसा है, जहाँ कहीं है
आजकल
कोई आदमी जूते की नाप से
बाहर नहीं है
फिर भी मुझे ख्याल रहता है।
कि पेशेवर हाथों और फटे हुए जूतों के बीच
कहीं न कहीं एक अदद आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं
जो जूते से झाँकती हुई अंगुली की चोट छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है

यहाँ तरह तरह के जूते आते हैं
और आदमी की अलग अलग 'नवैयत'
बतलाते हैं।
सबकी अपनी अपनी शक्ल है
अपनी अपनी शैली है
मसलन एक जूता है
जूता क्या है तकलियों की थैली है।

इसे एक चेहरा पहनता है
जिसे चेचक ने चुग लिया है
उस पर उम्मीद को तरह देती हुई हँसी है
जैसे टेलीफून के खम्भे पर
कोई पतंग फँसी है
और खड़खड़ा रही है
'बाबूजी । इस पर पैसा
क्यों फूँकते हो ?'
मैं कहना चाहता हूँ
मगर मेरी आवाज लड़खड़ा रही हैं
मैं महसूस करता हूँ - भीतर से
एक आवाज आती है - कैसे आदमी हो
अपनी जाति पर थूकते हो।'
आप यकीन करें, उस समय
मैं चकतियों की जगह आँखे टाँकता हूँ
और पेशे में पड़े हुए आदमी को
बड़ी मुश्किल से निबाहता हूँ

एक जूता और है जिससे पैर को
'नाँधकर' एक आदमी निकलता है
सैर को
न वह अक्लमन्द है
न वक्त का पाबन्द है
उसकी आँखों में लालच है
हाथों में घड़ी है
उसे कहीं जाना नहीं है
मगर चेहरे पर
बड़ी हड़बड़ी है
वह कोई बनिया है
या बिसाती है
मगर रोब ऐसा कि हिटलर का नाती है
'इसे बाँद्धों, उशे काट्टो, हियाँ ठोक्कों, वहाँ पीट्टो
घिश्शा दो, अइशा चमकाओ, जुते को ऐना बनाओं
...ओफ़् ! बड़ी गर्मी है' रूमाल से हवा

करता है, मौसम के नाम पर बिसूरता है
सड़क पर आतियों-जातियों को
बानर की तरह घूमता है
गरज यह कि घण्टे भर खटवाता है
मगर नामा देते वक्त
साफ 'नट' जाता है
'शरीफों को लूटते हो' वह गुर्राता है
और कुछ सिक्के फेंककर
आगे बढ़ जाता है
अचानक चिहूंककर सडक से उछलता है
और पटरी पर चढ़ जाता है
चोट जब पेशे पर पड़ती है
थो कहीं-न-कहीं एक चोर कील
दबी रह जाती है
जो मौका पाकर उभरती है
और अँगुली में गड़ती है
मगर इसका मतलब यह नहीं है
कि मुझे कोई गलतफहमी है
मुझे हर वक्त यह खयाल रहता है कि जूते
और पेशे के बीच
कहीं न कहीं एक अदद आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं
जो जूते से झाँकती हुई अंगुली की चोट
छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है
और बाबूजी ! असल बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की
दलाली करके रोजी कमाने में
कोई फर्क नहीं है
और यही वह जगह है जहाँ पर आदमी
अपने पेशे से छूटकर
भीड़ का टमकता हुआ हिस्सा बन जाता है।
सभी लोगों की तरह

भाषा उसे काटती है
मौसम सताता है
अब आप इस बसन्त को ही लो,
यह दिन को ताँत की तरह तानता है
पेड़ों पर लाल-लाल पत्तों के हज़ारों सुखतल्ले
धूप में सीझने के लिए
लटकाता है

सच कहता हूँ - उस समय
राँपी की मूठ को हाथ में संभालना
मुश्किल हो जाता है
आँख कहीं जाती है
हाथ कहीं जाता है
मन किसी झुँझलाये हुए बच्चे-सा
काम पर आने से बार-बार इनकार करता है
लगत है कि चमड़े की शराफत के पीछे
कोई जंगल है जो आदमी पर
पेड़ से वार करता है
और यह चौंकने की नहीं, सोचने की बात है
मगर जो ज़िन्दगी को किताब से नापता है
जो असलियत और अनुभव के बीच
खून के किसी कमज़ात मौके पर कायर है
वह बड़ी आसानी से कह सकता है
कि यार ! तू मोची नहीं, शायर है
असल में वह एक दिलचस्प गलतफहमी का
शिकार है
जो यह सोचता है कि पेशा एक जाति है
और भाषा पर
आदमी का नहीं, किसी जाति का अधिकार है
जबकि असलियत यह है कि आग
सबको जलाती है सच्चाई
सबसे होकर गुज़रती है
कुछ हैं जिन्हें शब्द मिल चुके हैं
कुछ है जो अक्षरों के आगे अन्धे है

वे हर अन्याय को, चुपचाप सहते है
और पेट की आग से डरते हैं
जबकि में जानता हूँ कि इनकार से भरी हुई एक चीख'

और एक समझदार चुप'
दोनों का मतलब एक है -
भविष्य गढ़ने में, 'चुप' और 'चीख'
अपनी अपनी जगह एक ही किस्म से
अपना अपना फर्ज अदा करते हैं।

राजकमल चौधरी

सोहर की पंक्तियों का रस
(चमड़े की निर्जनता को गीला करने के लिए)
नये सिरे से सोखने लगती हैं
जाँघों में बढ़ती हुई लालच से
भविष्य के रंगीन सपनों को
जोखने लगती है
मगर अब वह नहीं है

उसका मर जान पतियों के लिए
अपनी पत्नियों के पतिव्रता होने की
गारण्टी है

मैं सोचता हूँ और शहर
शमशान के पिछले हिस्से के परिचित अंधेरे में
किसी 'मरी' की तरह बँधा खड़ा है
घण्टाघर में वक्त की कैंची
कबूतरों के पंख कतर रही है
चौराहों पर
भीड़ किसी अपभ्रंश का शुद्ध रूप जानने के लिए
उस प्रागैतिहासिक कथा की गुड्डी
खोलने में व्यस्त है जहाँ रात
भनेले पशुओं ने विश्राम किया था। कविता में
कुछ लोग मनुष्य की आत्मा और गाँजे की
चिलम पर
अंगुलियों के निशान की शिनाख्त कर रहे हैं
मगर वह -
अब वहाँ नहीं है
मौसम की सूचना के साथ वक्त के काले हाशिये में
एक मौत दर्ज कर दी गई है
'रा ...ज...कं...म...ल...चौ...ध...री'...
और मैं वापस छूट गया हूँ
वर्तमान की बजबजाती हुई सतह पर

हिजड़ों की एक पूरी पीढ़ी लूप और अन्धा कूप के मसले पर
बहस कर रही है
आजादी-इस दरिद्र परिवार की बीससाला 'बिटिया'
मासिकधर्म में डूबे हुए क्वॉरेपन की आग से
अन्धे अतीत और लँगड़े भविष्य की
चिलम भर रही है
वर्तमान की सतह पर
अस्पताल की अन्तर्धाराओं और नर्सों का
सामुद्रिक सीखने के बाद
'स्वप्न सुखद हो' छाप तकियों को फाड़कर
मैं
मृत्यु और मृत्यु नहीं के बीच की सरल रेखा
तलाश करता हूँ मगर वहाँ
सिर्फ चूहों की लेड़ियों
बिनौलो और स्वप्नभंग की आतुर मुद्राओं की
मौसमी नुमाइश है
जिसके भीतर कविता
किसी छूटी हुई आदत को दुहराते हुए जीने की
गुंजाइश है और अन्धकार है
जिसने चीजों को आसान कर दिया है

मेरे देखते ही देखते
उसकी तसवीर के नीचे स्वर्गीय लिखकर
फूलदान की बगल में
बुद्धिमानों का अन्धापन और अन्धों का विवेक
मापने के लिए
सफेद पालतू बिल्ली
अपने पंजों के नीचे से कुछ शब्द
काढ़ कर रख देती है
अचानक सड़कें
इश्तिहारों के रोजनामचों में बदल जाती हैं।
'सिरोसिस' की सड़ी हुई गाँठ
शमकालीन कवियों की आँख बन जाती है।
नफरत के अन्धे कुहराम में सैंकड़ों कविताएँ

कत्ल कर दी जाती हैं
मरी हुई गिलहरी की पीठ पर पहली मुहर
लगाने के लिए और युकलिप्टस का दरख्त
एक सामूहिक अफवाह में नंगा हो जाता है
-उसे जिन्दगी और जिन्दगी के बीच
कम से कम फासला
रखते हुए जीना था
यही वजह थी कि वह
एक की निगाह में हीरा आदमी था
तो दूसरी निगाह में
कमीना था

-एक बात साफ थी
उसकी हर आदत
दुनिया के व्याकरण के खिलाफ थी

-न वह किसी का पुत्र था
न भाई था
न पति था
न पिता था
न मित्र था
राख : जंगल से बना हुआ यह
एक ऐसा चरित्र था
जिसे किसी भी शर्त पर
राजकमल होना था
-वह सौ प्रतिशत सोना था
ऐसा मैं नहीं कहूँगा
मगर यह तै हे कि उसकी शख्सियत
घास थी
वह जलते हुए मकान के नीचे भी
हरा था।
-एक मतलबी अदमी जो अपनी जरूरतों में
निहायत खरा था
-उसे जंगल में

पेड़ की तलाश थी
-उसके पास शराब और गाँजा और शहनाई और औरतों के
दिलफरेब किस्से थे
-मगर ये सब सिर्फ उन पर्दों के हिस्से थे
जिनकी आड़ में बैठकर
वह कविताएँ बुनता था
...अपनी वासनाओं के अँधेरे में
वह खोया हुआ देश था

जीभ और जॉग के चालू भूगोल से
अलग हटकर उसकी कविता
एक ऐसी भाषा है जिसमें कहीं भी
लेकिन, शायद अगर नहीं है
उसके लिए हम इत्मीनान से कह सकते है कि वह
एक ऐसा आदमी था जिसका मरना
कविता से बाहर नहीं है
सैकड़ों आवाजे हैं
जिनके इर्द-गिर्द बैठकर
चायघरों में
मेरे दोस्त अगली शोकसना का कार्यक्रम
तैयार कर रहे हैं
एक नये कोरस की धुन और मौत की रोशनी में चमकाने का
साहस,
खोये हुए आदमी की हुलिया का इश्तिहार और एक रंगीन
खाली बोतल
तीन दर्जन कागो की चुप्पी और एक काला रिबन
औसत दर्जे की टेप-रिकार्डिग मशीन और बच्चों के खेलने
की विलायती पिस्तौल का देशी मॉडल
मेरे दोस्त चायघरों में
अगली शोकसभा का कार्यक्रम तैयार कर रहे हैं
मगर में उनमें शरीक नहीं होना चाहता
में कविताओं में उनका पीछा करना चाहता हूँ
इसके पहले कि वे उसे किसी संस्था में
या व्याकरण की किसी अपाहिज धारणा में बदल दे

मैं उन तमाम चुनौतियों के लिए
खुद को तैयार करना चाहता हूँ
जिनका सामना करने के लिए छत्तीस साल तक
वह आदमी अन्धी गलियों में
नफ़रत का दरवाज़ा खटखटाकर
कँचियों की दलाली करता रहा
छत्तीस साल तक गुप्त रोगों के इलाज की जड़ी
ढूँढ़ता रहा वेश्याओं और गँजेड़ियों के
नींद-भरे जंगल में

अपनी रुकी हुई किडनी के अन्धे दराज में
हाथ डालकर
कविताओं में बेलौस शब्द फेंकता रहा
और अन्त में -
अपने लिए सही टोपियों का चुनाव न कर सकने की -
हालत में बौखलाकर
अघोरियों की संगत में बैठ गया

मगर नहीं- अँधेरे घाटों पर बँधी हुई नावों को
अदृश्य द्वीपों की ओर खोलकर
कल उसे लोगों ने
गाँव की तरफ़ जाते हुए देखा था
उसके पैर वर्तमान की कीचड़ से लथपथ थे
उसकी पीठ झुकी हुई थी
उसके चेहरे पर
अनुभव की गहरी खराश थी
'पूरा का पूरा यह युद्ध-काव्य
मैंने गलत जिया है
गलत किया है मैंने इस
कमरे को समझकर
जहाजी बेड़ों का बन्दरगाह ...
के इस अकाल बेला में
जम्बूद्वीप के प्रारंभ से ही यह अंधकार
बन गया था हमारा अन्तरंग संस्कार

बार-बार
उसकी कविताओं में
बवासीर की गांठ की तरह शब्द
लहू उगलते हैं
और बार-बार मेरे भीतर टूटता है,
टूटता है और मुझे तैयार करता है
चुनौतियों के सामने।

उसका मरना मुझे जीने का सही कारण देता है
जबकि वे
याने कि मेरे दोस्त
पहियों और पाण्डुलिपियों की रायल्टी तय करने की
होड़ में
यह नहीं जानते
कि वह
फूलदानों, मछलियों, अँधेरों और कविताओं
को कौन-सा अर्थ
देने के लिए
किस जंगल
किसी समुद्र
किस शहर के अँधेरे में जाकर
गायब हो गया है

उन्होंने, सिर्फ, उसे
एक जलते हुए मकान की छत्तीसवीं खिड़की से
हवा में
फाँदते हुए देखा है।

उसे मालूम है कि शब्दों के पीछे
कितने चेहरे नंगे हो चुके हैं
और हत्या अब लोगों की रुचि नहीं -
आदत बन चुकी है
वह किसी गँवार आदमी की ऊब से
पैदा हुई थी और
एक पढ़े-लिखे आदमी के साथ
शहर में चली गयी

एक सम्पूर्ण स्त्री होने के पहले ही
गर्भाधान की क्रिया से गुजरते हुए
उसने जान की प्यार
घनी आबादीवाली बस्तियों में
णकान की तलाश है
ळागातार बारिश में भीगते हुए
उसने जान कि हर लड़की
तीसरं गर्भपात के बाद
धर्मशाला हो जाती है और कविता
हर तीसरे पाठ के बाद
नहीं - अब वहाँ कोई अर्थ खोजना व्यर्थ है
पेशेवर भाषा के तस्कर संकेतों
और बेलमुखी इमारतों में
अर्थ खोजना व्यर्थ है
हॉ, हो सके तो बगल से गुजरते हुए आदमी से कहो
लो, यह रहा तुम्हारा चेहरा,
यह जुलूस के पीछे गिर पड़ा था

इस वक्त इतना ही काफी है ।

वह बहुत पहले की बात है
जब कहीं, किसी निर्जन में
आदिम पशुता चीखती थी और
सारा नगर चौंक पड़ता था
मगर अब -
अब उसे मालूम है कि कविता
घेराव में
किसी बौखलाये हुए आदमी का
संक्षिप्त एकालाप है

अकाल-दर्शन

भूख कौन उपजाता है :
वह इरादा जो तरह देता है
या वह घृणा जो आँखों पर पट्टी बाँधकर
हमें घास की सट्टी में छोड़ आती है ?

उस चालाक आदमी ने मेरी बात का उत्तर
नहीं दिया।
उसने गलियों और सड़कों और घरों में
बाढ़ की तरह फैले हुए बच्चों की ओर इशारा किया
और हँसने लगा।

मैंने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा -
'बच्चे तो बेकारी के दिनों की बरकत हैं'
इससे वे भी सहमत हैं
जो हमारी हालत पर तरस खाकर, खाने के लिए
रसद देते हैं।
उनका कहना है कि बच्चे
हमें बसन्त बुनने में मदद देते हैं।

लेकिन यही वे भूलते हैं
दरअस्ल, पेड़ों पर बच्चे नहीं
हमारे अपराध फूलते हैं
मगर उस चालाक आदमी ने मेरी किसी बात का उत्तर
नहीं दिया और हँसता रहा- हँसता रहा-हँसता रहा
फिर जल्दी से हाथ छुड़ाकर
'जनता के हित में' स्थानान्तरित
हो गया।

मैंने खुद को समझाया-यार !
उस जगह खाली हाथ जाने से इस तरह
क्यों झिझकते हो ?
क्या तुम्हें किसी का सामना करना है ?

और सहसा मैंने पाया कि मैं खुद अपने सवालों के
सामने खड़ा हूँ और
उस मुहावरे को समझ गया हूँ
जो आजादी और गाँधी के नाम पर चल रहा है
जिससे न भूख मिट रही है, न मौसम
बदल रहा है।
लोग बिलबिला रहे हैं (पेड़ों को नंगा करते हुए)
पत्ते और छाल
खा रहे हैं
मर रहे हैं, दान
कर रहे हैं।
जलसों-जुलूसों में भीड़ की पूरी ईमानदारी से
हिस्सा ले रहे हैं और
अकाल को सोहर की तरह गा रहे हैं।
झुलसे हुए चेहरों पर कोई चेतावनी नहीं है।
मैंने जब भी उनसे कहा है देश शासन और राशन...
उन्होंने मुझे टोक दिया है।
अक्सर, वे मुझे अपराध के असली मुकाम पर
अँगुली रखने से मना करते हैं।
जिनका आधे से ज्यादा शरीर
भेड़ियों ने खा लिया है
वे इस जंगल की सराहना करते हैं -
'भारत वर्ष नदियों का देश है।'

बेशक, यह खयाल ही उनका हत्यारा है।
यह दूसरी बात है कि इस बार
उन्हें पानी ने मारा है।

मगर वे हैं कि असलियत नहीं समझते।
अनाज में छिपे उस आदमी की नीयत
नहीं समझते।

जो पूरे समुदाय से
अपनी ग़िज़ा वसूल करता है -
कभी 'गाय' से
और कभी 'हाय' से

'यह सब कैसे होता है' मैं उन्हें समझाता हूँ
मैं उन्हें समझाता हूँ -
वह कौन-सा प्रजातान्त्रिक नुस्खा है
कि जिस उम्र में
मेरी माँ का चेहरा
झुर्रियों की झोली बन गया है
उसी उम्र की मेरे पड़ोस की महिला
के चेहरे पर
मेरी प्रेमिका के चेहरे-सा
लोच है।

वे चुपचाप सुनते हैं।
उनकी आँखों में विरक्ति है:
पछतावा है;
संकोच है
या क्या है कुछ पता नहीं चलता।
वे इस कदर पस्त हैं :

कि तटस्थ हैं।
और मैं सोचने लगता हूँ कि इस देश में
एकता युद्ध की और दया
अकाल की पूँजी है।
क्रान्ति -
यहाँ के असंग लोगों के लिए
किसी अबोध बच्चे के -
हाथों की जूजी है।

पटकथा

जब मैं बाहर आया
मेरे हाथों में
एक कविता थी और दिमाग में
आँतों का एक्स-रे।
वह काला धब्बा
जो कल तक एक शब्द था,
खून के अंधेरे में
दवा की शीशी का ट्रेडमार्क
बन गया था।
औरतों के लिए गैर जरूरी होने के बाद
अपनी ऊब का
दूसरा समाधान ढूँढना जरूरी है।
मैंने सोचा !
क्योंकि शब्द और स्वाद के बीच
अपनी भूख को जिन्दा रखना
जीभ और जाँघ के स्थानिक भूगोल की
वाजिब मजबूरी है।
मैंने सोचा और संस्कार के
वर्जित इलाकों में
अपनी आदतों का शिकार
होने से पहले ही
बाहर चला आया।
बाहर हवा थी
धूप थी
घास थी
मैंने कहा आजादी ...
मुझे अच्छी तरह याद है -
मैंने यही कहा था
मेरी नस नस में बिजली
दौड़ रही थी
उत्साह में
खुद मेरा स्वर

मुझे अजनबी लग रहा था
मैंने कहा - आ-ज़ा-दी
और दौड़ता हुआ खेतों की ओर
गया ! वहाँ कतार के कतार
अनाज के अँकुए फूट रहे थे
मैंने कहा - जैसे कसरत करते हुए
बच्चे। तारों पर
चिड़ियाँ चहचहा रहीं थीं
मैंने कहा-काँसे की बजती हुई घण्टियाँ...
खेत की मेड़ पार करते हुए,
मैंने एक बैल की पीठ थपथपायी
सड़क पर जाते हुए आदमी से
उसका नाम पूछा
और कहा-बधाई...

घर लौटकर
मैंने सारी बत्तियाँ जला दीं
पुरानी तसवीरों को दीवार से
उतारकर
उन्हें साफ़ किया
और फिर उन्हें दीवार पर (उसी जगह)
टाँग दिया।
मैंने दरवाज़े के बाहर
एक पौधा लगाया और कहा-
वन-महोत्सव...
और देर तक
हवा में गरदन उचका-उचकाकर
लम्बी-लम्बी साँस खीचता रहा
देर तक महसूस करता रहा-
कि मेरे भीतर
वक्त का सामना करने के लिए
औसतन, जवान खून है
मगर, मुझे शान्ति चाहिए
इसलिए खाली दरबे में

एक जोड़ा कबूतर लाकर डाल दिया
'गूँ...गुटरगूँ...गूँ...गुटरगूँ...
और चहकते हुए कहा-
यही मेरी आस्था है
यही मेरा कानून है

इस तरह जो था उसे मैंने
जी भरकर प्यार किया
और जो नहीं था
उसका इन्तज़ार किया।
मैंने इन्तज़ार किया-
अब कोई बच्चा
भूखा रहकर स्कूल नहीं जायेगा
अब कोई छत बारिश में
नहीं टपकेगी।
अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में
अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा
अब कोई दवा के अभाव में
घुट-घुटकर नहीं मरेगा
अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा
कोई किसी को नंगा नहीं करेगा
अब यह जमीन अपनी है
आसमान अपना है
जैसा पहला हुआ करता था-
सूर्य,हमारा सपना है
मैं इन्तजार करता रहा ...
इन्तजार करता रहा....
इन्तजार करता रहा...
जनतन्त्र, त्याग, स्वतंत्रता ...
संस्कृति, शान्ति, मनुष्यता....
ये सारे शब्द थे
सुनहरे वादे थे
खुशफहम इरादे थे

सुन्दर थे
मौलिक थे
मुखर थे
मैं सुनता रहा...
सुनता रहा...
सुनता रहा...
मतदान होते रहे
मैं अपनी सम्मोहित बुद्धि के नीचे
उसी लोकनायक को
बार-बार चुनता रहा
जिसके पास हर शंका और
हर सवाल का
एक ही जवाब था
यानी कि कोट के बटन-होल में
महकता हुआ एक फूल
गुलाब का।
वह हमें विश्वशान्ति और पंचशील के सूत्र
समझाता रहा। मैं खुद को
समझाता रहा- 'जो मैं चाहता हूँ -
वही होगा। होगा- आज नहीं तो कल
मगर, सब कुछ सही होगा।

भीड़ बढ़ती रही।
चौराहे चौड़े होते रहे।
लोग अपने-अपने हिस्से का अनाज
खाकर - निरापद भाव से
बच्चे जनते रहे।
योजनाएँ चलती रहीं
बन्दूकों के कारखानों में
जूते बनते रहे।
और जब कभी मौसम उतार पर
होता था। हमारा संशय
हमें कोंचता था। हम उत्तेजित होकर
पूछते थे -यह क्या है ?

ऐसा क्यों है?
फिर बहसें होती थीं
शब्दों के जंगल में
हम एक-दूसरे को काटते थे
भाषा की खाई को
ज़ुबान से कम और जूतों से
ज्यादा पाटते थे
कभी वह हारता रहा ...
कभी हम जीतते रहे ...
इसी तरह नोक-झोंक चलती रही
दिन बीतते रहे ...

मगर एक दिन मैं स्तब्ध रह गया।
मेरा सारा धीरज
युद्ध की आग से पिघलती हुई बर्फ में
बह गया।
मैंने देखा कि मैदानों में
नदियों की जगह
मरे हुए साँपों की केंचुलें बिछी हैं
पेड़
टूटे हुए रडार की तरह खड़े हैं
दूर दूर तक
कोई मौसम नहीं है
लोग
घरों के भीतर नंगे हो गये हैं
और बाहर मुर्दे पड़े हैं
विधवाएं तमगा लूट रहीं हैं
सधवाएँ मंगल गा रही हैं।
वन-महोत्सव से लौटी हुई कार्यप्रणालियाँ
अकाल का लंगर चला रही हैं
जगह जगह तख्तियाँ लटक रहीं हैं
'यह शमशान है, यहाँ तसवीर लेना
सख्त मना है।'

फिर भी उस उजाड़ में
कहीं-कहीं घास का हरा होना
कितना डरावना है
मैंने अचरज से देखा कि दुनिया का
सबसे बड़ा बौद्ध-मठ
बारूद का सबसे बड़ा गोदाम है
अखबार के भटमैले हाशिये पर
लेटे हुए, एक तटस्थ और कोढ़ी देवता का
शान्तिवाद, नाम है
यह मेरा देश है...
यह मेरा देश है...
हिमालय से लेकर हिन्द महासागर तक
फैला हुआ
जली हुई मिट्टी का ढेर है
जहाँ हर तीसरी ज़ुबान का मतलब -
नफ़रत है।
साज़िश है।
अन्धेर है।
यह मेरा देश है
और यह मेरे देश की जनता है
जनता क्या है ?
एक शब्द...सिर्फ़ एक शब्द
कुहरा और कीचड़ और काँच से
बना हुआ...
एक भेड़ है
जो दूसरों की ठण्ड के लिए
अपनी पीठ पर
ऊन की फसल ढो रही है।
एक पेड़ है
जो ढलान पर
हर आती-जाती हवा की ज़ुबान में
हाँऽऽ... हाँऽऽ करता है
क्योंकि अपनी हरियाली से
डरता है।

गाँवों के गन्दे पनालों से लेकर
शहर के शिवालों तक फैली हुई
'कथाकलि' की एक अमूर्त मुद्रा है
यह जनता...
जनतन्त्र में
उसकी श्रद्धा
अटूट है
उसको समझा दिया गया है कि यहाँ
ऐसा जनतन्त्र है जिसमें
ज़िन्दा रहने के लिए
घोड़े और घास को
एक-जैसी छूट है
कैसी विडम्बना है
कैसा झूठ है
दरअस्ल, अपने यहाँ जनतन्त्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है।

हर तरफ धुआँ है
हर तरफ कुहासा है
जो दाँतों और दलदलों का दलाल है
वही देशभक्त है
अन्धकार में सुरक्षित होने का नाम है -
तटस्थता। यहाँ
कायरता के चेहरे पर
सबसे ज़्यादा रक्त है।
जिसके पास थाली है
हर भूखा आदमी
उसके लिए, सबसे भद्दी
गाली है

हर तरफ कुआँ है
हर तरफ खाई है

यहां, सिर्फ़, वह आदमी, देश के करीब है
जो या तो मूर्ख है
या फिर गरीब है

मैं सोचता रहा,
और घूमता रहा -
टूटे हुए पुलों के नीचे
वीसन सड़कों पर / आँखों के
अन्धे रेगिस्तानों में
फटे हुए पालों की
अधूरी जल-यात्राओं मे
टूटी हुई चीज़ों के ढेर में
मैं खोयी हुई आज़ादी का अर्थ
ढूँढ़ता रहा।
अपनी पसलियों के नीचे / अस्पतालों के
बिस्तरों पर / नुमाइशों में
बाज़ारों में / गाँवों में
जंगलों में / पहाड़ों पर
देश के इस छोर से उस छोर तक
उसी लोक-चेतना को
बार-बार टेरता रहा
जो मुझे दोबारा जी सके
जो मुझे शान्ति दे और
मेरे भीतर-बाहर का जहर
खुद जी सके।
और तभी सुलग उठा पश्चिमी सीमान्त
...ध्वस्त ...ध्वस्त ...ध्वान्त ...ध्वान्त
मैं दोबारा चौंककर खड़ा हो गया
जो चेहरा आत्महीनता की स्वीकृति में
कन्धे पर लुढ़क रहा था,
किसी झनझनाते हुए चाकू की तरह
खुलकर कड़ा हो गया...
अचानक, अपने आपमें जिन्दा होने की
यह घटना

इस देश की परम्परा की -
एक बेमिसाल कड़ी थी
लेकिन इसे साहस मत कहो।
दरअस्ल, यह पुट्ठों तक चोट खायी हुई
गाय की घृणा थी
(ज़िन्दा रहने की पुरज़ोर कोशिश)
जो उस आदमखोर की हविस से
बड़ी थी।

मगर उसके तुरन्त बाद
मुझे झेलनी पड़ी थी(सबसे बड़ी ट्रैजेडी
अपने इतिहास की
जब दुनिया के स्याह और सफेद चेहरों ने
विस्मय से देखा कि ताशकन्द में
समझौते की सफेद चादर के नीचे
एक शान्ति-यात्री की लाश थी
और अब यह किसी पौराणिक कथा के
उपसंहार की तरह है कि इस देश में
रोशनी उन पहाड़ों से आयी थी
जहाँ मेरे पड़ोसी ने मात
खायी थी।
मगर फिर मैं वहीं चला गया
अपने जनून के अँधेरे में
फूहड़ इरादों के हाथों
छला गया।
वहाँ बंजर मैदान
कंकालों की नुमाइश कर रहे थे
गोदाम अनाज से भरे पड़े थे और लोग
भूखों मर रहे थे
मैंने महसूस किया कि मैं वक्त के
एक शर्मनाक दौर से गुज़र रहा हूँ
अब ऐसा वक्त आ गया है जब कोई
किसी का झुलसा हुआ चेहरा नहीं देखता है
अब न तो कोई किसी का खाली पेट

देखता है, न थरथराती हुई टाँगें
और न ढला हुआ 'सूर्यहीन कन्धा' देखता है
हर आदमी, सिर्फ़, अपना धन्धा देखता है
सबने भाईचारा भुला दिया है
आत्मा की सरलता को मारकर
मतलब के अँधेरे में (एक राष्ट्रीय मुहावरे की बगल में)
सुला दिया है।
सहानुभूति और प्यार
अब ऐसा छलावा है जिसके जरिये
एक आदमी दूसरे को, अकेले -
अँधेरे में ले जाता है और
उसकी पीठ में छुरा भोंक देता है
ठीक उस मोची की तरह जो चौक से
गुज़रते हुए देहाती को
प्यार से बुलाता है और मरम्मत के नाम पर
रबर के तल्ले में
लोहे की तीन दर्जन फुल्लियाँ
ठोंक देता है और उसके नहीं-नहीं के बावजूद
डपटकर पैसा वसूलता है
गरज़ यह कि अपराध
अपने यहाँ एक ऐसा सदाबहार फूल है
जो आत्मीयता की खाद पर
लाल-भड़क फूलता है
मैंने देखा कि इस जनतांत्रिक जंगल में
हर तरफ हत्याओं के नीचे से निकलते हैं
हरे-हरे हाथ, और पेड़ों पर
पत्तों की जुबान बनकर लटक जाते हैं
वे ऐसी भाषा बोलते हैं जिसे सुनकर
नागरिकता की गोधूलि में
घर लौटते हुए मुसाफिर
अपना रास्ता भटक जाते हैं

उन्होने किसी चीज को
सही जगह नहीं रहने दिया है

न विशेषण
न सर्वनाम
एक समूचा और सही वाक्य
टूटकर
'बि ख र' गया है
उनका व्याकरण इस देश की
शिराओं मे छिपे हुए कारकों का
हत्यारा है
उनकी सख्त पकड़ के नीचे
भूख से मरा हुआ आदमी
इस मौसम का
सबसे दिलचस्प विज्ञापन है और गाय
सबसे सटीक नारा है
वे खेतों में भूख और शहरों में
अफवाहों के पुलिन्दे फेंकते हैं
देश और धर्म और नैतिकता की
दुहाई देकर
कुछ लोगों की सुविधा
दूसरों की 'हाय' पर सेंकते हैं
वे जिसकी पीठ ठोंकते हैं -
उसके रीढ़ की हड्डी गायब हो जाती है
वे मुस्कराते हैं और
दूसरे की आँख में झपटती हुई प्रतिहिंसा
करवट बदलकर
सो जाती है
मैं देखता रहा...
देखता रहा...
हर तरफ ऊब थी
संशय था
नफरत थी
मगर हर आदमी अपनी ज़रूरतो के आगे
असहाय था। उसमें
सारी चीज़ों को नये सिरे से बदलने की

बेचैनी थी, रोष था,
लेकिन उसका गुस्सा
एक तथ्यहीन मिश्रण था
आग और आँसू और हाथ का।

इस तरह एक दिन -
जब मैं घूमते-घूमते थक चुका था
मेरे खून में एक काली आँधी -
दौड़ लगा रही थी
मेरी असफलताओं में सोये हुए
वहशी इरादों को
झकझोरकर जगा रही थी।
अचानक, नींद की असंख्य पर्तों में
डूबते हुए मैंने देखा
कि मेरी उलझनों के अंधेरे में
एक हम-शकल खडा है
मैंने उससे पूछा - 'तुम कौन हो' ?
यहाँ क्यों आये हो ?
तुम्हें क्या हुआ है?
तुमने पहचाना नहीं - मैं हिन्दुस्तान हूँ
हाँ - मैं हिन्दुस्तान हूँ,
वह हँसता है - ऐसी हँसी कि दिल
दहल जाता है
कलेजा मुँह को आता है
और मैं हैरान हूँ
'यहाँ आओ
मेरे पास आओ
मुझे छुओ।
मुझे जियो। मेरे साथ चलो
मेरा यकीन करो। इस दलदल से
बाहर निकल के
सुनो !
तुम चाहे जिसे चुनो
मगर इसे नहीं। इसे बदलो।

मुझे लगा- आवाज
जैसे किसी जलते हुए कुएँ से
आ रही है।
एक अजीब-सी प्यारभरी गुर्राहट
जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है
मेरा सारा जिस्म थरथरा रहा था
उसकी आवाज़ में
असंख्य नरकों की घृणा भरी थी
वह एक-एक शब्द चबा-चबाकर
बोल रहा था। मगर उसकी आँख
गुस्से में भी हरी थी
वह कह रहा था -
'तुम्हारी आँखों के चकनाचूर आईनों में
वक्त की बदरंग छायाएँ उलटी कर रही हैं
और तुम पेड़ों की छाल गिनकर
भविष्य का कार्यक्रम तैयार कर रहे हो
तुम एक ऐसी ज़िन्दगी से गुज़र रहे हो
जिसमें न कोई तुक है
न सुख है
तुम अपनी शापित परछाई से टकराकर
रास्ते में रुक गये हो
तुम जो हर चीज़
अपने दाँतों के नीचे
खाने के आदी हो
चाहे वह सपना हो अथवा आज़ादी हो
अचानक, इस तरह, क्यों चूक गये हो
वह क्या है जिसने तुम्हें
बर्बरों के सामने अदब से
रहना सिखलाया है ?
क्या यह विश्वास की कमी है
जो तुम्हारी भलमनसाहत बन गयी है
या कि शर्म

अब तुम्हारी सहूलियत बन गयी है
नहीं - सरलता की तरह इस तरह
मत दौड़ो
उसमें भूख और मन्दिर की रोशनी का
रिश्ता है। वह बनिये की पूँजी का
आधार है
मैं बार-बार कहता हूँ कि इस उलझी हुई
दुनिया में
आसानी से समझ में आनेवाली चीज़
सिर्फ़ दीवार है।
और यह दीवार अब तुम्हारी आदत का
हिस्सा बन गयी है
इसे झटककर अलग करो
अपनी आदतों में
फूलों की जगह पत्थर भरो
मासूमियत के हर तकाजे को
ठोकर मार दो
अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार दो।
'सुनो !
आज मैं तुम्हें वह सत्य बतलाता हूँ
जिसके आगे हर सचाई
छोटी है। इस दुनिया में
भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क
रोटी है।
मगर तुम्हारी भूख और भाषा में
यदि सही दूरी नहीं है
तो तुम अपने-आपको आदमी मत कहो
क्योंकि पशुता -
सिर्फ पूँछ होने की मज़बूरी नहीं है
वह आदमी को भी वहीं ले जाती है
जहाँ भूख
सबसे पहले भाषा को खाती है
वक्त सिर्फ़ उसका चेहरा बिगाड़ता है

जो अपने चेहरे की राख
दूसरों की रूमाल से झाड़ता है
जो अपना हाथ
मैला होने से डरता है
वह एक नहीं ग्यारह कायरों की
मौत मरता है।
और सुनो ! नफरत और रोशनी
सिर्फ उसके हिस्से की चीज है
जिसे जंगल के हाशिये पर
जीने की तमीज है
इसलिए उठो और अपने भीतर
सोये हुए जंगल को
आवाज दो
उसे जगाओं और देखो -
कि तुम अकेले नहीं हो
और न किसी के मुहताज हो
लाखों हैं जो तुम्हारे इन्तजार में खड़े हैं
वहाँ चलो। उनका साथ दो
और इस तिलस्म का जादू उतारने में
उनकी मदद करो और साबित करो
कि वे सारी चीजें अन्धी हो गयी हैं
जिनमें तुम शरीक नहीं हो ...

मैं पूरी तत्परता से उसे सुन रहा था
एक के बाद दूसरा
दूसरे के बाद तीसरा
तीसरे के बाद चौथा
चौथे के बाद पाँचवाँ ...
यानी कि एक के बाद दूसरा विकल्प
चुन रहा था
मगर मैं हिचक रहा था
क्योंकि मेरे पास
कुल जमा थोड़ी सुविधाएँ थीं।
जो मेरी सीमाएँ थी।

यद्यपि यह सही है कि मैं
कोई ठण्डा आदमी नहीं हूँ
मुझमें भी आग है -
मगर वह
भभककर बाहर नहीं आती
क्योंकि उसके चारों तरफ चक्कर काटता हुआ
एक 'पूँजीवादी' दिमाग है
जो परिवर्तन तो चाहता है
मगर आहिस्ता-आहिस्ता
कुछ इस तरह की चीज़ों की शालीनता
बनी रहे।
कुछ इस तरह की काँख भी ढकी रहे
और विरोध में उठे हुए हाथ की
मुट्ठी भी तनी रहे...
और यही वजह है कि बात
फैलने की हद तक
आते-आते रुक जाती है
क्योंकि हर बार
चन्द टुच्ची सुविधाओं के लालच के सामने
अभियोग की भाषा चुक जाती है

मैं ख़ुद को कुरेद रहा था
अपने बहाने उन तमाम लोगों की असफलताओं को
सोच रहा था जो मेरे नज़दीक थे।
इस तरह साबुत और सीधे विचारों पर
जमी हुई काई और उगी हुई घास को
खरोंच रहा था, नोंच रहा था
पूरे समाज की सीवन उधेड़ते हुए
मैंने आदमी के भीतर की मैल
देख ली थी। मेरा सिर
भिन्ना रहा था
मेरा हृदय भारी था
मेरा शरीर इस बुरी तरह थका था कि मैं
अपनी तरफ घूरते हुए उस चेहरे से

थोड़ी देर के लिए
बचना चाह रहा था
जो अपनी पैनी आँखों से
मेरी बेबसी और मेरा उथलापन
थाह रहा था
प्रस्तावित भीड़ में
शरीक भीड़ में
शरीक होने के लिए
अभी मैंने कोई निर्णय नहीं लिया था
अचानक, उसने मेरा हाथ पकड़कर
खींच लिया और मैं
जेब में जूतों का टोकन और दिमाग में
ताज़े अखबार की कतरन लिये हुए
धड़ाम से -
चौथे आम चुनाव की सीढ़ियों से फिसलकर
गत-पेटियों के

गड़गच्च अंधेरे में गिर पड़ा
नींद के भीतर यह दूसरी नींद है।
और मुझे कुछ नहीं सूझ रहा है
सिर्फ एक शोर है
जिसमें कानों के पर्दे फटे जा रहे हैं
शासन सुरक्षा रोज़गार शिक्षा ...
राष्ट्रधर्म देशहित हिंसा अहिंसा ...
सैन्यशक्ति देशभक्ति आज़ादी वीसा ...
वाद बिरादरी भूख भीख भाषा ...
शान्ति क्रान्ति शीतयुद्ध एटम बम सीमा
एकता सीढ़ियाँ साहित्यिक पीढ़ियाँ निराशा ...
झाँय-झाँय, खाँय-खाँय, हाय-हा, साँय-साँय
मैंने कानों में ठूँस ली हैं अंगुलियाँ
और अंधेरे में गाड़ ही है।
आँखों की रोशनी ।
सब कुछ अब धीरे-धीरे खुलने लगा है
मत-वर्षा के इस दादुर शोर में
मैंने देखा हर तरफ

रंग-बिरंगे झण्डे फहरा रहे हैं
गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए
गुट से गुट टकरा रहे हैं
वे एक-दूसरे से दाँता-किलकिल कर रहे हैं
एक-दूसरे को दुर-दुर बिल-बिल कर रहे हैं
हर तरफ तरह-तरह के जन्तु हैं
श्रीमान् किन्तु हैं
मिस्टर परन्तु हैं
कुछ रोगी हैं
कुछ भोगी हैं
कुछ हिंजड़े हैं
कछ जोगी हैं
तिजोरियों के
प्रशिक्षित दलाल हैं
आँखों के अन्धे हैं
घर के कंगाल हैं
गूँगे हैं
बहरे हैं
उथले हैं, गहरे हैं

गिरते हुए लोग हैं
अकड़ते हुए लोग हैं
भागते हुए लोग हैं
पकड़ते हुए लोग हैं
गरज़ यह कि हर तरह के लोग हैं
एक-दूसरे से नफ़रत करते हए वे
इस बात पर सहमत हैं कि इस देश में
असंख्य रोग हैं
और उनका एकमात्र इलाज
चुनाव है!
लेकिन मुझे लगा कि एक विशाल दलदल के किनारे
बहुत बड़ा अधमरा पशु पड़ा हुआ है
उसकी नाभि में एक सड़ा हुआ घाव है
जिससे लगातार-भयानक बदबूदार मवाद

वह रहा हैं
उसमें जाति और धर्म और सम्प्रदाय और
पेशा और पूँजी के असंख्य कीड़े
किलबिला रहे हैं और अन्धकार में
डूबी हुई पृथ्वी
(पता नहीं किस अनहोनी की प्रतीक्षा में)
इस भीषण सड़ाँध को चुपचाप सह रही है
मगर आपस में नफ़रत करते हुए वे लोग
इस बात पर सहमत हैं कि
'चुनाव' ही सही इलाज है
क्योंकि बुरे और बुरे के बीच से
किसी हद तक 'कम से कम बुरे को' चुनते हुए
न उन्हें मलाल है, न भय है
न लाज है
दरअस्ल, उन्हें एक मौका मिला है
और इसी बहाने
वे अपने पड़ोसी को पराजित कर रहे हैं
मैंने देखा कि हर तरफ
मूढ़ता की हरी-हरी घास लहरा रही हैं
जिसे कुछ जंगली पशु

खूँद रहे हैं
लीद रहे हैं
चर रहे हैं
मैंने ऊब और गुस्से को
गलत मुहरों के नीचे से गुज़रते हुए देखा
मैंने अहिंसा को
एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा
मैंने ईमानदारी को अपनी चोर जेबें
भरते हुए देखा
मैंने विवेक को
चापलूसों के तलवे चाटते हुए देखा...
मैं यह सब देख ही रहा था कि एक नया रेला आया
उन्मत लोगों का वबर्र जुलूस। वे किसी आदमी

को हाथों पर गठरी की तरह उछाल रहे थे
उसे एक-दूसरे से छीन रहे थे। उसे घसीट रहे थे।
चूम रहे थे। पीट रहे थे। गालियाँ दे रहे थे।
गले से लगा रहे थे। उसकी प्रशंसा के गीत
गा रहे थे। उसपर अनगिनत झण्डे फहरा रहे थे।
उसकी जीभ बाहर लटक रही थी। उसकी आँखें बन्द
थीं। उसका चेहरा खून और आँसू से तर था। 'मूर्खो !
यह क्या कर रहे हो ?' मैं चिल्लाया। और तभी किसी
ने उसे मेरी ओर उछाल दिया। अरे ! यह कैसे हुआ ?
मैं हतप्रभ-सा खड़ा था
और मेरा हमशक्ल
मेरे पैरों के पास
मूर्च्छित-सा
पड़ा था -

दुख और भय से एक झुरझुरी लेकर
मैं उस पर झुक गया
किन्तु बीच ही में रुक गया
उसका हाथ ऊपर उठा था
खून और आँसू से तर चेहरा
मुस्कराया था। उसकी आँखों का हरापन
उसकी आवाज़ में उतर आया था -
'दुखी मत हो। यही मेरी नियति है।
मैं हिन्दुस्तान हूँ। जब भी मैंने
उन्हें उजाले से जोड़ा है
उन्होंने मुझे इसी तरह अपमानित किया है
इसी तरह तोड़ा है
मगर समय गवाह है
कि मेरी बेचैनी के आगे भी राह है।'

मैंने सुना। वह आहिस्ता-आहिस्ता कह रहा है
जैसे किसी जले हुए जंगल में
पानी का एक ठण्डा सोता बह रहा है
घास की ताज़गी-भरी
ऐसी आवाज़ है

जो न किसी से खुश है, न नाराज हैं।
'भूख ने उन्हें जानवर कर दिया है।
संशय ने उन्हें आग्रहों से भर दिया है
फिर भी ये अपने हैं ...
अपने हैं ...
अपने हैं ...
जीवित भविष्य के सुन्दरतम सपने हैं
नहीं - यह मेरे लिए दुखी होने का समय
नहीं है। अपने लोगों की घृणा के
इस महोत्सव में
मैं शापित निश्चय हूँ
मुझे किसी से भय नहीं है।
'तुम मेरी चिन्ता न करो। उनके साथ
चलो। इससे पहले कि वे
गलत हाथों के हथियार हो
इससे पहले कि वे नारों और इश्तिहारों से
काले बाजार हो
उनसे मिलो। उन्हें बदलो।
नहीं - भीड़ के खिलाफ रूकना
एक खूनी विचार है
क्योंकि हर ठहरा हुआ आदमी
इस हिंसक भीड़ का
अन्धा शिकार है।
तुम मेरी चिन्ता मत करो।
मैं हर वक्त सिर्फ एक चेहरा नहीं हूँ
जहाँ वर्तमान
अपने शिकारी कुत्ते उतारता है।
अक्सर मैं मिट्टी को हरकत करता हुआ
वह टुकड़ा हूँ
जो आदमी की शिराओं में
बहते हुए खून को
उसके सही नाम से पुकारता है
इसलिए मैं कहता हूँ जाओं और
देखों कि वे लोग...

मैं कुछ कहना ही चाहता था कि एक धक्के ने
मुझे दूर फेंक दिया । इससे पहले कि मैं गिरता
किन्हीं मजबूत हाथों ने मुझे टेक लिया ।
अचानक भीड़ से निकल कर एक प्रशिक्षित दलाल
मेरी देह में समा गया । दूसरा मेरे हाथों में
एक पर्ची थमा गया। तीसरे ने मुझे एक मुहर देकर
पर्दे के पीछे ढकेल दिया।
भय और अनिश्चय के दुहरे दबाव में
पता नहीं कब और कैसे और कहाँ -
कितने नामों और चिन्हों और शब्दों को
काटते हुए मैं चीख पड़ा -
हत्यारा ! हत्यारा !! हत्यारा !!!

[मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है। मैंने यह
किसको कहा था। शायद अपने-आपको
शायद उस हमशक्ल को (जिसने खुद को
हिन्दुस्तान कहा था) शायद उस दलाल को
मगर मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है]
मेरी नींद टूट चुकी थी
मेरा पूरा जिस्म पसीने में
सराबोर था। मेरे आसपास से
तरह-तरह के लोग गुज़र रहे थे।
हर तरफ हलचल थी, शोर था।
कुछ लोग कह रहे थे कि इन दिनों
एक खास परिवर्तन हुआ है
जनता जगी है। सब
प्रभु की माया है
एक लम्बे इन्तज़ार के बाद
चीज़ों का असली चेहरा
उजाले में आया है
और मैं चुपचाप सुनता हूँ
हाँ शायद -
मैंने भी अपने भीतर
(कहीं बहुत गहरे)

'कुछ जलता हुआ-सा' छुआ है
लेकिन मैं जानता हूँ कि जो कुछ हुआ है
नींद में हुआ है
और तब से आज तक
नींद और नींद के बीच का जंगल काटते हुए
मैंने कई रातें जागकर गुज़ार दी हैं
हफ़्तों पर हफ़्ते तह किये हैं
अपनी परेशानी के
निर्मम अकेले और बेहद अनमने क्षण
जिये हैं।
और हर बार मुझे लगा है कि कहीं
कोई खास फ़र्क़ नहीं है
ज़िन्दगी उसी पुराने ढर्रे पर चल रही है
जिसके पीछे कोई तर्क नहीं है।

हाँ, यह सही है कि इन दिनों
कुछ अर्ज़ियाँ मंज़ूर हुई हैं
कुछ तबादले हुए हैं
कल तक जो नहले थे
आज
दहले हुए हैं

हाँ, यह सही कि इन दिनों
मन्त्री जब प्रजा के सामने आता है
तो पहले से
कुछ ज़्यादा मुस्कराता है
नये-नये वादे करता है
और यह सब सिर्फ़ घास के
सामने होने की मजबूरी है
वर्ना उस भलेमानुस को
यह भी पता नहीं है कि विधानसभा भवन
और अपने निजी बिस्तर के बीच
कितने जूतों की दूरी है।

हाँ यह सही है कि इन दिनों - चीज़ों के
भाव कुछ चढ़ गये हैं। अखबारों के

शीर्षक दिलचस्प है, नये हैं।
मन्दी की मार से
पट पड़ी हुई चीज़ें, बाजार में
सहसा उछल गयी हैं
हाँ यह सही है कि कुर्सियाँ वही हैं
सिर्फ़, टोपियाँ बदल गयी हैं और -
सच्चे मतभेद के अभाव में
लोग उछल-उछलकर
अपनी जगहें बदल रहे हैं
चढ़ी हुई नदी में
भरी हुई नाव में
हर तरफ, विरोधी विचारों का
दलदल है
सतहों पर हलचल है
नये-नये नारे हैं
भाषण में जोश है
पानी ही पानी है
पर
की
च
ड़
खामोश है

मैं रोज देखता हूँ कि व्यवस्था की मशीन का
एक पुर्जा गरम होकर
अलग छिटक गया है और
ठण्डा होते ही
फिर कुर्सी से चिपक गया है
उसमें न हया है
न दया है

नहीं - अपना कोई हमदर्द
यहाँ नहीं है। मैंने एक-एक को
परख लिया है।
मैंने हरेक को आवाज दी है।

हरेक का दरवाज़ा खटखटाया है
मगर बेकार...मैंने जिसकी पूँछ
उठायी है उसको मादा
पाया है।
वे सब के सब तिजोरियों के
दुभाषिये हैं।
वे वकील हैं। वैज्ञानिक हैं।
अध्यापक हैं। नेता हैं। दार्शनिक
हैं। लेखक हैं। कवि हैं। कलाकार हैं।
यानी कि -
कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।

भूख और भूख की आड़ में
चबायी गयी चीजों का अक्स
उनके दाँतों पर ढूँढ़ना
बेकार है। समाजवाद
उनकी जुबान पर अपनी सुरक्षा का
एक आधुनिक मुहावरा है।
मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिस पर 'आग' लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है।

यहाँ जनता एक गाड़ी है

एक ही संविधान के नीचे
भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम
'दया' है
और भूख में
तनी हुई मुट्ठी का नाम
नक्सलबाड़ी है

मुझसे कहा गया कि संसद
देश की धड़कन को
प्रतिबिम्बित करनेवाला दर्पण है
जनता को

जनता के विचारों का
नैतिक समर्पण है
लेकिन क्या यह सच है ?
या यह सच है कि
अपने यहाँ संसद -
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है
और यदि यह सच नहीं है
तो वहाँ एक ईमानदार आदमी को
अपनी ईमानदारी का

मलाल क्यों है ?
जिसने सत्य कह दिया है
उसका बुरा हाल क्यों है ?

मैं अक्सर अपने-आपसे सवाल
करता हूँ जिसका मेरे पास
कोई उत्तर नहीं है
और आज तक
नींद और नींद के बीच का जंगल काटते हुए
मैंने कई रातें जागकर
गुजार दी हैं
हफ्तों पर हफ्ते तह किये हैं। ऊब के
निमर्म अकेले और अनमने क्षण
जिये हैं।
मेरे सामने वही चिरपरिचित अन्धकार है
संशय की अनिश्चयग्रस्त ठण्डी मुद्राएँ हैं
हर तरफ
शब्दवेधी सन्नाटा है।
दरिद्र की व्यथा की तरह
उचाट और कूँथता हुआ घृणा में
डूबा हुआ सारा का सारा देश
पहले की ही तरह आज भी
मेरा कारगार है।

रोटी और संसद

एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है।
वह सिर्फ़ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ -
'यह तीसरा आदमी कौन है ?'
मेरे देश की संसद मौन है।

कविताओं के बारे में

साठोत्तरी हिन्दी कविता के प्रतिनिधि कवि धूमिल की आठ कविताएँ पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं। ये कविताएँ निम्नलिखित हैं - 'नक्सलबाड़ी', 'मोचीराम', 'राज कमल चौधरी', 'कविता', 'अकाल दर्शन', 'पटकथा', 'रोटी और संसद' तथा 'मुनासिब कार्रवाई'। इन कविताओं में से अधिकांश कविताएँ कवि की प्रसिद्ध तथा प्रथम काव्यकृति 'संसद से सड़क तक' से ली गई हैं। 'संसद से सड़क तक' काव्य कृति में 1966 से 1970 तक की कवि की कविताएँ संकलित हैं। यह काल धूमिल के रचनात्मक जीवन का श्रेष्ठ काल था।

'मुनासिब कार्रवाई' कविता में कवि जीवन के संदर्भों से स्वायत्त होती रचना के प्रति आक्रोश प्रकट करता है। वस्तुतः कला जीवन के द्वारा विकसित होती है। जीवन का एक सामाजिक संदर्भ भी होता है। इससे अलग कविता की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती है। जीवन से अलग होने पर कविता में शब्दों का आडंबर मात्र रह जाता है। कविता में जीवन की प्रामाणिक अनुभूति अपनी अभिव्यंजना के लिए नए मार्गों की तलाश कर लेती है। कविता व्यवस्था के प्रतिरोध में खड़ी होती है। व्यवस्था के शोषणतंत्र को पहचानने पर ही कविता में वास्तविक अनुभूति को प्रकट किया जा सकता है। वस्तुतः कविता को मानवीय बनाने के लिए उन शोषणकारी तंत्रों से लड़ने की भी ज़रूरत है। पूँजीवादी समाज की प्राथमिक कोशिश यह है कि व्यक्ति को अकेला किया जाए। मनुष्य के अकेले होने पर उसमें प्रतिरोध की क्षमता घटती है।

'नक्सलवाड़ी' कविता में कवि एक नये प्रजातंत्र को रचने का प्रयत्न करता है। समकालीन समय में प्रजातंत्र के नाम पर जनता को मूर्ख बनाया जाता है। इसी के खिलाफ नक्सलवादी आंदोलन उभरा था। नक्सलवाद की जंग भूख और बेरोजगारी के विरुद्ध थी। नक्सलवाद वामपंथी विचारधारा से उपजा हुआ आंदोलन था, परन्तु वह दलगत राजनीति के प्रतिरोध में अपना स्वर अभिव्यक्त कर रहा था। वस्तुतः विपक्ष और सत्तापक्ष दोनों शासन के हथियार बन गए थे। संसद में जनता का पक्षधर कोई नहीं बच रहा था। सुविधा और उपभोग राजनीति का सच बन गया था। स्वतंत्रता के समय में देशप्रेम के लिए अब जगह नहीं थी। सड़क जो मानवीय आवेश को सामूहिक स्वर देती थी, अब वह समझौते का प्रतीक बन गयी थी। राजनेता अपने शब्दों में भाईचारा और ईमानदारी के प्रति विश्वास प्रकट करते लेकिन अंदर ही अंदर वास्तविकता से लड़ने वाली मानवीय शक्तियों को तोड़ने का प्रयत्न करते। नक्सलवाद के प्रति कवि की गहरी सहानुभूति है।

'मोचीराम' कविता में कवि की सहानुभूति शोषितों और दलितों के प्रति है। वस्तुतः समाज में मनुष्य की पहचान उसके पद, प्रतिष्ठा और पेशे से होती है। ऐसी सामाजिक संरचना में मनुष्य की मौलिकता नष्ट होती है। ऐसे समाज में मनुष्य पर टाँके पड़ते रहते हैं। जूते

आडंबर के प्रतीक बन जाते हैं जो मनुष्य को ऊपर से पहचाननें में मदद करते हैं। मोधीराम में आत्मपीड़ा है। यह पीड़ा उसकी अपनी सामाजिक दशा से उपजी है। मनुष्य होने के पीछे जो सामान्य मानवीय मनोभाव हैं उसे छोड़कर हम मानव नहीं हो सकते हैं। वस्तुतः भाषा शब्द और अनुभव हर मनुष्य में होते हैं। उनसे सीखने की प्रक्रिया हर मनुष्य में अलग-अलग तरह की होती है। कवि चुप और चीख के पीछे की मजबूरियों को प्रस्तावित करता है।

राजकमल चौधरी धूमिल के समकालिक कवि थे। एक कवि अपने समकालीनों को किन नज़रों से देखता है, इस कविता में इस बिंदु को गहराई से देखा जा सकता है। वस्तुतः राजकमल चौधरी जीवन के सत्य को पाने के लिए उन रास्तों पर भी चले जिसे सभ्य समाज में वर्जित माना जाता है। राजकमल में मानवीय मनोभाव के आदिम रूप को समझने की बेचैनी थी। इस पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए वे लगातार समाज से जूझते रहे। उनके यहाँ ज़िंदगी और कविता के बीच अंतराल नहीं है। वे जीवन की नंगी वास्तविकताओं से मुँह नहीं मोड़ते हैं। इससे उनकी कविता में आत्मविश्वास की गहरी संभावना जगती है। धूमिल राजकमल की इस मौलिकता के प्रति आकर्षित हैं। वस्तुतः दुनिया के व्याकरण में राजकमल फिट नहीं होते थे। लेकिन उनकी कविता समृद्ध मानवीय अनुभवों की साक्षी है। धूमिल राजकमल की सामाजिक नैतिकता से परे उनमें छिपी अखंड और आदिम मानवीयता की शक्ल को उभारने का प्रयत्न करते हैं।

'कविता' धूमिल की बहुत ही छोटी कविता है। इस कविता में कवि संवेदना और अभिव्यंजना के संकटों की पहचान करता है। शब्दों की खोती हुई ताकत के कारण कविता रचने का कार्य कठिन होता जा रहा है। भाषा और मनोभाव की जिस पवित्र आत्मीयता से कविता रची जाती है, वे संबंध सूत्र जीवन से लगातार टूट रहे हैं। भाषा और अर्थ का आपसी संबंध सामाजिक जीवन की आधारशिला पर टिका होता है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति अकेला होता जा रहा है, इसलिए कविता भी संक्षिप्त एकालाप बनकर रह गई है। उसमें बौखलाए हुए आदमी का आक्रोश है लेकिन एक प्रकार की विवशता से वह ग्रस्त है। 'अकाल दर्शन' कविता में कवि प्रजातांत्रिक व्यवस्था के नाम पर चल रहे शोषण का पर्दाफाश करता है। वह भूख के लिए व्यवस्था को जिम्मेदार मानता है। शासन तंत्र की वास्तविकता प्रत्यक्ष रूप में पकड़ में नहीं आती है। नये-नये नारे गढ़ कर शासन को बरकरार रखने का प्रयत्न होता रहा है। कविता के अंत में कवि जिस मार्मिक प्रश्न को रखता है उससे शोषक और शोषित के बीच का अंतर स्पष्ट हो जाता है। 'रोटी और संसद' कविता में देश की राजनीतिक व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है। राजनीतिक व्यवस्था जनता की रोटी से खेलती है। रोटी जीने की प्राथमिक ज़रूरत है। गंदी राजनीति जनता की इस मूलभूत ज़रूरत को भी नजरंदाज करती है।

'पटकथा ' कविता आत्मपरक ढंग से शुरू होती है। कविता का ढाँचा राजनीतिक है। कविता का आरंभ आजादी के मोह और आकर्षण से शुरू होता है। आजादी से पैदा होने वाले उत्साह का वर्णन है। भावी जीवन के प्रति एक स्वप्न और उमंग है। जनतंत्र और स्वतंत्रता के प्रति आस्था है। स्वातंत्र्योत्तर से मोहभंग की स्थिति पैदा होती है। चीनी युद्ध ने विश्वशान्ति और पंचशील के सिद्धान्त को निरर्थक साबित कर दिया। इस स्थान पर कविता में नफरत, साजिश और अंधेर के कवि ने बड़ी बारीकी से दिखाया है। कविता में हर तरफ से दिशाहीनता का संकेत मिलता है। शोषण का चक्र चलता है और दलालों की लूट मचती है। कालाबाजारी से जनता तबाह होती है। कवि भारत के जनतंत्र का असली चेहरा पाठक के सामने रखता है। कवि की यह चिंता है कि जनता इन चीज़ों को महसूस करती है, लेकिन उसका प्रतिरोध नहीं करती है। जनता में निरर्थक ऊब और संशय व्याप्त है। कविता में एक फंतासी की परिकल्पना है। हिन्दुस्तान कवि को नींद में मिलता है। हिन्दुस्तान वस्तुस्थिति में परिवर्तन की मांग करता है। वह राष्ट्रीय जीवन में संरचनात्मक बदलाव के लिए लोगों को उत्तेजित करता है। उसके बाद कविता में पुनः लोगों की भीड़ इकट्ठी होती है और राजनीतिक क्रूरता का बयान मिलता है। कविता के अंतिम खंड में नैतिकता के ह्रास की पीड़ा है और यथास्थिति के प्रति विक्षोभ है। कवि अपना तर्क सत्ता परिवर्तन के पक्ष में नहीं व्यवस्था परिवर्तन के पक्ष में रखना पड़ता है।

धूमिल की कविता में भाषा का स्रोत गाँव है। उनकी कविता में एक विशेष प्रकार का भदेसपन है। उन्होंनें वर्जित शब्दों को भी कविता में स्थान दिया है। इन वर्जित शब्दों के माध्यम से वे भाषा के आक्रामक तेवर को अभिव्यक्त करते हैं। उनकी काव्य भाषा में कचहरी और जासूसी उपन्यास की शब्दावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। मुनासिब कार्रवाई कविता में सिनाख्त, खुफिया तनाव और वकील का लबार चोंगा जैसे शब्दों का प्रयोग इस बात का प्रमाण हैं। धूमिल ने नई कविता के दुरूह बिंबों के स्थान पर कविता में अर्थ को अधिक महत्व दिया है। जो बिंब उन्होंने रचे हैं वे सीधे लोकजीवन से आए हैं। उनमें ताजगी और अभिव्यक्ति की सामर्थ्य है। उनकी कविता में गद्यात्मकता है जो चिंतन से उपजी हुई है। इसके साथ साथ तुर्कों का वे सार्थक प्रयोग करते हैं। धूमिल की कविता की शैली में भाषण की वक्तृत्व शैली का गुण मिलता है। 'पटकथा' कविता भाषण की शैली में तनाव और वेग के साथ आगे बढ़ती है।

धूमिल मुख्य रूप से समकालीन राजनीति और समकालीन समाज से अपनी कविता की विषयवस्तु चुनते हैं। कविता में जिस बौखलाहट को उन्होंने अभिव्यक्त किया है उसमें सामान्य भारतीय का अनुभव है। यह सामान्य अनुभव ही उन्हें जनता का कवि बनाता है। नैतिकता के ह्रास ने शब्दों के वजन को हल्का बनाया, इस बात की गहरी पीड़ा उनकी कविता में व्याप्त है। इसका असर काव्य-भाषा पर भी हुआ इसकी विलक्षण पहचान उनकी

कविता में मौजूद है। कविता में भाषा और अभिव्यक्ति के गतिरोध से वे लगातार जूझते हुए आंचलिकता और ग्रामीण संस्कार धूमिल के काव्य में फैशन की तरह प्रयुक्त नहीं हुए हैं। ग्रामीण संस्कार उनकी भाषा बिंब और संवेदना को ताजगी देते है।

व्याख्या

सुनो ! आज मैं तुम्हें वह सत्य ..... जिनमें तुम शरीक नहीं हो .....

धूमिल की कविता में व्यवस्था के प्रति विक्षोभ है। उनकी कविता जनतंत्र, संसद, संविधान और प्रजातंत्र के खोखलेपन को वास्तविक अर्थ में पाठक के सामने उपस्थित करती है। पटकथा धूमिल की लंबी कविता है। इस कविता में कवि देश की राजनीतिक असलियत को आक्रोश के साथ वर्णित करता है। इस कविता में फंतासी का प्रयोग[4]। कवि की नींद में हिन्दुस्तान से भेंट होती है। हिन्दुस्तान जनता में वर्तमान व्यवस्था के प्रति उत्तेजना भरता है। प्रस्तुत प्रसंग पटकथा से उद्धत है।

हिन्दुस्तान कवि से नींद में मिलता है। वह शीर्षक और शोषित के चेहरे को बेनकाब करता है। भूखे आदमी के लिए रोटी सबसे बड़ा सच है। रोटी जीने की मूलभूत जरूरत है। शोषण का चक्र हाशिए में जी रहे लोगों से रोटी छीनना चाहता है। परन्तु रोटी के लिए ईमान बेचना पशुता है। मनुष्य होने की कुछ आवश्यक शर्तें है।अपनी भूख मिटाने के लिए उसे अमानवीय नहीं बनना चाहिए। भूख व्यक्ति का सच है और सामाजिक सच है। भूख और भाषा दो प्रतीक है। भूख पशुता का प्रतीक है। तथा भाषा सांस्कृतिक निष्ठा का प्रतीक है। भूख मनुष्य की पहली जरूरत क्षुधा को शांत करने की होती है। यदि हम भूख को ही केन्द्र में रखते रहे तो पशुता को ही बढ़ावा देंगें।व्यक्तिात चेतना ने मनुष्य को आत्मकेन्द्रित बनाया। आत्मकेन्द्रित मानसिकता में स्वार्थ और लालच की प्रवृत्ति होती है। अधिक से अधिक संग्रह करने की आकांक्षा होती है। हिन्दुस्तान इस पशुता के प्रति चेतावनी देता है। भूख भाषा को खाती है इसका स्पष्ट अर्थ है कि वैयक्तिक अस्मिता सांस्कृतिक अस्मिता को तोड़कर गतिशील होती है। वैयक्तिक चेतना में चतुराई और उपयोग की प्रमुखता होती है। अपने फायदे के लिए दूसरों का उपयोग करना वैयक्तिक चेतना का चरित्र है। वैयक्तिक चेतना में एक प्रकार की निरपेक्षता होती है। यह निरपेक्षता उसे समाज के दुख दर्द के प्रति तटस्थ बनाती है।

नफरत और रोशनी आदिम मानवीय भाव है। जंगल, आदिम और मौलिक प्रवृत्ति का संकेत है। हिन्दुस्तान मनुष्य के इन मूल भावों को जगाने की चेष्टा करता है। मनुष्य के भीतर के मौलिक भाव और आवेग ही समाज में मौलिक परिवर्तन उपस्थित कर सकते है। समाज का अस्तित्व उन्हीं के हाथ में होना चाहिए जिनमें इस तरह के भावावेग हैं।लाखों आदमी इस तरह

से अनुभव करते हैं। वे कुशल नेतृत्व की बाट जोह रहे हैं। कवि यथास्थितिवाद के तिलिस्म को तोड़ने का आग्रह करता है। हिन्दुस्तान जटिल समस्याओं से लड़ने को ललकारता है।

विशेष

1) पूंजीवाद ने समाज में असमानता को बढ़ाया है। कवि इसकी आलोचना करता है।
2) कवि मनुष्य में सांस्कृतिक बोध विकसित करना चाहता है।
3) कवि समाज में परिवर्तन का पक्षधर है।
4) कवि की आस्था सामूहिक मानव के प्रति है।
5) कविता में फंतासी शिल्प और भाषण-शैली का प्रयोग है।
6) कविता में तुकों के प्रयोग से लय की रचना की गई है।
7) कविता में गद्यात्मक भाषा का प्रयोग है। इस गद्यात्मकता में विचारों की लयात्मक अन्विति है।